वेदार्थ-विमर्श

डॉ० रामगोपाल

पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।

वेदार्थ-विमर्श

लेखक

रामगोपाल, एम०ए०, पी-एच० डी०,
कालिदास प्रोफ़ैसर ऑफ संस्कृत
तथा
अध्यक्ष, कालिदास चेअर विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

1985

पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

विषय-सूची

भूमिका

हमारे पूर्ववर्ती ग्रन्थ "The History and Principles of Vedic Interpretation" में वेद-व्याख्यान के जिन सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है उन्हीं के अनुसार इस ग्रन्थ में ऋग्वेद के बीस प्रसिद्ध सूक्तों के अर्थों का विवेचन किया गया है। इस विषय पर हमने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ "वैदिक-व्याख्या-विवेचन" की भूमिका में भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है। अतएव इस ग्रन्थ की भूमिका में उन सब विचारों की पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इस विषय के जिज्ञासु पाठक हमारे उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों से आवश्यक सहायता ले सकते हैं।

इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। इस ग्रन्थ में व्याख्यात सभी बीसों सूक्तों की प्रत्येक ऋचा का संहितापाठ तथा पदपाठ सस्वर दिया गया है। वैदिक छन्द के मौलिक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए ऋचाओं के प्रत्येक पाद को एक पृथक् पंक्ति में रखा गया है और उसके सम्मुख उसका पदपाठ दिया गया है ताकि पाठक को प्रत्येक पद का स्वरूप समझने में सुविधा हो। प्रत्येक पाद को एक पृथक् पंक्ति में रखने से ऋचाओं के अर्थ को समझने में भी सुविधा रहती है, क्योंकि अधिकतर ऋचाओं का प्रत्येक पाद अर्थ की दृष्टि से एक पृथक् इकाई है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य उल्लेखनीय है कि प्रातिशाख्य, पाणिनि तथा आधुनिक विद्वान् भी वैदिक छन्द के प्रत्येक पाद को, स्वर तथा सन्धि की दृष्टि से, एक महत्त्वपूर्ण इकाई स्वीकार करते हैं।

प्रत्येक ऋचा के नीचे उसका अनुवाद दिया गया है और अनुवाद में हिन्दी शब्दों के सामने प्रकोष्ठ में महत्त्वपूर्ण तथा कठिन वैदिक शब्द दिये गये हैं। मन्त्रों के दुरूह भाव को स्पष्ट करने के लिए आवश्यकतानुसार अनूदित शब्दों के सामने उनका भावार्थ भी जोड़ दिया गया है। मन्त्र के अनुवाद के नीचे उसमें प्रयुक्त कठिन तथा महत्त्वपूर्ण वैदिक पदों पर विस्तृत टिप्पणियाँ प्रस्तुत की गई हैं। टि० में सर्वप्रथम कठिन वैदिक पद की व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जिसके लिए हम ने हमारे ग्रन्थ वैदिकव्याकरण (वै० व्या०) की अनुच्छेद-संख्या का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त वैदिक पद के स्वरविषयक वैशिष्टच का भी परिचय दिया गया है। जिन वैदिक पदों के अर्थ के विषय में सन्देह तथा मतभेद है, टि० में उनके विभिन्न प्राचीन तथा अर्वाचीन व्याख्यानों का सम्यक् विवेचन किया

गया है। उनमें से जो व्याख्यान वैदिक प्रयोग की कसौटी पर खरा उतरता है उसी का ग्रहण किया गया है। परन्तु यदि कोई भी उपलब्ध व्याख्यान वैदिक प्रयोग के अनुकूल नहीं है, तो हमने वैदिक प्रयोग के आधार पर अपना मौलिक तथा स्वतन्त्र अर्थ सुझाया है। जहाँ पर वेदार्थ सन्दिग्ध है, वहां पर हमने इस तथ्य को स्वीकार किया है और निराधार तथा मनमाना अर्थ लगाने का दुराग्रह नहीं किया है। हमारे पूर्ववर्ती ग्रन्थ **"वैदिक-व्याख्या-विवेचन"** में जिन वैदिक शब्दों का व्याख्यान किया जा चुका है उनका व्याख्यान पुनः यहाँ पर नहीं दिया गया है और उनका केवल स्थल-निर्देश किया गया है। टि० के पश्चात् छ० में ऋचा की छन्दः-सम्बन्धी विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुए उसके छन्दोभंगत्व के निवारण के विषय में प्रस्तुत आधुनिक मतों का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में जिन वैदिक शब्दों का व्याख्यान किया गया है उन्हें ग्रन्थ के अन्त में **"व्याख्यात-शब्दानुक्रमणी"** में क्रमबद्ध किया गया है और वहाँ पर उनका केवल वही अर्थ दिया गया है जिसे हमने इस ग्रन्थ में स्वीकार किया है।

अब तक हम ऋग्वेद के चालीस सूक्तों के अर्थ पर अपना विस्तृत विमर्श प्रस्तुत कर चुके हैं। हमारी हार्दिक इच्छा है कि न केवल सम्पूर्ण ऋग्वेद का अपितु सभी वेदों का ऐसा विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिए ताकि वेदाध्ययन को और अधिक प्रोत्साहन मिल सके।

अन्त में मैं उन सभी मनीषियों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों से मुझे वेदाध्ययन में सहायता मिली है। पञ्जाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये मुझे जो सुविधाएं तथा अनुदान प्रदान किया है उसके लिये मैं आभारी हूँ। इस ग्रन्थ के सुन्दर तथा शुद्ध मुद्रण के लिये होशियारपुर का विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान-प्रैस मेरे धन्यवाद का पात्र है।

रामगोपाल

कालिदास चेअर विभाग,
पञ्जाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।

संक्षेप-सूची

अ०=अथर्ववेदसंहिता (शौनकीया)

अदा०=अदादिगण

अनु०=अनुवाद

आ०=आत्मनेपद

आलि०=आशीर्लिङ्

उ०=उवट (वा० सं० का भाष्यकार)

उप०=उपनिषद्

उ० पु०=उत्तम पुरुष

ऋ०=ऋग्वेदसंहिता

ऋ० प्रा०=ऋग्वेदप्रातिशाख्य

ए०=एकवचन

ऐ० आ०=ऐतरेयारण्यक

ऐ० ब्रा०=ऐतरेयब्राह्मण

ओ०=ओल्डनबर्ग

कवा०=कर्मवाच्य

काशि०=पा० पर काशिकावृत्ति

का० (या काठ०) सं०=काठकसंहिता

क्रिवि०=क्रियाविशेषण

गै०=गैल्डनर

ग्रा० या ग्रास०=ग्रासमैन

ग्रि०=ग्रिफिथ

च०=चतुर्थी विभक्ति

चु०=चुरादिगण

छ०=छन्दोविषयक वैशिष्ट्य

जु०=जुहोत्यादिगण

टि०=टिप्पणी

तना०=तनादिगण

तस० या त० स०=तत्पुरुष समास

ति०=तिङन्तपद

तु०=तुलना कीजिये

तुदा०=तुदादिगण

तृ०=तृतीया विभक्ति

तै० आ०=तैत्तिरीयारण्यक

तै० ब्रा०=तैत्तिरीयब्राह्मण

तै० सं०=तैत्तिरीयसंहिता

दि०=दिवादिगण

दु०=दुर्गाचार्य (निरुक्तव्याख्याकार)

दे०=देखिये

द्वि०=द्विवचन

द्विती०=द्वितीया विभक्ति

धापा०=पाणिनीय धातुपाठ

न० या नपुं०=नपुंसकलिङ्ग

ना०=नामपद

नाधा०=नामधातु

नि०=यास्कीय निरुक्त

निघ०=निघण्टु

प०=परस्मैपद

पं=पंचमी विभक्ति

पपा०=पदपाठ

पा० उ०=पाणिनीय व्याकरण का उणादिसूत्रपाठ

पा०=पाणिनीय व्याकरण

पाभे० = पाठभेद

पी० = पीटर्सन

पुं० = पुंल्लिङ्ग

पृ० = पृष्ठ

पै० सं० = अ० की पैप्पलादसंहिता

प्र० या प्र० पु० = प्रथम पुरुष

ब० = बहुवचन

बस० या ब० स० = बहुव्रीहिसमास

बृ० उप० = बृहदारण्यकोपनिषद्

बृ० दे० = बृहद्देवता

ब्रा० = ब्राह्मणग्रन्थ

भभा० = भट्टभास्कर

भ्वा० = भ्वादिगण

म० = महीधर (वा० सं० का भाष्यकार)

म० पु० = मध्यम पुरुष

मै० = मैक्डानल

मैसं० या मै० सं० = मैत्रायणीसंहिता

मो० या मोनि० = मोनियरविलियम्स

यलु० = यङ्लुक्

या० = यास्क

रुधा० = रुधादिगण

रू० = रूपकालंकार में प्रयोग

वा० सं० = वाजसनेयिसंहिता

वि० = विशेषण

विमू० = विधिमूलक (injunctive)

वें० = वेंकटमाधव

वेल० = वेलंकर

वै० प० को० = वैदिकपदानुक्रमकोष (विश्वबन्धुकृत)

वै० व्या० = हमारा वैदिक व्याकरण

शन्न० = शन्नन्त

श० (या शत०) ब्रा० = शतपथब्राह्मण

ष० = षष्ठी विभक्ति

सं० = संबोधनपद

स० = सप्तमी विभक्ति

सा० = सायण

सि० कौ० = सिद्धान्तकौमुदी

स्क० = स्कन्दस्वामी

HOS = Harvard Oriental Series

HVM = Hillebrandt's Vedische Mythologie

M.H.R. = Macdonell's "Hymns from the Ṛgveda."

Ved. Gr. = Macdonell's "Vedic Grammar".

Ved. My. = Macdonell's "Vedic Mythology".

V. R. = Macdonell's "Vedic Reader for Students."

Ved. Gr. Stu. = Vedic Grammar for Students.

Ved. Ind. = Vedic Index by Macdonell & Keith.

ऋ. १, ३२ (इन्द्रः)

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

१. इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं	इन्द्रस्य। नु। वीर्याणि। प्र। वोचम्।
यानि चकार प्रथमानि वज्री।	यानि। चकार। प्रथमानि। वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द	अहन्। अहिम्। अनु। अपः। ततर्द।
प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥	प्र। वक्षणाः। अभिनत्। पर्वतानाम्।

अनु०— अब (**नु**) मैं इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों को (**वीर्याणि**) बताऊँगा (**प्र वोचम्**), जो प्रथम अर्थात् प्रमुख कार्य (**प्रथमानि**) वज्रधारी देव ने (**वज्री**) किये (**चकार**):— उसने अहि अर्थात् वर्षा को रोकने वाले वृत्र को मारा (**अहन्**), उसका छेदन कर जलों को (**अपः**) बहाया (**अनु ततर्द**), तथा मेघों के (**पर्वतानाम्**) आन्तरिक भागों का (**वक्षणाः**) भेदन किया (**प्र अभिनत्**)।

टि०— **वीर्याणि**=स्क. "वीरकर्माणि"; सा. "पराक्रमयुक्तानि कर्माणि"। वीर+यत् प्रत्यय से वीर्य शब्द बनता है (वै० व्या० २०६)। **प्र+वोचम्**=दे०—ऋ० १, १५४,१ पर टि०। अतिङन्त पद से परे आने के कारण यह ति० सर्वानुदात्त है (वै० व्या० ४१३ क)। **चकार**=√कृ+लिट् प्र० पु० ए०। यानि के कारण इस ति० पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ङ)। **अहन्**=√हन्+लङ् प्र० पु० ए०। पाद के आदि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ग)। **अहिम्**=दे०—ऋ० २, १२, ११ पर टि०।

अनु ततर्द=√तृद्+लिट् प्र० पु० ए० (तु० तृण्ण, तृण); वें० "रुद्धा अपः सूच्येव रश्मिभिः ततर्द"; स्क० "अन्वित्यपरभावे। अपरभावः पश्चाद्भावः। तर्दतिर्हिंसार्थः। मेघवधोत्तरकालं तदीया अपो हिंसितवान्। भूमौ पातितवानित्यर्थः। सा हि तासां हिंसा। केचित्तु तर्दनं विस्तारणं व्याचक्षते। पृथिव्यामपो विस्तारितवानित्यर्थः"; सा० "अनु पश्चादपो जलानि ततर्द। हिंसितवान्। भूमौ पातितवानित्यर्थः"। √तृद् का मौलिक अर्थ "किसी तीक्ष्ण शस्त्र या वस्तु (सूई आदि) के द्वारा छेदन कर छिद्र करना या बहिर्गमन मार्ग बनाना" है। यहां पर अनु ततर्द का अर्थ है— "इन्द्र ने अपने वज्र से रुकावट (वृत्र) का छेदन (तर्दन) करने के पश्चात् (अनु) जलों को बहाया"; तु०—ऋ० २,१२,३।

वक्षणाः पर्वतानाम्=वें० "शिलोच्चयानां नदीः"; स्क० "'वक्षणाः' (निघ० १,१३) इति नदीनाम। नदीः प्रभिन्नवान्। बहूदकत्वाद् भित्त्वा तत्कूलानि सर्वतः प्रवाहितवानित्यर्थः।

पर्वतानाम् महीधराणां सम्बन्धिनीः । कः पुनः पर्वतानां नदीनां च सम्बन्धः । प्रभवलक्षणः । पर्वतेभ्यो हि नद्यः प्रभवन्ति । अथवा वक्षणाः पशव उच्यन्ते । पर्वतशब्दो हि मेघानाम (तु० निघ० १, १०) । तेषामेकं मेघं हतवान् । अन्येषामपि पशून् हतवानित्यर्थः । अथवा पशुवचनेन वक्षणाशब्देन तत्सामीप्यात् पक्षा अत्र प्रतिपाद्यन्ते । पर्वतशब्दस्तु महीधरवचन एव । महीधराणां पक्षान् प्राभिनत् । छिन्नवानित्यर्थः । एवं हि चरकाध्वर्यूणां ब्राह्मण इतिहासः श्रूयते— 'प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत् पर्वताः । ते पक्षिण आसन् । ते यत्र यत्राकामयन्त तत्परापातमासत । अथ वा इयं तर्हि शिथिलाऽऽसीत् । तेषामिन्द्रः पक्षानच्छिनत् । तैरिमामदृंहत्' (काठ० सं० ३६, ७) इति"; सा० "पर्वतानां सम्बन्धिनीर्वक्षणाः प्रवहणशीला नदीः" । तै० ब्रा० २, ५, ४, २ के भाष्य में सा० ने वक्षणाः का अर्थ "पक्षान्" किया है । आधुनिक विद्वानों में भी वक्षणाः के व्याख्यान के विषय में तीव्र मतभेद है । ग्रा० (कोष) का मत है कि रूपकालंकार द्वारा "पर्वतों के उदरों (bellies)" के अर्थ में यहां पर इसका प्रयोग हुआ है, जबकि गै० ने इसका अनुवाद "पार्श्व", ग्रि० ने "channels" और मै० ने "caverns" किया है । वक्षणा शब्द के वैदिक प्रयोगों के विवेचन से स्पष्ट है कि यह सर्वत्र "नदी" के अर्थ में, जो निघ० में दिया गया है, प्रयुक्त नहीं हुआ है । अतएव अनेक स्थलों पर भारतीय भाष्यकार भी इसका अन्य अर्थ करते हैं । उदाहरणार्थ ऋ० ६, ७२, ४ के भाष्य में वें०, स्क० तथा सा० इसका अर्थ "ऊधस्" करते हैं । स्क०, सा० आदि प्रायेण √वह् से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं । ग्रा० तथा मो० √वक्ष् "बढ़ना" से और गै० √वक्ष्<√उक्ष् "गीला करना या गीला होना" से वक्षणा की व्युत्पत्ति मानते हैं । इन विद्वानों ने वक्षणा के प्रसङ्गानुसार अनेक अर्थ— "belly, womb, river-bed, heaven's vault, udder" आदि सुझाये हैं । यह मानना पड़ेगा कि वक्षणा की उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियां अनुमानमात्र हैं और निश्चित नहीं हैं । सभी वैदिक प्रयोगों के विश्लेषण से वक्षणा शब्द का जो सामान्य अर्थ प्रतीत होता है वह है "आन्तरिक भाग" (interior) । प्रसङ्गानुसार इस अर्थ में अपेक्षित संशोधन किया जा सकता है ।

पर्वतानाम्=यहां पर पर्वत शब्द "मेघ" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; दे० ऋ० १, १९, ७ पर टि० । मै० भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि ऋ० में रूपकालङ्कार द्वारा पर्वत शब्द मेघ के लिये प्रयुक्त है— "Owing to the obvious resemblance, the term 'mountain' (*parvata*) thus very often in the RV. refers to clouds, the figurative sense being generally clear enough" (*Vedic Mythology*, p. 10); "It is however rather as mountains (*parvata*, *giri* : p. 10) that they (i. e. clouds) appear in the Indra myth. They are the mountains (I, 32, 1) on which the demons dwell (I, 32, 2; 2, 12, 11)" (Ibid., p. 60). प्र अभिनत्=√भिद्+लङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २४६) ।
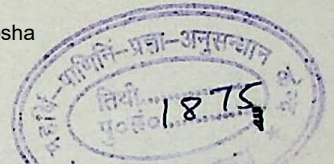
छन्द—ग्रा० आदि के मतानुसार, प्रथम पाद में वीर्याणि का वीरिआणि और तृतीय पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा अन्वपस् का अनु अपस् उच्चारण अपेक्षित है।

२. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं	अहन्। अहिम्। पर्वते। शिश्रियाणम्।
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।	त्वष्टा। अस्मै। वज्रम्। स्वर्यम्। ततक्ष।
वाश्राइव धेनवः स्यन्दमाना	वाश्राःऽइव। धेनवः। स्यन्दमानाः।
अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥	अञ्जः। समुद्रम्। अव। जग्मुः। आपः॥

अनु०—इन्द्र ने मेघ में (पर्वते) आश्रय लेते हुए (शिश्रियाणम्) अहि अर्थात् वर्षा को रोकने वाले वृत्र को मारा (अहन्)। इसके लिये (अर्थात् इन्द्र के लिये) त्वष्टा ने गर्जना करने वाला (स्वर्यम्) वज्र घड़ कर बनाया (ततक्ष)। (वृत्रवध के अनन्तर) रम्भाती हुई (वाश्राःऽइव) गायों की भान्ति बहती हुई (स्यन्दमानाः) जलराशियां (आपः) अर्थात् नदियां सीधी (अञ्जः) समुद्र में पहुँच गईं (अव जग्मुः)।

टि०—पर्वते=यहां पर पर्वत शब्द निःसन्देह रूपकालङ्कार द्वारा "मेघ" के लिये प्रयुक्त किया गया है; दे०—ऋचा १ पर टि०। शिश्रियाणम्=√श्रि+कानच् (वै० व्या० ३३२ ग)। स्वर्यम्=वें० "स्वरणशीलम्"; स्क० "स्वृ शब्दोपतापयोः। प्रहारवेलायां शब्दकरमुपतापयितारं वाऽसुराणाम्"; सा० "सुष्ठु प्रेरणीयं यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यम्"। स्क० की व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुए ग्रा०, गै०, मो०, ग्रि० आदि अधिकतर आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ प्रायेण "गर्जना या ध्वनि करने वाला" करते हैं और यही व्याख्यान प्रसङ्गानुसार समीचीन है। ततक्ष=√तक्ष्+लिट् प्र० पु० ए०। वाश्राःऽइव धेनवः=वें० "शब्दकारिण्योऽभिनवप्रसूता इव धेनवः वत्सान् प्रति स्यन्दमानाः"; स्क० "यथा वाशनशीला अभिनवप्रसूता धेनवः वत्सान् प्रति गच्छेयुः"; सा० "वाश्राः वत्सान् प्रति हम्भारवोपेताः धेनवः इव। यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति तद्वत्"। ऋ० में अनेक बार वाश्रा शब्द "गायों" के वि० के रूप में प्रयुक्त होता है; तु०—ऋ० १, ९५, ६; ९, १३, ७ (वाश्राः ··· ··· वत्सं न धेनवः); ७७, १; १०, ७५, ४। √वाश् से व्युत्पन्न वाश्रा का अर्थ निःसन्देह "हम्भारव करती हुई या रम्भाती हुई" है। अव जग्मुः=√गम्+लिट् प्र० पु० ब०। अञ्जः=वें० "अञ्जसा"; स्क० "ऋजुपर्यायोऽयम्। क्रियाविशेषणं चेदम्"; सा० "सम्यक्"। स्क० का व्याख्यान श्रेष्ठ है।

छं०—ग्रा० आदि के मतानुसार, स्वर्यं का स्वरिअं उच्चारण अपेक्षित है।

३. वृषायमाणोऽवृणीत सोमं	वृषऽयमाणः। अवृणीत। सोमम्।
त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।	त्रिऽकद्रुकेषु। अपिबत्। सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रम्	आ। सायकम्। मघऽवा। अदत्त। वज्रम्।
अहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥	अहन्। एनम्। प्रथमऽजाम्। अहीनाम्॥

अनु०—**वृषा** (वर्षा करने वाले) के समान आचरण करते हुए (**वृषायमाणः**) इन्द्र ने सोम चुना (**अवृणीत**) और तीन विशेष प्यालों में (**त्रिकद्रुकेषु**) सोमरस का पान किया। दानशील (**मघवा**) इन्द्र ने मारक (**सायकम्**) वज्र को अपने हाथ में लिया (**आ अदत्त**) और अहियों में (**अहीनाम्**) सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले (**प्रथमजाम्**) इस वृत्र को मारा (**अहन्**)।

टि०—**वृषायमाणः**=वृषन्+क्यङ्+शानच् (वै० व्या० ३०८ घ ५) "वृषा (वर्षा करने वाले) के समान आचरण करता हुआ"; वृषन् के व्याख्यान के लिये दे० ऋ० १, ८५, ७; २, ३३, १३ इत्यादि पर टि०। यहाँ पर वृषन् का प्रयोग इसके यौगिक अर्थ में हुआ है, जबकि ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि विद्वान् वृषन् को उत्तरकालीन रूढ़ "वृषभ" (bull) अर्थ में लेते हुए अनुवाद करते हैं। **त्रिकद्रुकेषु**=वें० "पूर्वस्त्यहस्त्रिकद्रुकस्तस्मिन्"; स्क० "अभिप्लवव्यहं पूर्वं त्रिकद्रुका इत्याचक्षते"; सा० "ज्योतिर्गौरायुरित्येतन्नामकास्त्रायो यागास्त्रिकद्रुका उच्यन्ते तेषु"। ग्रा० ने इसका अर्थ "तीन कद्रु पात्र" तथा मो० ने "the 3 soma vessels" किया है, जबकि ग्रि० ने इसका अनुवाद "three sacred beakers" तथा मै० ने "threefold vessels" किया है। इस पद के अर्थ को सन्दिग्ध मानते हुए गै० अपने जर्मन अनुवाद की टि० में कहता है कि यह किसी विशेष सोमयज्ञ का या स्थानविशेष का नाम हो सकता है। इस शब्द के सभी वैदिक प्रयोग ब० में मिलते हैं। ऋ० १०, १४, १६ के त्रिकद्रुकेभिः प्रयोग से ज्ञात होता है कि यह किसी "सोमयज्ञ" या "स्थानविशेष" का नाम नहीं है। जैसा कि ग्रा०, मो० तथा मै० आदि का अनुमान है, **विशेष प्रकार के सोमपात्रों** के लिये ऋ० में इस शब्द का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इस विषय में मेरा यह अनुमान है कि **त्रिकद्रुक** शब्द का वैदिक प्रयोग रूपकालङ्कार में किया गया है और सम्भवतः यह रूपक द्वारा तीनों लोकों का वाचक है। **सायकम्**=वें० "अन्तकरम्"; स्क० "सायकशब्दोऽपि षोऽन्तकर्मणि इत्यस्य क्रियाशब्दो विशेषणं न वज्रनाम वज्रशब्देनोपात्तत्वात्। सायकं शत्रूणामन्तकरम्"; सा० "बन्धकम्"। ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "missile" (प्रक्षेपास्त्र) करते हैं और √सि "फेंकना" से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं। ऋ० के अधिकतर प्रयोगों में **सायक** वज्र के वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये **सायक** का "प्रक्षेपास्त्र" अर्थ युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि स्वयम् वज्र भी एक "प्रक्षेपास्त्र" ही है। √सो से दिखाई गई व्युत्पत्ति के अनुसार, स्क० तथा वें० का व्याख्यान "अन्तकरम्" अर्थात् "मारक" अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

छं०—छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रथम पाद में **वृषायमाणो अवृणीत**, तथा द्वितीय पाद में **त्रिकद्रुकेषु अपिबत्** उच्चारण अपेक्षित है।

४. यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनाम् — यत् । इन्द्र । अहन् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् ।
आन्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः । — आत् । मायिनाम् । अमिनाः । प्र । उत । मायाः ।
आत् सूर्यं जनयन् द्यामुषासं — आत् । सूर्यम् । जनयन् । द्याम् । उषसम् ।
तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥ — तादीत्ना । शत्रुम् । न । किल । विवित्से ॥

अनु०— हे इन्द्र देव ! जब (यत्) तुम ने अहियों में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले वृत्र को मारा, और (उत) तदनन्तर (आत्) सूर्य, दिन (द्याम्) तथा उषा को (उषासम्) प्रकट करते हुए (जनयन्) तुमने कपटी असुरों के (मायिनाम्) छलों को (मायाः) विफल कर दिया (प्र अमिनाः); तब (तादीत्ना) निश्चय ही (किल) तुम्हें कोई शत्रु नहीं मिला (विवित्से)।

टि०— प्र अमिनाः=√मी+लङ् म० पु० ए०; तु० ऋ० १, २५, १ के प्र मिनीमसि तथा २, १२, ५ के मिनाति पर टि०। मायाः=ऋ० में माया शब्द मूलतः "अलौकिक शक्ति" के अर्थ में प्रयुक्त होता है (तु० ऋ० ३, ६१, ७ पर टि०), यद्यपि निघ० ३, ९ में माया शब्द "प्रज्ञा" के नामों में गिनाया गया है। प्रसङ्गानुसार कपटपूर्ण कर्मों में प्रयुक्त की जाने वाली असुरों की माया को "छल, कपट" कहा जा सकता है, जैसा कि ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् यहाँ पर व्याख्यान करते हैं। मायिनाम्=माया के साथ तद्धित प्रत्यय इन् जोड़ने से मायिन् बनता है (वै० व्या० १९८)। द्याम्=द्यो का द्विती० ए० (वै० व्या० ११९)। सा० ने इसका व्याख्यान "आकाशम्" किया है और गै०, ग्रि० तथा मै० आदि विद्वान् इसका अनुवाद "heaven" करते हैं। परन्तु यहाँ पर द्यो शब्द "दिन" का वाचक है, क्योंकि प्रसङ्ग में यही अर्थ समीचीन है। विवित्से=√विद् "पाना"+लिट् म० पु० ए०।

छं०— ग्रा० के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये तृतीय पाद में सूर्यं का सूरिअं उच्चारण अपेक्षित है।

५. अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम् — अहन् । वृत्रम् । वृत्रऽतरम् । विऽअंसम् ।
इन्द्रो वज्रेण महता वधेन । — इन्द्रः । वज्रेण । महता । वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा- — स्कन्धांसिऽइव । कुलिशेन । विऽवृक्णा ।
हिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ — अहिः । शयते । उपऽपृक् । पृथिव्याः ॥

अनु०— इन्द्र ने अतिशय अवरोधक (वृत्रतरम्) वृत्र को अपने महान् (महता) मारक अस्त्र (वधेन) वज्र से मारा और स्कन्धहीन कर दिया

(व्यंसम् अहन्)। कुल्हाड़े के द्वारा (कुलिशेन) काटे गये (विवृक्णा) वृक्ष के तनों की भान्ति (स्कन्धांसिऽइव), वृत्र (अहिः) पृथिवी से चिपटा हुआ (उपपृक्) पड़ा था (शयते)।

विशेष—कटे हुए वृक्ष की भांति शत्रु के गिरने की उपमाएँ रामायण तथा महाभारत में बार-बार प्रयुक्त की गई हैं।

टि०— वृत्रतरम्=वें० "अतिशयेन निवेष्टयितारम्"; स्क० "वर्ततेर्गत्यर्थस्येदं रूपम्। गन्तृतरम् अतिशयेन गन्तारमित्यर्थः"; सा० "अतिशयेन लोकानाम् आवरकम् अन्धकाररूपम्"। गै० ने इसका अनुवाद "the greatest enemy" और मै० ने "one worse than Vṛtra" किया है। वृत्र का यौगिक अर्थ (√वृत्+र) "अवरोधक" है और "अतिशय अवरोधक" अर्थ में यहां पर वृत्रतर शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसा कि ग्रा० (कोष) मानता है।

तुलनावाचक तरप् प्रत्यय (वै० व्या० १९६ख) मानने से तरप् के त का उदात्त अनियमित रहता है (वै० व्या० ४१५क २)। इस कठिनाई से बचने के लिये सा० √तॄ से कृदन्त तर मानकर व्याख्यान करता है और कहता है कि तरप् प्रत्यय मानने पर व्यत्यय का आश्रय लेना पड़ेगा। यहां पर तुलनात्मक तरप् प्रत्यय तथा स्वर-नियम का अपवाद मानना ही अधिक समीचीन है जैसा कि अधिकतर प्राचीन तथा आधुनिक विद्वान् मानते हैं।

व्यंसम्=वें० "व्यंसम् चापरमसुरम्"; स्क० "विगतांसं विच्छिन्नांसम् व्यंसनामानमपरमसुरं वा"; सा० "विगतांसं छिन्नबाहुर्यथा भवति तथा"। स्क० तथा वें० व्यंस नाम का एक असुर मानते हैं और ऋ० ४, १८, ९ के भाष्य में सा० भी कहता है— "व्यंसो नाम राक्षसः"। ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वान् भी व्यंस को प्रायेण एक राक्षस का नाम मानते हैं। परन्तु सा० अधिकतर स्थलों पर व्यंस को वृत्र का वि० मानकर इसका व्याख्यान "विगतभुज", "अंसहीन", "विगतांस" इत्यादि करता है (तु०— ऋ० १, १०१, २; १०३, २; २, १४, ५; ३, ३४, ३)। वैदिक प्रयोगों के विवेचन से सा० के इस मत की पुष्टि होती है कि व्यंस वृत्र का वि० है और इसका शाब्दिक अर्थ "विगतस्कन्ध" अर्थात् "बिना कन्धों का" है। यहां पर सा० का व्याख्यान समीचीन है और इसका प्रयोग क्रिवि० के रूप में हुआ है। व्यंस के इस रूपकालङ्कार-प्रयोग में निहित अर्थ अन्वेष्य है। ग्रि० व्यंसम् को क्रिवि० मान कर अहन् के साथ इसका अनुवाद "smote into pieces" करता है।

वध="मारक", इसके लिये दे०— ऋ० १, २५, २ पर टि०। स्कन्धांसि= स्कन्धस् का प्रथ० व०; स्क० "वृक्षाणां स्थूला अधोभागाः स्कन्धांसि"; सा० "वृक्ष-स्कन्धाः"। ग्रा०, ग्रि०, गै० तथा मै० इसका अर्थ "trunks of trees" करते हैं जो समीचीन है; तु०— अ० १०, ७, ३८। गै० का मत है कि श्लेषालङ्कार द्वारा

स्कन्धांसि "वृक्ष के तने" तथा "कन्धे" दोनों अर्थों को अभिव्यक्त करता है; तु०—निरुक्त ६, १७ । विवृक्णा=वि+√व्रश्च्+क्त+प्रथ० ब० । उपपृक्=यास्क (६, १७) तथा वें० "उपपर्चनः"; स्क० "उपेत्येष समित्येतस्य स्थाने । संपर्चितः"; सा० "सामीप्येन संपृक्तः" । सा० का व्याख्यान समीचीन है जिसे लगभग सभी आधुनिक विद्वान् स्वीकार करते हैं, यथा— मैं० "clinging to" अनुवाद करता है; उपपृच् (उप+√पृच्+क्विप्) का प्रथ० ए० । शयते=√शी का भ्वा० में लट् प्र० पु० ए०; भूतकाल में लट् (वै० व्या० ३१६) ।

छं०— ग्रा० आदि के मतानुसार, प्रथम पाद में व्यंसम् का विअंसम् तथा सन्धि-विच्छेद द्वारा चतुर्थ पाद के आदि में अहिः के अ का उच्चारण अक्षरपूर्ति के लिये अपेक्षित है ।

६. अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे । अयोद्धाऽइव । दुःऽमदः । आ । हि । जुह्वे ।
महावीरं तुविबाधमृजीषम् । महाऽवीरम् । तुविऽबाधम् । ऋजीषम् ।
नातारीदस्य समृतिं वधानां न । अतारीत् । अस्य । सम्ऽऋतिम् । वधानाम् ।
सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ सम् । रुजानाः । पिपिषे । इन्द्रऽशत्रुः ॥

अनु०—क्योंकि (हि) युद्ध से अनभिज्ञ पुरुष की भांति (अयोद्धाऽइव) बुरी तरह नशे में चूर (दुर्मदः) वृत्र ने बहुतों को दबाने वाले (तुविबाधम्), सहसा सीधा आगे बढ़ने वाले (ऋजीषम्), महापराक्रमी वीर (महावीरम्) इन्द्र को ललकारा (आ जुह्वे); उसने इस इन्द्र के (अस्य) मारक अस्त्रों के (वधानाम्) प्रहार को (समृतिम्) पार नहीं किया (न अतारीत्) अर्थात् सहन नहीं कर सका । इन्द्र जिसका शत्रु अर्थात् घातक है (इन्द्रशत्रुः), उस वृत्र ने रुकावटों को तोड़ने वाले जलों को (रुजानाः) एक साथ चूर-चूर कर डाला (सं पिपिषे) ।

टि०— अयोद्धाऽइव=वें० "युद्धासमर्थः"; स्क० "योद्धुमसमर्थः"; सा० "योद्धृरहितः" । ग्रा० ने इसका अर्थ "कुत्सित योद्धा", ग्रि० ने "weak warrior" और मो० ने "not fighting" किया है, जबकि गै० ने इसका अनुवाद "युद्ध से अनभिज्ञ", और मैं० ने "coward" किया है । सा० के अनुसार, अयोद्धा बस० है क्योंकि इस नञ् समास के उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९क १) । परन्तु वें०, स्क०, ग्रा०, गै०, मो०, ओ० तथा मैं० आदि के मतानुसार यह नञ् तत्पुरुष-समास है । यही मत अधिक समीचीन है और इस तत्पुरुष के उत्तरपद पर उदात्त का समाधान सम्भव है, क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं (वै० व्या० ३९८ग ९) । दुर्मदः=वें० "मानी"; स्क० "कुत्सितमदः सुरया मत्तः सन्"; सा० "दुष्टमदोपेतो

बर्पयुक्तः" । ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "drunken" करते हैं, जबकि ग्रि० "mad" करता है । ऋ० १, ३९, ५ मरुतो दुर्मदाइव तथा ८, २, १२ दुर्मदासो न सुरायाम् में भी दुर्मद का प्रयोग उपमार्थ में हुआ है। हिन्दी में इसका अर्थ "बुरी तरह नशे में चूर" होगा। आ जुह्वे=√ह्वे+लिट् आ० प्र० पु० ए० (वै० व्या० २५४घ)। हि निपात के कारण इस ति० पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३च)। तुविबाधम्=वें० तथा सा० "बहूनां बाधितरम्"; स्क० "बहूनां शत्रूणां बाधितारम्"। ग्रा० तथा गै० इसका अर्थ "अत्यधिक दबाने वाला" करते हैं, जबकि मै० ने इसका अनुवाद "many-crushing" और ग्रि० ने "many-slaying" किया है। यहां पर वें० आदि का व्याख्यान अधिक समीचीन है; तु०— ऋ० ४, ५०, ४ के तुविजातः पर टि०। ऋजीषम्=वें० "ऋजीषिणम्"; स्क० "अर्जयितारं शत्रुधनानाम्। अथवा यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमुच्यते (नि० ५, १२)। सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतमत्वर्थकः। ऋजीषिणमित्यर्थः। कः। पुनरिन्द्रस्य ऋजीषेण सम्बन्धः। हर्योरस्य स भागो धानाश्चेति"। सा० "शत्रूणामपार्जकम्"। गै० यास्क के अर्थ का अनुसरण करते हुए इसका अनुवाद "बचे हुए सोम को पीने वाला" करता है। परन्तु स्क० तथा सा० आदि की भान्ति √ऋज् (√ऋञ्ज) से ऋजीष की व्युत्पत्ति मानते हुए ग्रा० ने इसका अर्थ "सहसा सीधा आगे बढ़ने वाला" किया है और इसी प्रकार मै० ने M. H. R. में इसका अनुवाद "The headlong" किया है, जब कि मै० ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ Vedic Grammar (p. 214) में इसके समानार्थक ऋजीषिन् का अनुवाद "receiving the residue of Soma" किया था और p. 215 की टि० १ में लिखा था कि ऋ० १, ३२, ६ का ऋजीषम् सम्भवतः छन्दः-परिमाण के विचार से ऋजीषिणम् का संक्षिप्त रूप है (दे०— Lanman : *Noun-Inflection in the Veda*, p. 543)। ग्रि० ने इसका अनुवाद "impetuous" किया है। ऋ० में ऋजीष शब्द का केवल यही एक प्रयोग मिलता है, जबकि ऋजीषिन् के लगभग दो दर्जन प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यह शब्द ऋ० में अधिकतर इन्द्र के वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है और कुछेक स्थानों में सोम तथा मरुतों का वि० है। सा० प्रभृति भाष्यकार इसके अर्थ के विषय में निश्चित नहीं हैं और फलतः भिन्न तथा वैकल्पिक व्याख्यान सुझाये हैं। वैदिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए ग्रा० का अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। अस्य वधानाम्=वध के लिये दे० ऋचा ५। समृतिम्=वें० तथा स्क० "सङ्गतिम्"; सा० "सङ्गमम्"। ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "प्रहार" करते हैं। शब्दार्थ की दृष्टि से भाष्यकारों का व्याख्यान उचित है और तदनुसार कहीं-कहीं समृति शब्द "संग्राम" के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। परन्तु प्रसङ्गानुसार भावार्थ को ध्यान में रखते हुए यहां पर "प्रहार" अर्थ समीचीन है। आतारीत् √तृ+सेट्-सिज्लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २७९)। रुजानाः सम् पिपिषे=वें० "अथ पृथिव्यां निपातितोऽवशः सन् नदीः संपिष्टवान्"; स्क० "ग्रीवाः किल रुजाना उच्यन्ते। आत्मीया ग्रीवाः संपिष्टवान् चूर्णितवान्। प्रहारैर्वध्यमानश्चूर्णीकृतग्रीव इत्यर्थः। अथवा 'रुजानाः'

(निघ० १, १३) इति नदीनाम । मेघश्च वृत्रः । नदीः संपिष्टवान् । बहुनोदकेन नदीनां कूलानि संपिष्य स्रोतसि प्रवाहितवानित्यर्थः । सामर्थ्याद्वा गत्यर्थः संपिषिः । उदकरूपेण नदीः प्रति जगामेत्यर्थः"; सा० "इन्द्रेण हतो नदीषु पतितः सन् **रुजानाः** नदीः संपिपिषे सम्यक् पिष्टवान् । सर्वान् लोकानावृण्वतो वृत्रदेहस्य पातेन नदीनां कूलानि तत्रत्यपाषाणादिकं च चूर्णीभूतमित्यर्थः । ··· ··· ···**रुजानाः** । 'रुजो भङ्गे' रुजन्ति कूलानीति **रुजानाः** नद्यः । 'रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि' (निरुक्त ६, ४) इति यास्कः । व्यत्ययेन शानच् । 'तुदादिभ्यः शः' । नुमभावश्छान्दसः । **पिपिषे** । 'पिष्लृ संचूर्णने' । व्यत्ययेन लिट्" । यास्कादि भारतीय भाष्यकारों के मत का अनुसरण करते हुए मो० ने इसका अर्थ "rivers", और मै० ने "channels" किया है । ग्रा० भी इसे **रुजाना** स्त्री० का द्विती० ब० मानते हुए यास्कादि की भान्ति इस शब्द का अर्थ "kluft" (cleft) करता है । ये सभी विद्वान् **पिपिषे** को √पिष्+लिट् प्र० पु० ए० का कर्तृवाच्य का रूप मानते हैं, जबकि ब्लूमफील्ड, ओल्डनबर्ग तथा गै० **पिपिषे** को कर्मवाच्य का रूप मानते हुए **रुजानाः** को **रुजानस्** या **रुजानास्** का प्रथ० ए० और **वृत्र (इन्द्रशत्रुः)** का वि० समझते हैं । इस प्रकल्पित प्रातिपदिक में समास मानते हुए, इन विद्वानों ने अनेक प्रकार के विग्रह सुझाये हैं । ब्लूमफील्ड के अनुसार, **रुजान+आस्** "जिसका मुख (आस्) तोड़ा जा रहा है वह" या **रुजान+नास्** "जिसका नाक तोड़ा जा रहा है वह" हो सकता है । ओल्डनबर्ग इसकी व्युत्पत्ति **रुजा+अन्+आस्** "वज्राघात द्वारा मुखरहित" या **रुजा+अ+नास्** "वज्राघात द्वारा नासिकारहित" करता है । पद के स्वर द्वारा इन सब व्युत्पत्तियों का समर्थन नहीं होता है । ग्रि० "shattered forts" अनुवाद करता है । गै० सन्देह के साथ इसका अनुवाद "Nasen-brecher" (nose-breaker) करता है और भावार्थ में कहता है "वह जिसका नाक तोड़ा या कुचला गया है" । **त्रसदस्यु** के सादृश्य पर टि० में गै० इसकी व्युत्पत्ति **रुज+अनस्** (cart-breaker) "शकट (अनस्) को तोड़ने वाला" या "**रुज + नास् > रुजान + नास्**" से करता है । **रुजानाः** को प्रथ० ए० का रूप तथा वृत्र का वि० सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किये गये ये सब अनुमान निराधार हैं और स्वरनियमों के विरुद्ध हैं । जैसा कि प्राचीन भारतीय भाष्यकार तथा ग्रा० आदि आधुनिक विद्वान् स्वीकार करते हैं, **रुजानाः** स्त्री० द्विती० ब० का रूप है जो √रुज्+शानच् से बना है । इन्द्रसूक्तों के प्रतिपाद्य विषय के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनमें जिस स्त्रीवाचक शब्द का प्रायेण ब० में प्रयोग होता है वह **अप्** "जल" है । प्रसङ्ग से प्रतीत होता है कि यहाँ पर **रुजानाः** पद **अपः** का विशेषण है जिसके द्वारा इसके विशेष्य का अध्याहार किया जा सकता है । इस सम्बन्ध में ऋ० ४, १८, ६ (**कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति**) विशेषतया महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार "आपः (जल) इनको रोकने वाले (परिधिम्) **अद्रिम्** (पर्वत या रू० में मेघ) को तोड़ती हैं (**रुजन्ति**)" । **आपः** के साथ ऋ० में √रुज्

की क्रियाओं का प्रयोग मिलता है। यहाँ पर विचाराधीन पदों का शब्दार्थ यह है कि "वृत्र ने रुकावटों को तोड़ने वाले (रुजानाः) जलों को एक साथ चूर-चूर कर डाला (सम् पिपिषे)"। यास्कादि ने रुजानाः का जो "नद्यः" अर्थ किया है वह इसी शब्दार्थ ("रुकावट को तोड़ने वाले जलों") का भावार्थ है। इन्द्रशत्रुः=वें० "इन्द्रो यस्य शातयिताऽऽसीदिति"; स्क० "इन्द्रः शातयिता यस्य सः"; सा० "इन्द्रः शत्रुर्घातको यस्य वृत्रस्य तादृशो वृत्रः"। यह पद वृत्र का वि० है और बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है।

७. अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रम् अपात्। अहस्तः। अपृतन्यत्। इन्द्रम्।
आस्य वज्रमधि सानौ जघान। आ। अस्य। वज्रम्। अधि। सानौ। जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्। वृष्णः। वध्रिः। प्रतिऽमानम्। बुभूषन्।
पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः॥ पुरुऽत्रा। वृत्रः। अशयत्। विऽअस्तः॥

अनु०—पादरहित (अपाद्) तथा हस्तरहित (अहस्तः) वृत्र ने इन्द्र से युद्ध किया (अपृतन्यत्)। (इन्द्र ने) इस वृत्र के (अस्य) उच्चतम भाग पर (सानौ अधि) वज्र दे मारा (आ जघान)। वर्षा करने वाले अर्थात् बलवान् वृषभ के (वृष्णः) तुल्य (प्रतिमानम्) होने की इच्छा करता हुआ (बुभूषन्) निर्वीर्य (वध्रिः) वृत्र बहुत से स्थानों पर (पुरुत्रा) बिखरा हुआ (व्यस्तः) पड़ा था (अशयत्)।

टि०— अपृतन्यत् = पृतना "संग्राम" नामधातु से लङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० ३०८. २)। सानौ=वें० "उच्छ्रिते देशे"; स्क० "समुच्छ्रिते प्रदेशे"; सा० "पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे"। ग्रा० तथा मै० यहाँ पर सानु शब्द का अर्थ "back" (पृष्ठ) करते हैं, जबकि गै० ने इसका अनुवाद "गर्दन पर" और ग्रि० ने "between the shoulders" किया है। यहाँ पर इस प्रकार के अनुमान अनावश्यक हैं और अन्यत्र उपलब्ध वैदिक प्रयोग के अनुसार सानु का अर्थ "चोटी" या "उच्चतम भाग" समीचीन है, जैसा कि स्क०, वें० आदि भाष्यकार मानते हैं। बुभूषन्= √भू + सन् + शतृ का प्रथ० ए० (वै० व्या० २९४. १)। व्यस्तः= वि+√अस् "फेंकना"+क्त; क्षैप्र नामक स्वतन्त्र स्वरित (वै० व्या० ३८९, ३९६)। अशयत्=√शी+लङ् प्र० पु० ए०। वृष्णः=वृषन् का ष० ए०। यहाँ पर वृषन् शब्द वध्रि "निर्वीर्य" का विपरीतार्थक "वृषभ" है।

छं०— ग्रा० आदि के मतानुसार, चतुर्थपाद में अक्षरपूर्ति के लिए सन्धि-विच्छेद द्वारा व्यस्तः का विअस्तः उच्चारण अपेक्षित है।

८. नदं न भिन्नममुया शयानं	नदम् । न । भिन्नम् । अमुया । शयानम् ।
मनो रुहाणा अति यन्त्यापः ।	मनः । रुहाणाः । अति । यन्ति । आपः ।
याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्	याः । चित् । वृत्रः । महिना । परिऽअतिष्ठत् ।
तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥	तासाम् । अहिः । पत्सुतःऽशीः । बभूव ॥

अनु०— टुकड़े-टुकड़े किये हुए (भिन्नम्), गर्जना करने वाले (नदम्) वृषभ (?) की भान्ति (न) उस बुरे ढंग से (अमुया) पड़े हुए (शयानम्), वृत्र के ऊपर से (अति) स्वच्छन्दतापूर्वक ऊपर उठते हुए (मनः रुहाणाः) जल (आपः) वहते हैं (यन्ति)। जिन (याः) जलों को वृत्र ने (अहिः) अपनी महत्ता से (महिना) अर्थात् शरीर-विस्तार से घेर कर रोक लिया था (परिऽअतिष्ठत्), अब वह उन्हीं जलों के (तासाम्) पाँवों के नीचे पड़ा हुआ है (पत्सुतःशीः बभूव)।

टि०— नदं न भिन्नम् = वें० "यथा भिन्नं सेतुम्"; स्क० "यथा महान्तं नदं भिन्नं भग्नकूलम्"; सा० "तत्र दृष्टान्तः। भिन्नं बहुधा भिन्नकूलं नदं न सिन्धुमिव। यथा वृष्टिकाले प्रभूता आपो नद्याः कूलं भित्त्वा अतिक्रम्य गच्छन्ति तद्वत्"। इसमें सन्देह नहीं है कि "इव"-वाचक न निपात के द्वारा यहाँ पर उपमा का प्रयोग किया गया है। परन्तु उपमान नदम् के व्याख्यान के विषय में मतभेद है। ग्रि० इन पदों का अनुवाद "like a bank-bursting river" करता है। पिशल, गै० तथा मै० इसका व्याख्यान "reed" (नड) करते हैं, जब कि ग्रा० तथा मो० √नद् से व्युत्पत्ति मानते हुए इसका यौगिक शब्दार्थ "roarer" ("गर्जने वाला") और यहाँ पर प्रासङ्गिक अर्थ "bull" करते हैं। यास्क० (५, २) √नद् "स्तुति करना" से नद की व्युत्पत्ति मानते हुए इसका व्याख्यान "ऋषि" करता है— "ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः"। ऋ० १, १७९, ४; १०, ११, २ के व्याख्यान में सा० भी यास्क के इस मत का अनुसरण करता है और अन्यत्र भी √नद् "ध्वनि करना" से व्युत्पत्ति मानते हुए व्याख्यान करता है (तु०— ऋ० २, ३४, ३; १०, १०५, ४)। ऋ० १०, ११, २ के नदस्य नादे प्रयोग से स्पष्ट है कि √नद् "गर्जना करना" की क्रिया पर बल देने के हेतु से ऋ० के ऋषि इसके कृदन्त शब्द नद का प्रयोग करते हैं, जिसका यौगिक अर्थ "गर्जना करने वाला" है। परन्तु नद "ध्वनि करने वाले" का कहां पर क्या भावार्थ है ? इस प्रश्न का समाधान प्रसङ्ग के अनुसार ही किया जा सकता है। ऋ० में प्रयुक्त नद शब्द के प्रसङ्गों के विश्लेषण से यह

निष्कर्ष निकलता है कि "नड" (reed) अर्थ सर्वथा अनुपयुक्त हैं और "नदी" या "सिन्धु" अर्थ भी प्रसङ्गों के अनुकूल नहीं है। "गर्जना करने वाला" **अश्व**, **वृषभ** अथवा **मेघ** अर्थ इनमें से अनेक प्रसङ्गों में समीचीन प्रतीत होता है। वर्तमान प्रसङ्ग में ग्रा० द्वारा सुझाया गया अर्थ "गर्जना करने वाला वृषभ" अधिक समीचीन है। **अमुया शयानम्**=वें० "एवम् अनया पृथिव्या सह **शयानम्**"; स्क० "**अमुया** इत्थं-भूतलक्षणया तृतीयया अयं सामर्थ्यात् प्रतिनिर्देशः। अनया महत्या वृद्धया सम्बद्धं **शयानम्**"; सा० **अमुष्या** अमुष्यां पृथिव्यां शयानम्"। परन्तु ग्रा०, गै०, मो०, मै०, ह्विटने प्रभृति अधिकतर आधुनिक विद्वान् अन्तोदात्त **अमुया** को "उस प्रकार" अर्थ में क्रिवि० मानते हैं (वै० व्या० चतुर्थ अध्याय की टि० ३२७)। वें०, सा० आदि प्राचीन भाष्यकार इसे कहीं पर द्विती० ए० का रूप (तु०— ऋ० ४, १८, १; ५, ३४, ५) और कहीं पर तृ० ए० का रूप मानते हैं। **अमुया** के प्रयोग के सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० में इसके जो **सात** प्रयोग मिलते हैं वे सभी क्रियापदों से अन्वित होने के कारण निःसन्देह क्रिवि० का अर्थ देते हैं। उनमें से तीन प्रयोगों में (ऋ० १, २९, ५; १०, ८५, ३०; १३५, २) **अमुया** के साथ **पापया** पद प्रयुक्त हुआ है और दोनों का समन्वित अर्थ है "उस बुरे ढंग से"। प्रसङ्गानुसार शेष चार प्रयोगों में भी **पापया** का अध्याहार अपेक्षित है और वहाँ पर भी वही अर्थ होगा। अतएव वर्तमान प्रसङ्ग में **अमुया शयानम्** का अर्थ है "उस बुरे ढंग से पड़े हुए को"।

मनो रुहाणाः= वें० "मनुष्याणां **मनः** आरोहन्त्यो ह्लादयन्त्यः"; स्क० "**मनः रुहाणाः** आरोहन्त्यः। मनुष्याणां चित्तं ह्लादयन्त्य इत्यर्थः"; सा० "नृणां चित्तमारोहन्त्यः। पुरा वृत्रे जीवति सति तेन निरुद्धा मेघस्थिता आपो भूमौ वृष्टा न भवन्ति तदानीं नृणां मनः खिद्यते। मृते तु वृत्रे निरोधरहिता आपो वृत्रशरीर-मुल्लङ्घ्य प्रवहन्ति। तदा वृष्टिलाभेन मनुष्यास्तुष्यन्तीत्यर्थः"। ग्रा० ने इन पदों का **अर्थ** "इच्छानुसार चढ़ती हुई", और ग्रि० ने "taking courage" और मै० ने "courage taking" किया है। ऋ० १, १८०, ५ के **गोरोहेण** (पपा० गोः+ओहेन) तथा ८, ४०, ८ के **उहाना यन्ति सिन्धवः** प्रयोगों के आधार पर और **अप्** "जलों" का **मनु** के साथ सम्बन्ध के आधार पर (तु०— ऋ० १, १६५, ८; २, २०, ७; ६, २९, १; ५, ३१, ६ इत्यादि), पिशल ने **मनो रुहाणाः** का सन्धिच्छेद **मनोः** (मनु का ष० ए०) + **उहानाः** ("बहते हुए") करते हुए "मनु के बहते हुए (जल)" व्याख्यान किया है, जबकि ओ० ने इसी सन्धिच्छेद को स्वीकार करते हुए "मनु के लिये बहते हुए (जल)" व्याख्यान किया है। परन्तु गै० ने **मनोः** (मनु का ष० ए०) + **रुहाणाः** सन्धिच्छेद सुझाते हुए, इनका अनुवाद "मनु के चढ़ते (बढ़ते) हुए (जल)" किया है और साथ-साथ टि० में **मनः** + **रुहाणाः** सन्धिच्छेद के आधार पर "मन पर चढ़ते हुए अर्थात् उत्साहित होते हुए" व्याख्यान भी सुझाया है (तु०— ऋ० १, ५१, १२)। यहाँ पर पपा० के विरुद्ध सन्धि-विच्छेद के द्वारा

मन: के स्थान पर **मनो:** पद मानने के लिये समुचित तथा पर्याप्त आधार नहीं है और प्रसङ्ग से इस अनुमान की पुष्टि नहीं होती है। अतएव पपा० के अनुसार **मन:** पद मानकर व्याख्यान करना वाञ्छनीय है। अन्य अनेक वैदिक प्रयोगों की भान्ति यहां पर **मन: + रुहाणा:** एक आलंकारिक प्रयोग है जिसका **भावार्थ** यह है कि "वृत्र से मुक्त होने पर जल अपने **मन** (स्वेच्छा) पर चढ़ रहे थे **अर्थात्** मनमानी पूर्ण स्वच्छन्दता से बेरोक-टोक बह रहे थे"। **महिना**=महिमन् का तृ० ए० (वै० व्या० १३१ क) **पत्सुत:शी:**=वें० "पत्त:शायी"; स्क० "पादशब्दात् तृतीयार्थे सप्तमी। 'पाद: पत्' (पा० ६, ४, १३०) इति पद्भाव:। पत्सु। तृतीयार्थवृत्तित्वात् सप्तम्या: सप्तम्यन्तादप्यस्मात् 'तेनैकदिक्', 'तसिश्च' (पा० ४, ३, ११२, ११३) इति तस्। सप्तमीविभक्तेरलुक्। पत्सुत: शेते तिष्ठतीति पत्सुत:शी:। यत: पादौ तत: स्थाता बभूव। अधोवृत्तिर्बभूवेत्यर्थ:। हताद्धि मेघादूर्ध्वं निश्चरन्तीनामपां पादत: स्थायी भवति मेघ:"; सा० "पादस्याध: शयान: बभूव। यद्यप्यपां पादो नास्ति तथाप्यद्भिर्वृत्रस्य अभिलङ्घितत्वात् पादस्याध: शयनमुपपद्यते। ·········पादस्याध: शेते इति **पत्सुत:शी:**। 'क्विप् च' इति क्विप्। तसि 'पद्दनोमास्-' इत्यादिना पादशब्दस्य पदादेश:। 'शस्प्रभृतिषु' इति प्रभृतिशब्द: प्रकारवचन: इति शलादोषणी इत्यत्रापि दोषन्नादेशो भवति इत्युक्तत्वात् (काशि० ६, १, ६३)। मध्ये सु इति शब्दोपजन-श्छान्दस:। यद्वा। पादशब्दस्य सप्तमीबहुवचने पदादेशे कृते 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ५, ३, १४) इति सप्तम्यर्थे तसिल्। लुगभावश्छान्दस:"। स्क०, सा० आदि भाष्यकार तथा रोट, ग्रा०, ह्विटने प्रभृति आधुनिक विद्वान् **पद्** (पाद्) के स० ब० रूप **पत्सु** से परे तद्धित प्रत्यय **तस्** (पा० **तसिल्**) मानकर पूर्वपद **पत्सुत:** का समाधान करते हैं और तदनन्तर **शी** के साथ इसका समास मानते हैं। यद्यपि हमें **पत्सुत:** का कोई अन्य समाधान इस समय नहीं सूझ रहा है, तथापि इसका पूर्वोक्त व्याख्यान **सन्दिग्ध** लगता है, क्योंकि विभक्त्यन्त पद से परे तद्धित **तस्** प्रत्यय के प्रयोग का कोई अन्य उदाहरण नहीं मिलता है और न ही तस्-प्रत्ययान्त शब्द का ऐसा कोई समास उपलब्ध होता है।

छं०— द्वितीय पाद में अक्षर–परिमाण की पूर्ति के निमित्त सन्धि-विच्छेद द्वारा **यन्ति आप:** उच्चारण अपेक्षित है।

९. **नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रे-**	**नीचाऽवया: । अभवत् । वृत्रऽपुत्रा ।**
न्द्रो अस्या अव वधर्जभार ।	**इन्द्र: । अस्या: । अव । वध: । जभार ।**
उत्तरा सूरधर: पुत्र आसीद्	**उत्ऽतरा । सू: । अधर: । पुत्र: । आसीत् ।**
दानु: शये सहवत्सा न धेनु: ॥	**दानु: । शये । सहऽवत्सा । न धेनु: ॥**

अनु०— वृत्र जिसका पुत्र था (**वृत्रपुत्रा**) अर्थात् वृत्र की माता क्षीण बल वाली (**नीचावयाः**) हो गई थी (**अभवत्**)। इन्द्र ने अपने मारक अस्त्र को (**वधः**) इसके (**अस्याः**) नीचे की ओर चलाया (**अव जभार**)। जननी (**सूः**) ऊपर (**उत्तरा**) थी और उसका पुत्र अर्थात् वृत्र नीचे (**अधरः**) था (**आसीत्**)। बछड़े सहित गाय की भान्ति (**सहवत्सा न धेनुः**), वृत्र की माता (**दानुः**) पड़ी थी (**शये**)।

टि०— नीचावयाः=स्क० "वयः शाखा अन्यत्र, इह तु शाखास्थानीये भुजे वयश्शब्दो वर्तते। नीचा वयो यस्याः सा **नीचावयाः** प्रलम्बबाहुः। ··· वृत्रे हन्यमाने तन्माता तद्वधपरिरक्षया तस्योपरि प्रसार्य बाहू अतिष्ठदित्यर्थः"; वें० "नीचीनबाहुशाखा"; सा० "**नीचावयाः** न्यग्भावं प्राप्ता हता **अभवत्** पुत्रं प्रहाराद्रक्षितुं पुत्रदेहस्योपरि तिरश्ची पतितवतीत्यर्थः"। ग्रा०, गै०, मै०, मो०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् **वयस्** शब्द का "बल" अर्थ लेते हुए (दे०—ऋ० २, ३३, ६, पर टि०), इस बस० का अर्थ करते हैं "जिस का बल नीचा अर्थात् क्षीण था वह"। यहां पर यही व्याख्यान अधिक समीचीन है। बस० होने के कारण **नीचावयाः** तथा **वृत्रपुत्रा** "जिस का पुत्र वृत्र है वह" के पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९)। **वधः**=**वधर्** नपुं० "मारक अस्त्र अर्थात् वज्र" का द्विती० ए०; तु०— पुं० **वध** (ऋचा ५ तथा ६)। निघ० २, २० में इसे "वज्र" के नामों में गिनाया गया है। **अव जभार**=√भृ+लिट् प्र० पु० ए०; तु०— ऋ० १०,११३,५ का **अवाभरत्**। **दानुः**=यहां पर वृत्र की माता के लिये **दानुः** का प्रयोग स्त्री० में किया गया है और इसी प्रकार ऋ० ३,३०,८ के **सहदानुम्** समास में **दानु** शब्द वृत्र की माता के लिये प्रयुक्त हुआ है। परन्तु ऋ० में अन्यत्र **दानु** शब्द का प्रयोग पुं० में हुआ है (दे०—ऋ० २, १२, ११ पर टि०)। सा० √'दो अवखण्डने'+नु प्रत्यय द्वारा **दानु** की व्युत्पत्ति करता है और ग्रा०, ह्विटने प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी इस व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं। श० ब्रा० १, ६, ३, ९, महाभारत तथा पुराणादि में वृत्रादि दानवों की माता का नाम **दनु** बताया गया है जो **दक्ष** की पुत्री तथा **कश्यप** (श० ब्रा०—दनायू) का पत्नी मानी गई है। ऋ० की परम्परा के विकारस्वरूप इस उत्तरकालीन कथा का विकास हुआ प्रतीत होता है। **शये**=√शी+लट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २३६, २); भूतकाल में लट्।

छ०—द्वितीय पाद में अक्षर-परिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा पादादि में **इन्द्रो (वृत्रपुत्रा इन्द्रो)** उच्चारण अपेक्षित है।

१०, अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां	अतिष्ठन्तीनाम् । अनिऽवेशनानाम् ।
काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।	काष्ठानाम् । मध्ये । निऽहितम् । शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो	वृत्रस्य । निण्यम् । वि । चरन्ति । आपः ।
दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥	दीर्घम् । तमः । आ । अशयत् । इन्द्रऽशत्रुः ॥

अनु०— कभी न ठहरने वाली (**अतिष्ठन्तीनाम्**) तथा कहीं विश्राम न करने वाली (**अनिवेशनानाम्**) जल-धाराओं के (**काष्ठानाम्**) बीच (**मध्ये**) वृत्र का शरीर दबा पड़ा था (**निहितम्**) । वृत्र के अन्तर्हित (**निण्यम्**) अर्थात् छिपे हुए शरीर पर से जल (**आपः**) इधर-उधर बहते थे (**विचरन्ति**) । इन्द्र जिसका शत्रु अर्थात् घातक है वह वृत्र (**इन्द्रशत्रुः**) चिरन्तन (**दीर्घम्**) अन्धकार में (**तमः**) लेट गया (**आ अशयत्**) अर्थात् मर गया ।

टि०—**अनिवेशनानाम्**="जिन का **निवेशन** (विश्राम-स्थान) नहीं है उन का"; नञ् बस० होने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९क १); तु०—ऋ० १,३५,२ के **निवेशयत्** पर टि० । **काष्ठानाम्**=यास्क (२, १५) ने **काष्ठा** शब्द के अनेक अर्थों पर विचार करते हुए कहा है—"आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते । क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम्" । यास्क का अनुसरण करते हुए स्क०, वें० तथा सा० आदि यहां पर **काष्ठा** शब्द का अर्थ "जल" करते हैं । ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् यहां पर **काष्ठा** शब्द का अर्थ "जल-धारा" (stream) करते हैं और प्रसंग तथा वैदिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए यही अर्थ समीचीन है । **निण्यम्**=यास्क (२, १६) "निर्णामम्" (दु०—"येनासौ नीचैर्नमति तं प्रदेशम्"); स्क० "अन्तर्हितनामैतत् । अन्तर्हितं मरणभयात् गुप्तं निहितमित्यर्थः । ···अथवा··· निण्यमिति नान्तर्हितनाम । किं तर्हि ? येन प्रदेशेन मेघो नीचैर्नमति छिद्रीभवति तदपां निर्गमनबिलं निण्यम्"; वें० अन्तर्हितम्"; सा० **निण्यम्** को **वृत्रस्य शरीरम्** का वि० मानते हुए व्याख्यान करता है—"कीदृशं शरीरम् ? **निण्यम्** निर्नामधेयम् । अप्सु मग्नत्वेन गूढत्वात् तदीयं नाम न केनापि ज्ञायते" । सा० की भांति ग्रि० भी इस का अनुवाद "nameless (body)" करता है । मै० ने Ved. Gr., p. 40 में इसका अर्थ "inner" और V. R., p. 122 में "secret" किया है, जबकि ग्रा० ने "गुप्त स्थान" अर्थ किया है । गै० ने इस का अनुवाद "रहस्य" किया है, परन्तु टि० में ऋ० १०, १२४, ८ का निर्देश करते हुए **निण्यम्**=गुह्यम् मान कर इस का व्याख्यान "गुप्तांग" (privities) किया है । गै० ने पादस्थ टि० में "रहस्य" का वैकल्पिक व्याख्यान वृत्र की "गुप्त क़ब्र" (hidden grave) भी किया है । निघ० ३, २५ में **निण्यम्**

"निर्णीत तथा अन्तर्हित" के छः नामों में गिनाया गया है। ऋ० में निण्य शब्द के जितने प्रयोग मिलते हैं उन सब के विश्लेषण तथा विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस का मुख्य अर्थ "छिपा हुआ" या "गुह्य" है और जहां-कहीं विशेष्य के बिना केवल इस वि० का प्रयोग हुआ है वहां पर प्रसंगानुसार विशेष्य का अध्याहार अपेक्षित है। वर्तमान प्रसंग में इस के साथ तृतीय पाद के **शरीरम्** का अध्याहार अपेक्षित है। **वि चरन्ति**=यास्क "विजानन्ति"; स्क० "चरतिर्गत्यर्थः। सर्वे च गत्यर्था ज्ञानार्थाः। सामर्थ्याच्चात्रान्तर्णीतण्यर्थता। विज्ञापयन्ति आप आत्मनो मध्ये। ता इन्द्राय प्रकाशयन्ति आप इत्यर्थः। ... अथवा ... विचरन्तीत्यपि शुद्धज्ञानार्थ एव, नान्तर्णीतण्यर्थः। मेघनिर्गमनबिलं विजानन्त्याप इत्यर्थः"; वें० "प्रतिगच्छन्ति"; सा० "विशेषेण उपरि आक्रम्य प्रवहन्ति"। अधिकतर आधुनिक विद्वान् सा० के अर्थ को स्वीकार करते हैं और वैदिक प्रयोग से इस मत की पुष्टि होती है (तु०—ऋ० १, १४६, ३; ५, ६३, २)। भूतकाल में लट्। आ अशयत्=√शी+लङ् प्र० पु० ए० प० (वै० व्या० २३६, २)।

छ०—तृतीय पाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा **चरन्ति आपो** उच्चारण अपेक्षित है।

११.	**दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्**	**दासऽपत्नीः। अहिऽगोपाः। अतिष्ठन्।**
	निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।	**निऽरुद्धाः। आपः। पणिनाऽइव। गावः।**
	अपां बिलमपिहितं यदासीद्	**अपाम्। बिलम्। अपिऽहितम्। यत्। आसीत्।**
	वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥	**वृत्रम्। जघन्वान्। अप। तत्। ववार॥**

अनु०—**दास** अर्थात् निकृष्ट विरोधी वृत्र जिनका नियन्ता था (**दासपत्नीः**) और **अहि** जिनका रक्षक था (**अहिगोपाः**) वे जल, व्यापारी के द्वारा (**पणिना**) रोकी गईं (**निरुद्धाः**) गायों की तरह, रुके (**निरुद्धाः**) खड़े थे (**अतिष्ठन्**)। जलों का (**अपाम्**) जो (**यद्**) बहिर्गमनमार्ग (**बिलम्**) बन्द किया हुआ (**अपिहितम्**) था (**आसीत्**), इन्द्र ने वृत्र को मारा (**जघन्वान्**) और उसे (**तद्**) खोल दिया (**अप ववार**)।

टि०—**दासपत्नीः**=स्क० "दस्यतेरुपक्षयार्थस्य दासः। श्रमादिना उपक्षीणशक्तिः कर्मकरादिः। तस्य पालयित्र्यो दासपत्न्यः। उपक्षीणशक्तिं हि श्रान्तं कर्मकरादिं पीतमात्रा एवापः आप्यायनेन पालयन्ति"; यास्क० (२, १७) तथा वें० "दासाधिपत्न्यः"; सा० "दासः विश्वोपक्षयहेतुः वृत्रः पतिः स्वामी यासाम् ताः दासपत्नीः। ....'दसु उपक्षये'। दासयतीति दासो वृत्रः। पचाद्यच्। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। दासः पतिर्यासाम्। 'विभाषा सपूर्वस्य' (पा० ४, १, ३४) इति ङीप्;

तत्संनियोगेन इकारस्य नकारः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा दासस्य पालयित्र्यः। 'पत्यावैश्वर्ये' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्"; दु० "दासः कर्मकरः, तं हि ता अधिष्ठाय पान्ति रक्षन्ति। स हि कर्मणा श्रान्तः, तासु पीतासु विश्रान्त आप्यायितो भवति"। वास्तव में यह बस० है और यहाँ पर आपः का वि० है। इसका शाब्दिक अर्थ है— "दास (निकृष्ट विरोधी वृत्र) जिनका पति (स्वामी अर्थात् नियन्ता) है वे जल"। ग्रा० प्रभृति आधुनिक विद्वान् तथा वें०, सा० प्रभृति भाष्यकार भी अन्यत्र (तु०— ऋ० ३, १२, ६; ५, ३०, ५; ८, ९६, १८) यही अर्थ करते हैं। दास शब्द का प्रधान अर्थ "निकृष्ट विरोधी, शत्रु" है (तु०— ऋ० २, १२, ४; ७, ८३, १ पर टि०) और यहाँ पर प्रसङ्गानुसार वृत्र के लिये इसका प्रयोग किया गया है। दे० गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ पत्रिका (अङ्क ३४, १९७८ भाग १-२) में हमारा निबन्ध *Dasa Varṇa in the Ṛgveda*। अहिगोपाः=यह बस० भी आपः का वि० है। अहि के लिये दे० ऋचा १।

जघन्वान्=√हन्+क्वसु (वै० व्या० ३३२ क) से बने जघन्वस् का प्रथ० ए० (वै० व्या० १२८ ख)। विशेष वैदिक सन्धि के लिये दे०— वै० व्या० ५२ ख। अप ववार=√वृ+लिट् प्र० पु० ए०।

१२. अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र — अश्व्यः। वारः। अभवः। तत्। इन्द्र।
सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः। — सृके। यत्। त्वा। प्रतिऽअहन्। देवः। एकः।
अजयो गा अजयः शूर सोमम् — अजयः। गाः। अजयः। शूर। सोमम्।
अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्॥ — अव। असृजः। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्॥

अनु०— हे इन्द्र! जब (यत्) वृत्र नें तुम्हारे तीक्ष्ण आयुध पर (सृके) प्रत्याक्रमण किया (प्रत्यहन्), तब (तत्) तुम अश्वसम्बन्धी (अश्व्यः) बाल (वारः) बन गये (अभवः)। तू ने, अद्वितीय (एकः) देव ने, गायों को (गाः) अर्थात् वर्षा जलों को जीता (अजयः)। हे शूर इन्द्र! तू ने सोम को जीता और सात नदियों को (सप्त सिन्धून्) बहने के लिए (सर्तवे) मुक्त किया (अव असृजः)।

विशेष— प्रथम अर्धर्च का भावार्थ सन्दिग्ध है, यद्यपि हमने परम्परागत आनुमानिक शब्दार्थ दे दिया है।

टि०— अश्व्य: वार: अभव:=स्क० "अश्वशब्दोऽत्र 'अथापि ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (नि० २, ५) इत्येवमश्वावयवे पृष्ठे वर्तते। अश्वपृष्ठे साधु: स्थिरयान: अश्व्य:। वार: वाहयिता। अपोहयितरि वारशब्द: प्रसिद्ध: अश्ववार इति। अश्वस्य वा वाहयिताऽश्ववार उच्यते। अथवा शत्रूणां वार: **अभव:**"; वें० "त्वम् अश्वपृष्ठस्थ: दंशानां वारको वाल इव भवसि। शत्रूनुभयतो हंसि"; सा० "त्वम् **अश्व्यो वार:** अश्वसम्बन्धी वाल: अभव:। यथाश्वस्य वालोऽनायासेन मक्षिकादीन्निवारयति तद्वत् वृत्रमगणयित्वा निराकृतवानित्यर्थ:"। ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति अधिकतर आधुनिक विद्वान् सा० का अनुसरण करते हुए "**अश्व्य: वार:**" का व्याख्यान "अश्वसम्बन्धी वाल" अर्थात् "अश्व की पूंछ का बाल" करते हैं। ग्रि० इसका अनुवाद "a horse's tail" करता है और टि० में व्याख्यान करता है कि जैसे घोड़ा अपनी पूंछ से मक्खियाँ उड़ाता है उसी प्रकार इन्द्र अपने शत्रुओं को आसानी से मारता है, तु०—ऋ० १, २७, १। गै० आदि के मतानुसार, इस का अभिप्राय यह है कि इन्द्र अश्व की पूंछ के बाल के सदृश सूक्ष्म बन गया। इस प्रकार का शाब्दिक अर्थ सम्भव है। परन्तु इस प्रयोग के पीछे जो रूपकालंकार है वह स्पष्ट नहीं है और उसके व्याख्यान की आवश्यकता है। **सृके**=स्क० "सृक: (निघ० २, २०) इति वज्रनाम। 'यस्य च भावेन' (पा० २, ३, ३७) इत्येवं चैषा सप्तमी। तच्छ्रुतेश्च लक्षणभूतयोग्यक्रियाध्याहार:। संग्रामनाम वा अपठितोऽपि सामर्थ्यात्। सृकशब्द: वज्रगृहीते संग्रामे वा। ... ... अथवा सृके इति तृतीयार्थे सप्तमी। आयुधसामान्याच्च वृत्रायुधे सृकशब्दो वर्तते। हन्तिश्च वधार्थ एव। सृकेण स्वेनायुधेन यदा त्वां प्रतिहतवान् वृत्र इत्यर्थ:"; वें० "त्वदीये वज्रे"; सा० "सृके वज्रे। 'सृक: वृक:' इति वज्रनामसु पठितत्वात्"। मो० "बाण, भाला" तथा मै० इसका अर्थ "भाला" करता है, जब कि गै० तथा ग्रा० "तीक्ष्ण आयुध" अर्थ करते हैं। यद्यपि सा०, म०, ग्रा० प्रभृति अधिकतर विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति √सृ से और कतिपय विद्वान् √सृज् या √सृक् से मानते हैं, तथापि इस का निर्वचन और अर्थ सन्दिग्ध है। **देव: एक:**=वें० "यदा तव प्रतिबोधनार्थमसुरै: पीड्यमान: कश्चित् देव: त्वां त्वदीये वज्रे निहन्ति"; सा० इन पदों को वृत्र से सम्बद्ध मान कर व्याख्यान करता है—"देव: दीप्यमान: सर्वायुधकुशल: एक: अद्वितीय: वृत्र:", जब कि स्क० अपने वैकल्पिक व्याख्यान में इन पदों को तृतीय पाद के क्रियापदों से अन्वित करते हुए व्याख्यान करता है— "त्वं देव: दानादिगुणयुक्त: एक एव तम् अजय:। गा: तवैव अजय:"। अपने प्रथम व्याख्यान में स्क० ने **प्रत्यहन्** का "प्रतिगतवान्" अर्थ करते हुए "**देव: एक:**" का जो "मरुद्गण:" व्याख्यान किया है वह सर्वथा अनुपयुक्त है। मै० इन पदों को प्रथम तथा द्वितीय पाद के वाक्य में इन्द्र से अन्वित करते हुए इन का अनुवाद "as god unaided" करता है, जब कि गै० इन्हें, स्क० की भांति, तृतीय पाद के क्रिया-पदों से अन्वित

करते हुए इन का अनुवाद "अद्वितीय देव" करता है। ऋ० १०, ८१, ३ ; १०४, ९ ; १२१, ८ इत्यादि के प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए यह व्याख्यान समीचीन है। गाः=गो का द्विती० ब०। यहां पर **गो** शब्द "वर्षा-जल" के लिये प्रयुक्त हुआ है, दे०—ऋ० २, १२, ३ पर टि०। **सर्तवे**=√सृ+तवे (वै० व्या० ३४१ ज)। **सप्त सिन्धून्**=दे०—ऋ० २, १२, ३ पर टि०।

छ०—ग्रा० प्रभृति के मतानुसार, प्रथम पाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये **अश्व्यो** का **अश्विओ** उच्चारण अपेक्षित है।

१३. नास्मैं विद्युन्न तंन्यतुः सिषेध	**न। अस्मै। विऽद्युत्। न। तन्यतुः। सिसेध।**
न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।	**न। याम्। मिहम्। अकिरत्। ह्रादुनिम्। च।**
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चो-	**इन्द्रः। च। यत्। युयुधाते इति। अहिः। च।**
तापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये॥	**उत। अपरीभ्यः। मघऽवा। वि। जिग्ये॥**

अनु०— न बिजली (**विद्युत्**), न मेघगर्जना (**तन्यतुः**) इसके लिये सफल हुई (**सिषेध**); न वह धुन्ध (**मिहम्**) तथा उपलवृष्टि (**ह्रादुनिम्**) सफल हुई जिसे (**याम्**) वृत्र ने बखेरा था (**अकिरत्**)। जब (**यत्**) इन्द्र और वृत्र ने (**अहिः**) युद्ध किया (**युयुधाते**), दानशील इन्द्र ने (**मघवा**) आगामी वर्षों के लिये (**अपरीभ्यः**) अर्थात् सदा के लिये विजय प्राप्त की (**वि जिग्ये**)।

टि०—**न अस्मै सिषेध**=√सिध् "सफल होना" का लिट् प्र० पु० ए०। यद्यपि **विद्युत्** तथा **तन्यतुः** "मेघगर्जना" प्रायेण इन्द्र से सम्बद्ध वर्णित किये गये हैं (तु०— ऋ० १, ५२, ६), तथापि कहीं-कहीं ऐसा भी वर्णन मिलता है कि वृत्र ने इन्द्र के विरुद्ध इन का प्रयोग किया (तु०— ऋ० १, ८०, १२)। अत एव यहां पर वें०, स्क०, सा० प्रभृति भाष्यकार तथा आधुनिक विद्वान् भी यही अर्थ करते हैं कि इन्द्र के विरुद्ध वृत्र की विद्युत्, मेघगर्जना इत्यादि सफल नहीं हुई। **मिहम्**=स्क०, वें०, सा०—"वृष्टिम्"। ग्रा० भी सा० आदि के व्याख्यान को स्वीकार करता है, परन्तु गै०, मै०, ग्रि० प्रभृति आधुनिक विद्वान् यहां पर इस का अर्थ "mist" (धुन्ध) करते हैं और प्रसंगानुसार यही अर्थ अधिक समीचीन है। **ह्रादुनिम्**=वें० तथा सा० "अशनिम्", स्क० "ह्रात्कारः हनहनशब्दः"। ग्रा०, गै०, मै०, ग्रि० तथा कीथ (तै० सं०) प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "hail" या "hail-storm"

(उपल-वृष्टि) करते हैं। ऋ० ५, ५४, ३ तथा मै० सं० ३, ६, १० के प्रयोगों से इस अर्थ की पुष्टि होती है। अकिरत्=√कृ "बखेरना" + लङ् प्र० पु० ए०। युयुधाते=√युध्+लिट् प्र० पु० द्वि० आ०। यद् के योग से यह ति० सोदात्त है और प्रगृह्यसंज्ञक होने के कारण इतिकरण (वै० व्या० ८८ क)। अपरीभ्य:=स्क० "अपरीशब्दोऽन्यवचन:। तादर्थ्ये चात्र चतुर्थी। अन्यासां प्रजानामर्थाय"; वें० "विद्युदादिव्यतिरिक्ताभ्योऽपि मायाभ्य:"; सा० "अपराभ्य: अन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशात्"। ग्रा०, गे०, ग्रि०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "भविष्य में सदा के लिये" करते हैं। ऋ० १, ११३, ११ के भाष्य में स्क० अपरीषु का व्याख्यान "अपरा: पश्चिमा:। आगामिकाला इत्यर्थ:" करता है, जबकि रात्रिषु का अध्याहार करते हुए वें० "उत्तरासु रात्रिषु" और सा० "भाविनीषु रात्रिषु" व्याख्यान करता है। इस शब्द के वैदिक प्रयोगों से स्पष्ट है (तु०— १०. ११७, ३; १८३; ३) कि अपरी शब्द "आगामिनी" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इसके साथ स्त्री० समा "संवत्सर" के यथोचित रूपों का अध्याहार अपेक्षित है (तु०— ऋ० १०, १२४, ४; वा० सं० ४०, ८)। अतएव यहाँ इसका अर्थ है, "आगामी वर्षों के लिये" अर्थात् "सदा के लिये"। वि जिग्ये=√जि + लिट् प्र० पु० ए० आ० (वै० व्या० २५४ ज)।

छं०— चतुर्थ पाद में अक्षरपरिमाण की दृष्टि से सन्धि-विच्छेद द्वारा तृतीय पाद के अन्त में अहिश्च और चतुर्थपाद के आदि में उतापरीभ्यो उच्चारण अपेक्षित है।

१४. अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र — अहे:। यातारम्। कम्। अपश्य:। इन्द्र।
हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्। — हृदि। यत्। ते। जघ्नुष:। भी:। अगच्छत्।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्ती: — नव। च। यत्। नवतिम्। च। स्रवन्ती:।
श्येनो न भीतो अतरो रजांसि॥ — श्येन:। न। भीत:। अतर:। रजांसि॥

अनु०— हे इन्द्र! तू ने वृत्र का (अहे:) कौन-सा (कम्) अनुयायी (यातारम्) अर्थात् समर्थक योद्धा देखा, जिससे (यत्) तुझ (ते) वृत्र-घातक के (जघ्नुष:) हृदय में (हृदि) भय (भी:) समा गया (अगचछत्), और जिससे (यत्) तू भयभीत श्येन पक्षी की भांति (श्येनो न भीत:) निन्यानवे नदियों को (स्रवन्ती:) तथा अन्तरिक्षप्रदेशों को (रजांसि) पार कर गया (अतर:)।

टि०—अहेः यातारम्=स्क० "'यया वज्रिवः' (ऋ० ६, ३७, ४), 'यातेव भीमः' (ऋ० १, ७०, ६) इति प्रयोगदर्शनात् 'वियातः' इति वधकर्मसु पाठात् (तु०— निघ० २, १९) यातिर्वधार्थोऽपि, न प्रापणार्थ एवेति गम्यते। वधकर्मसु हि वियात इत्येतद् याते रूपमभिप्रेतम्, न यातयतेः, भेदेन पठितत्वात्। **अहेर्यातारं** हन्तारं स्वतोऽन्यं **कमपश्यः** हे इन्द्र"; वें० "**अहेः** असुरस्य हन्तारं त्वत्तोऽन्यं **कमपश्यः** इन्द्र"; सा० "**अहेः** वृत्रस्य **यातारं** हन्तारं कमपश्यः। त्वत्तोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि"। रोट, गै०, मै०, ग्रि० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "avenger" ("बदला लेने वाला") करते हैं, जबकि ग्रा० (कोष) ने "pursuer" अर्थ सुझाया है। यहां पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वर्तमान प्रसंग के अन्तोदात्त **यातृ** (√या+तृच्) का यही एक प्रयोग मिलता है, जबकि आद्युदात **यातृ** शब्द के अनेक वैदिक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। आद्युदात्त **यातृ** शब्द का अर्थ प्रायेण "गन्तृ" स्वीकार किया जाता है, परन्तु ऋ० १, ७०, ११ (६) में प्रयुक्त आद्युदात्त **याता** का व्याख्यान स्क० "हन्ता", वें० "प्रहर्ता", सा० "हिंसकः", तथा ग्रा० "सारथि" करता है। उत्तरकालीन संस्कृत में जो सम्बन्धवाचक **यातृ** शब्द प्रयुक्त होता है (तु०— अमरकोश २, ३० भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्) उसका वर्तमान शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान प्रसंग में स्क०, वें०, सा० आदि का "हन्तृ" अर्थ अनुपयुक्त है और "बदला लेने वाला" शब्दार्थ भी नहीं लग सकता, क्योंकि √या का ऐसा अर्थ नहीं निकलता है। वर्तमान प्रसंग में "अनुयायी" अर्थ **यातृ** की व्युत्पत्ति के अनुकूल तथा समीचीन है; तु०— √या से **यावन्** (ऋ० ७, १, ५)। **कथा**— वृत्र-वध के तुरन्त पश्चात् इन्द्र वहां से अदृश्य हो गया। इस तथ्य को ऋषि आलंकारिक वर्णन में प्रस्तुत करते हुए पूछता है— "हे इन्द्र! तुमने वहां पर वृत्र का कौन सा अनुयायी अर्थात् समर्थक योद्धा देखा जिससे तुझ वृत्रघातक के हृदय में भय समा गया और श्येन की भांति तू अतिशीघ्र निन्यानवे नदियों को तथा अन्तरिक्ष-प्रदेशों को पार कर गया"। इसा ऋचा का आलंकारिक वर्णन उत्तरकालीन ग्रन्थों में **इन्द्र-पलायन** की कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है; तु०— ऐ० ब्रा० ३, १५; तै० सं० ६, ५, ५, २; तै० ब्रा० १, ६, ७, ४; श० ब्रा० १, ६, ४, १। **जघ्नुषः**=√हन्+क्वसु (वै० व्या० ३३२ क) से बने **जघन्वस्** का ष० ए० (वै० व्या० १२८ ख)। **अतरः**=√तृ+लङ् म० पु० ए०। यद् के योग से यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ङ)। **रजांसि**=इसके व्याख्यान के लिये दे०— ऋ० १, १९, ३ पर टि०।

१५. इन्द्रो॑ या॒तोऽव॑सितस्य॒ राजा॒	इन्द्रः॑। या॒तः। अव॑ऽसितस्य। राजा॑।
शम॑स्य च शृ॒ङ्गिणो॒ वज्र॑बाहुः।	शम॑स्य। च॒। शृ॒ङ्गिणः॑। वज्र॑ऽबाहुः।
सेदु॒ राजा॑ क्षयति चर्षणी॒नाम्	सः। इत्। ऊँ॒ इति॑। राजा॑। क्ष॒य॒ति॒। च॒र्ष॒णी॒नाम्।
अ॒रान्न ने॒मिः परि॒ ता ब॑भूव॥	अ॒रान्। न। ने॒मिः। परि॑। ता। ब॒भू॒व॥

अनु०— वज्रबाहु इन्द्र जङ्गम का (**यातः**) तथा स्थावर का (**अवसितस्य**), और शान्त का (**शमस्य**) तथा तीक्ष्ण सींगों वाले प्राणिवर्ग का (**शृङ्गिणः**) राजा है। वही राजा मनुष्यों पर शासन करता है (**क्षयति चर्षणीनाम्**)। वह उन सबको (**ता**) अर्थात् स्थावर, जङ्गम आदि को सब ओर से घेरे हुए है (**परि बभूव**) अर्थात् सब ओर से उन की रक्षा करता है, जैसे रथचक्रपरिधि (**नेमिः**) अरों को (**अरान्**) सब ओर से घेरे रहती है।

टि०— यातः अवसितस्य=स्क० "**यातः** गच्छतः जङ्गमस्याश्वादेः। **अवसितस्य** षिञ् बन्धने। अववद्धस्य। स्थावरस्य जङ्गमस्य च इत्यर्थः"; वें० "जङ्गमस्य स्थावरस्य च"; सा० "**यातः** गच्छतो जङ्गमस्य **अवसितस्य** एकत्रैव स्थितस्य स्थावरस्य"। √या+शतृ से बने **यात्** का ष० ए० **यातः** बनता है और अव+√सो+क्त से **अवसित** शब्द बनता है। स्क० आदि द्वारा किया गया इन शब्दों का व्याख्यान समीचीन तथा सर्वमान्य है। **शमस्य शृङ्गिणः**=स्क० "**शमस्य** शान्तस्य च ऋष्यादेः। **शृङ्गिणः** गवादेः। अथवा जङ्गमग्रहणेनैव गवादेः शृङ्गवतो गृहीतत्वात् शृङ्गशब्दोऽत्र दीप्तिवचनः। दीप्तिमतो नक्षत्रादेः"; सा० "**शमस्य शान्तस्य** शृङ्गराहित्येन प्रहरणादावप्रवृत्तस्याश्वगर्दभादेः **शृङ्गिणः** शृङ्गोपेतस्योग्रस्य महिषबलीवर्दादेश्च"। ग्रा० (कोष) **शमस्य** का अर्थ "श्रमशील" करता है और ऋ० १, ३३, १५ के **शमं वृषभम्** को इसी का समानार्थक मानता है। परन्तु गे०, मै०, ग्रि० प्रभृति सा० के भावार्थ का अनुसरण करते हुए **शमस्य** का अर्थ "पालतू का" करते हैं। यदि प्रथम पाद के समान यहाँ पर भी विरोधी अर्थ वाले पदों का मेल माना जाय, तब सा० का अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। **सेदु**=सः+इत्+उ। इस विशेष सन्धि के लिये दे०— वै० व्या० ६०, ३। **चर्षणीनाम्**=दे०— ऋ० ३, ५९, ६ के **चर्षणीधृत्** पर टि०। **क्षयति**=√क्षि "ऐश्वर्ये" +लट् प्र० पु० ए०। **परि बभूव**=दे०— ऋ० १, १, ४ के **परिभूः** पर टि०।

छ०— प्रथमपाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा **यातो अवसितस्य** उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ. १, ३५ (सविता)

ऋषिः— हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । **देवता**—सविता । **छन्दः**—१, ९, जगती; २-८, १०, ११ त्रिष्टुप् ।

१. ह्वया॑म्य॒ग्निं प्र॑थ॒मं स्व॒स्तये॑	ह्वया॑मि । अ॒ग्निम् । प्र॒थ॒मम् । स्व॒स्तये॑ ।
ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णावि॒हाव॑से ।	ह्वया॑मि । मि॒त्रावरु॑णौ । इ॒ह । अव॑से ।
ह्वया॑मि रात्री॒ं जग॑तो नि॒वेश॑नीं	ह्वया॑मि । रात्री॑म् । जग॑तः । नि॒ऽवेश॑नीम् ।
ह्वया॑मि दे॒वं स॑वि॒तार॑मू॒तये॑ ॥	ह्वया॑मि । दे॒वम् । स॒वि॒तार॑म् । ऊ॒तये॑ ॥

अनु०— कल्याण के लिये (**स्वस्तये**) मैं सबसे पहले (**प्रथमम्**) अग्नि का आह्वान करता हूं (**ह्वयामि**)। सहायता के लिये मैं मित्र तथा वरुण को यहाँ पर बुलाता हूं। जगत् को विश्राम देने वाली (**निवेशनीम्**) रात्रि का आह्वान करता हूं। सहायता के लिये (**ऊतये**) मैं सविता देव का आह्वान करता हूं।

टि०— **ह्वयामि**=√ह्वे+लट् उ० पु० ए०। पाद के आदि में आने के कारण तिङन्त पद पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख)। **प्रथमम्**=मैकडानल इसे **अग्निम्** का वि० मानता है। परन्तु सा०, स्क०, गै० तथा ग्रि० प्रभृति विद्वान् इसे "सबसे पहले" अर्थ में क्रियाविशेषण समझते हैं और यही मत समीचीन है। **मित्रावरुणौ**=देवताद्वन्द्व समास होने से दोनों पदों पर उदात्त है (वै० व्या० १८० क; ३९८ क)। **अवसे, ऊतये**=ये दोनों पद √अव् धातु से बने (**अवस्** तथा **ऊति**) कृदन्त शब्दों के च० ए० के रूप हैं; **अवस्**=√अव्+अस्, **ऊति**=√अव्+क्तिन्। भारतीय भाष्यकार इन शब्दों का अर्थ "रक्षण" और पाश्चात्य विद्वान् "सहायता" करते हैं। √रक्ष् के साथ-साथ √अव् के जो वैदिक प्रयोग मिलते हैं उनसे "सहायता" अर्थ का समर्थन होता है।

छ०— प्रथम पाद में अक्षरपूर्ति के लिये, पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, **स्वस्तये** का उच्चारण **सुअस्तये** करना चाहिये (वै० व्या० ४२०)।

२. आ कृष्णेन् रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

आ । कृष्णेन । रजसा । वर्तमानः । निऽवेशयन् । अमृतम् । मर्त्यम् । च । हिरण्ययेन । सविता । रथेन । आ । देवः । याति । भुवनानि । पश्यन् ॥

अनु०— अन्धकारमय (कृष्णेन) अन्तरिक्ष से (रजसा) लौटता हुआ (आ वर्तमानः), अमर देवगण को (अमृतम्) तथा मरणधर्मा प्राणिवर्ग को (मर्त्यम्) विश्राम करने के लिये सुलाता हुआ अथवा अपने-अपने स्थान पर स्थापित करता हुआ अर्थात् उन्हें अपने-अपने स्थान पर व्यक्त या कार्यरत करता हुआ (निवेशयन्), और लोकों को (भुवनानि) देखता हुआ (पश्यन्) सविता देव अपने सुवर्णमय (हिरण्ययेन) रथ पर आता है (आ याति) ।

टि०— मैक्डानल के मतानुसार इसमें तथा अगली दो ऋचाओं में **सविता** को सन्ध्याकाल से सम्बद्ध मानकर वर्णन किया गया है । सा० के मतानुसार प्रातःकाल का वर्णन है, जबकि स्क० ने दोनों प्रकार से व्याख्यान किया है ।

कृष्णेन रजसा=इस ऋचा में **कृष्ण** "काला" शब्द "अन्धकारमय" अर्थ को अभिव्यक्त करता है । यद्यपि **रजसा** का व्याख्यान वें० ने "द्युलोकेन" और स्क० ने "तमसा रात्र्या वा व्याप्ते जगति" किया है, तथापि यहां पर यह शब्द "अन्तरिक्ष" के अर्थ में आया है जैसा कि सा० व्याख्यान करता है—"कृष्णेन रजसा कृष्णवर्णेन लोकेन । ···अन्तरिक्षलोको हि सूर्यागमनात्पुरा **कृष्णवर्णो** भवति । तेनान्तरिक्षमार्गेण", और आधुनिक विद्वान् भी मानते हैं । **रजस्** के सम्बन्ध में ऋ० १, १९, ३ पर टि० देखिये । **आ वर्तमानः**=आ उपसर्ग **वर्तमानः** शानजन्त रूप से अन्वित है । **निवेशयन्**=नि+√विश् के णिजन्त के शत्रन्त का प्रथ० ए० पुं० रूप है । इस का व्याख्यान स्क० ने पहले "स्वव्यापारेषु अभिनिवेशयन्" और वैकल्पिक भाष्य में "स्वापयन्", परन्तु सा० ने "स्वस्वस्थाने ऽवस्थापयन् किया है । आधुनिक विद्वान् स्क० के वैकल्पिक व्याख्यान का अनुसरण करते हुए इस का व्याख्यान "विश्राम करने के लिये सुलाता हुआ" करते हैं । पहला ऋचा के निवेशनीम् शब्द का भी यही भावार्थ है । **भुवनानि**=इस का व्याख्यान सा० "सर्वान् लोकान्" और स्क० "कृताकृतप्रत्यवेक्षणार्थम्···अथवा उत्तरकुरुस्थानि भूतानि" करता है, जबकि ग्रि०, ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इस का व्याख्यान "creatures" या "beings" करते हैं । ऋ० में **भुवन** शब्द "लोक" तथा "भूतसमूह" दोनों का वाचक है । यहां पर इसका "लोक" अर्थ अधिक समीचीन है ।

छ०—आधुनिक विद्वानों के मतानुसार अक्षरपूर्ति के लिये **मर्त्यम्** का उच्चारण **मर्तिअम्**; और सन्धि-विच्छेद से **रथेना** (रथेन+आ) के **आ** का चतुर्थ पाद के आदि में उच्चारण करना चाहिए (वै० व्या० ४२०)।

३. **याति देवः प्रवता यात्युद्वता**	**याति। देवः। प्रऽवता। याति। उत्ऽवता।**
याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।	**याति। शुभ्राभ्याम्। यजतः। हरिऽभ्याम्।**
आ देवो याति सविता परावतो-	**आ। देवः। याति। सविता। पराऽवतः।**
ऽप विश्वा दुरिता बाधमानः॥	**अप। विश्वा। दुःऽइता। बाधमानः॥**

अनु०—सविता देव (कभी) निम्नगामी मार्ग से (**प्रवता**) जाता है (**याति**) और (कभी) ऊर्ध्वगामी मार्ग से (**उद्वता**) जाता है (**याति**)। यजनीय (**यजतः**) अर्थात् पूज्य देव चमकते हुए (**शुभ्राभ्याम्**) घोड़ों के साथ (**हरिभ्याम्**) जाता है (**याति**)। सविता देव सब (**विश्वा**) संकटों को (**दुरिता**) दूर हटाता हुआ (**अप बाधमानः**) बहुत दूर स्थान से (**परावतः**) आता है (**आ याति**)।

टि०—**प्रवता, उद्वता=प्र** तथा **उद्** उपसर्ग के साथ **वत्** प्रत्यय (पा० ५, १, ११८) जोड़ने से बने **प्रवत्** तथा **उद्वत्** प्रातिपदिकों के तृ० ए० के रूप हैं। इन पदों का व्याख्यान करते हुए सा० कहता है—"**प्रवता** प्रवणवता मार्गेण **याति** गच्छति। तथा **उद्वता** उत्कृष्टेनोर्ध्वदेशयुक्तेन मार्गेण **याति**। उदयानन्तरम् आमध्याह्नमूर्ध्वो मार्गः, तत उपरि आसायं प्रवणो मार्ग इति विवेकः।" वें० कहता है—"प्रवणेन मार्गेण प्रातः। यात्यनन्तरमुन्नतः।" स्क० इन पदों को रथ के वि० मानते हुए व्याख्यान करता है—"प्रवता...शीघ्रयायिना। उद्वता ऊर्ध्वगामिना"। सा० का अनुसरण करते हुए मै० तथा ग्रि० आदि विद्वान् **प्रवता** का अनुवाद "निम्नगामी मार्ग से" और **उद्वता** का अनुवाद "ऊर्ध्वगामी मार्ग से" करते हैं। गै० प्रभृति कतिपय आधुनिक विद्वान् इन्हें क्रियाविशेषण समझते हैं। गै० ने **प्रवता** का अनुवाद "आगे का ओर" और **उद्वता** का "ऊपर की ओर" किया है। दे०—ऋ० १०, १४, १ के **प्रवतः** पर टि०। **यजतः**=√यज्+अत (वै० व्या० ३५४ क)="यजनीय" अर्थात् पूज्य। **परावतः**

=**परावत्** का पं० ए०। **दुरिता**=**दुरित** "संकट" नपुं० का द्विती० ब० (वै० व्या० १३८ क० ४)। **विश्वा**=**विश्व** का द्विती० ब०। **याति**=प्रथम पाद तथा द्वितीय पाद के आदि में आने वाले तिङन्त पद पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख), और प्रथम पाद का द्वितीय **याति** नये वाक्य को आरम्भ करता है इस लिये उस पर भी उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ग)।

४. अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं अभिऽवृतम्। कृशनैः। विश्वऽरूपम्।
हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्। हिरण्यऽशम्यम्। यजतः। बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः आ। अस्थात्। रथम्। सविता। चित्रऽभानुः।
कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः॥ कृष्णा। रजांसि। तविषीम्। दधानः॥

अनु०— अन्धकारमय (**कृष्णा**) अन्तरिक्ष-प्रदेशों (**रजांसि**) तथा पराक्रम (**तविषीम्**) को धारण करता हुआ (**दधानः**), देदीप्यमान प्रकाशवाला (**चित्रभानुः**) [पूज्य (**यजतः**) सविता देव मोतियों से (**कृशनैः**) सुसज्जित (**अभीवृतम्**), सब रूपों वाले (**विश्वरूपम्**), विशाल (**बृहन्तम्**) तथा सुवर्णमय कील वाले (**हिरण्यशम्यम्**) रथ पर आरूढ़ हुआ है (**आ आस्थात्**)।

टि०— **अभीवृतम्**=अभि+√वृ+क्त, ग्रासमैन के मतानुसार। परन्तु सा० अभि+√वृत्+क्विप् मानता है। छन्दःपरिमाण की आवश्यकता के अनुसार **अभि** उपसर्ग के **इ** का संहितापाठ में दीर्घरूप है। पपा० में ह्रस्व है। इसका व्याख्यान सा० ने "अभितो वर्तमानम्" किया है। परन्तु **कृशनैः** से इसका अन्वय करते हुए, स्क० "सुवर्णखचितम्" और वें० "परिवृतं हिरण्यैः" व्याख्यान करते हैं। गैल्डनर, मै०, ग्रि० प्रभृति आधुनिक विद्वान् **कृशनैः** से अन्वय करते हुए **अभीवृतम्** का अर्थ "सुसज्जित" (decked) करते हैं। जैसा कि वें० ने "**परिवृतम्**" व्याख्यान किया है, उसी के अनुरूप "घिरा हुआ" इत्यादि अर्थों में **अभीवृत** शब्द का प्रयोग ऋ० में मिलता है और ग्रा० भी इसी मत का पोषक है। "सुसज्जित" इत्यादि इसके गौण अर्थ हैं। **कृशनैः**=सा०, स्क० तथा वें० इसे **सुवर्ण** या **हिरण्य** का वाचक मानते हैं और निघण्टु (१, २) में भी यह शब्द **हिरण्य** के नामों में गिनाया गया है। परन्तु ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इसे "मोती" का वाचक समझते हैं और इस मत के समर्थन में ऋ० १०, ६८, ११; १२६, ४; ७, १८, २३; अ० ६, १०, ७ इत्यादि में इस शब्द के प्रयोग का निर्देश किया जाता है। मै० का मत है कि ऋ० १०, ६८, ११ की

भांति यहाँ पर मोतियों के रूपक द्वारा तारों का वर्णन है । **विश्वरूपम् हिरण्यशम्यम्, चित्रभानुः**=बहुव्रीहि समास होने के कारण इन तीनों के पूर्वपद पर उदात्त है। मै० के मतानुसार **हिरण्यशम्यम्** के उत्तरपद में **शमी** शब्द है जिसके रूप **रथी** की भांति चलते हैं (वै० व्या० १८३) । वास्तव में इसका उत्तरपद **शम्या है,** दे०— ऋ० ३, ३३, १३ पर टि० । रथ के जुए के छिद्र में डालने की कील को **शम्या** कहते हैं जिसके लिये अमर-कोष में "युग-कीलक" शब्द आया है । **आ अस्थात्**=√स्था+लुङ् प्र० पु० ए० । **कृष्णा रजांसि**=देखिये द्वितीया ऋचा पर तथा ऋ० १, १९, ३ में **रजस्** शब्द पर टि० । मै० ने इन दोनों शब्दों का समन्वित अर्थ "अन्धकार" किया है । **कृष्णा = कृष्णानि । दधानः**= √धा+शानच् । **रथम्**=गै० का मत है कि इस ऋचा में **रथ** के रूपक द्वारा रात्रि का वर्णन है।

५. वि जना॑ञ्छ्या॒वाः शि॑ति॒पादो॑ अख्यन्	वि । जना॑न् । श्या॒वाः । शि॒ति॒ऽपादः॑ । अ॒ख्य॒न् ।
रथं॒ हिर॑ण्यप्रउगं॒ वह॑न्तः ।	रथ॑म् । हिर॑ण्यऽप्रउगम् । वह॑न्तः ।
शश्व॒द्विशः॑ सवि॒तुर्दैव्य॑स्यो-	शश्व॑त् । विशः॑ । स॒वि॒तुः । दैव्य॑स्य ।
पस्थे॒ विश्वा॒ भुव॑नानि तस्थुः ॥	उ॒पऽस्थे॑ । विश्वा॑ । भुव॑नानि । त॒स्थुः ॥

अनु०— सुवर्णमय अग्रभाग वाले (**हिरण्यप्रउगम्**) रथ को खींचते हुए (**वहन्तः**), श्वेत पांव वाले (**शितिपादः**) तथा कृष्ण वर्ण वाले (**श्यावाः**) (सविता के अश्वों ने) लोगों को (**जनान्**) भली भांति देख लिया है (**वि अख्यन्**) । सारी प्रजाएँ (**विशः**) तथा सब लोक (**विश्वा भुवनानि**) सदा दिव्य सविता की गोद में (**उपस्थे**) स्थित हैं (**तस्थुः**) ।

टि०— श्यावाः= इसका व्याख्यान सा० "सूर्याश्वाः" करता है और निघण्टु (१, १५) से "श्यावाः सवितुः" उद्धृत करता है। स्क० तथा वें० इसका व्याख्यान "श्याववर्णाः ··· ··· ··· अश्वाः" करते हैं। यही मत अधिक समीचीन है और लगभग सभी आधुनिक विद्वान् इसे स्वीकार करते हैं। **श्यावाः** वि० के अर्थ को पूरा करने के लिये **अश्वाः** का अध्याहार आवश्यक है । **शितिपादः**=वें० तथा स्क० "श्वेतपादाः" (अश्वाः); इस **बस०** में अपवाद-स्वरूप उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० ३) । **हिरण्यप्रउगम्**= "सुवर्णमय प्रउग वाले (रथ) को" । **प्रउगम्** का व्याख्यान करते हुए सा० कहता है— "रथस्य मुखम् ईषयोरग्रं युगबन्धनस्थानं प्रउगमुच्यते" । **मैक्डानल प्रउग** का अनुवाद "pole" करता है और

गैल्डनर ने भी इसके लिये pole के समानार्थक जर्मन शब्द का प्रयोग किया है। विल्सन तथा उसका अनुकरण करते हुए ग्रि० आदि विद्वानों ने **प्रउग** का अनुवाद "yoke" किया है। **प्रउग** "जुआ" नहीं है, अपितु रथ का वह अग्रभाग है जिस पर जुआ बांधा जाता है। वा० प्रा० (४, १२८) "प्रउगमिति यकारलोपः" के अनुसार **प्रयुग** के यकार का लोप हो जाता है। प्रयुज्यते धूरस्मिन् इति प्रयुगम्। **वि+अख्यन्**=√ख्या+अङ् लुङ् प्र० पु० ब०। इसका व्याख्यान सा० "विशेषेण प्रकाशितवन्तः" और स्क० "विविधं प्रकाशयन्ति" करते हैं, परन्तु आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "विशेषतया विविध प्रकार से देख लिया है" करते हैं। ऋ० १०, ४५, ८ तथा ४, १६, ६ के भाष्य में सा० भी इस धातुरूप का ऐसा ही व्याख्यान करता है। **तस्थुः**=√स्था+लिट् प्र० पु० ब०। पाद में अतिङन्त पद से परे आने के कारण ये दोनों तिङन्त सर्वानुदात्त हैं (वै० व्या० ४१३ क)। **दैव्यस्य**=इसका व्याख्यान सा० "इतरदेवसम्बन्धिनः", स्क० "देव एव दैव्यः। अथवा देवेषु दिवि वा भवो दैव्यः। तस्य दैव्यस्य", और वें० "दिवि भवस्य" करता है। **विशः**= सा० "प्रजाः", स्क० "मनुष्याः", वें० "दिशः" व्याख्यान करता है। मैक्डानल आदि आधुनिक विद्वान् "विशः" का अनुवाद "settlers" करते हैं। परन्तु ग्रासमैन तथा गैल्डनर इसका व्याख्यान "मनुष्य-जातियां" करते हैं। ग्रि० "all men" अनुवाद करता है।

६. तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ	तिस्रः। द्यावः। सवितुः। द्वौ। उपऽस्था।
एका यमस्य भुवने विराषाट्।	एका। यमस्य। भुवने। विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुः	आणिम्। न रथ्यम्। अमृता। अधि। तस्थुः।
इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्॥	इह। ब्रवीतु। यः। ऊँ इति। तत्। चिकेतत्॥

अनु०— तीन स्वर्ग हैं (**तिस्रो द्यावः**)। उनमें से दो स्वर्ग सविता की दो गोदों (**द्वा उपस्था**) (के रूप में हैं)। एक स्वर्ग यम के लोक में (**यमस्य भुवने**) मनुष्यों को अभिभूत करने वाला है (**विराषाट्**)। जैसे रथ का ढांचा (**रथ्यम्**) पहिये को धुरे से निकलने से रोकने वाली कील (**आणिम्**) पर आश्रित है, उसी प्रकार सब अमर वस्तुएं (**अमृता**) (उस सविता देव पर) ठहरी हुई हैं (**अधि तस्थुः**)। जो इसे जान सकता हो (**चिकेतत्**) वह यहाँ पर बताये (**ब्रवीतु**)।

टि०— उपस्थाँ = द्वितीय पाद के आदि में आने वाले ए के साथ **उपस्था** के अन्तिम **आ** की वृद्धिसन्धि को रोकने के लिये इस **आ** का **अनुनासिक** बना दिया गया है (वैं० व्या० ४१. १)। यह विशेष अनुनासिकत्व भी इस तथ्य का एक और प्रमाण है कि "मूल ऋ० में निरन्तर सन्धि की अभिव्याप्ति केवल एक पाद तक ही रही होगी" (वैं० व्या० ३६ क)। **उपस्था** को **उपस्थ** का स० ए० का रूप मानते हुए, इसका व्याख्यान सा० "समीपस्थाने", स्क० "समीपे" और वें० "उत्सङ्गे" करता है। परन्तु ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल आदि आधुनिक विद्वान् **उपस्था** को **उपस्थ** का प्रथ० द्वि० मानते हैं और पुं० **द्वौ** के प्रयोग को इसी से अन्वित करते हैं, अन्यथा **द्यावौ** के साथ स्त्री० **द्वे** रूप आना चाहिये था। सा० ने इस समस्या के समाधान के लिये **द्वौ** के साथ **लोकौ** का अध्याहार करके व्याख्यान किया है। **तिस्रो द्याव:**=**द्यो** स्त्री० का प्रथ० ब० **द्याव:** बनता है (वैं० व्या० ११९, १४७)। परन्तु तीन द्युलोक कौन से हैं ? विद्वानों ने इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं। सा० कहता है— "स्वर्गोपलक्षिता: प्रकाशमाना लोका: त्रिसंख्याका: सन्ति" और स्क० का मत है— "द्युशब्दोऽत्र दिवोऽवयवेषु देवस्थानेषु वर्तते। त्रीणि दिवोऽवयवभूतानि स्थानानि सवितु:। अथवा इत एव दर्शनाद् दिवो बहुत्वं प्रतिपत्तव्यम्। ··· ··· ··· अथवा द्युसाहचार्यात् त्रयो लोका अत्र तिस्रो दिव उच्यन्ते"। मैक्डानल के मतानुसार, यहां पर **द्याव:** सम्भवत: एकशेष का प्रयोग होते हुए **द्युलोक, अन्तरिक्ष** तथा **पृथिवी** को अभिव्यक्त करता हैं। गैल्डनर के मतानुसार, यहां पर **तिस्रो द्याव:** का अभिप्राय पृथिवी, दृश्य तथा विपरीत, और अदृश्य द्युलोक हैं। परन्तु ग्रासमैन (कोष), जिसका व्याख्यान स्क० के पूर्व मत से मिलता हैं, कहता है कि यहां पर **तिस्रो द्याव:** उत्तम, मध्यम तथा अधम द्युलोकों को अभिव्यक्त करता है जिनका निर्देश ऋ० ५, ६०, ६ इत्यादि में भी मिलता है (तु०— ऋ० ७, ८७, ५; १०१, ४)। ऋ० ७, ८७, ५ में प्रयुक्त "तिस्रो द्याव:" का व्याख्यान सा० भी इसी प्रकार करता है— "तिस्र त्रिप्रकारा उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधा: द्याव: द्युलोका:"। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ग्रासमैन का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता हैं, परन्तु दूसरा व्याख्यान भी सम्भव है। **विराषाट्**=**विरासह्** का प्रथ० ए० मानते हुए, सा० इसका व्याख्यान "विरान् गन्तॄन् सहते। प्रेता: पुरुषा अन्तरिक्ष-मार्गेण यमलोके गच्छन्तीत्यर्थ:"। परन्तु स्क० इसके व्याख्यान में कहता है— "विपूर्वस्य राजतेर्दीप्त्यर्थस्येदं रूपम्। विविधं दीप्ता:"। ग्रासमैन, गैल्डनर, मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, यह **विरा-सह्** प्रातिपदिक का प्रथ० ए० है जिसमें **वीर** का **विर** बनकर **अ** का दीर्घ (**विरा**) हो गया है। इस पद का अर्थ "मनुष्यों को अभिभूत करने वाली" किया जाता है। इस व्युत्पत्ति के समर्थन में ऋ० ९, ८८, २ **भुरिषाट्** पद उद्धृत किया जाता है जिसमें **भूरि** के **ऊ** का ह्रस्व माना जाता है। सन्देह के कारण पपा० में इस समास में

अवग्रह नहीं दिखाया गया है। **आणिं न रथ्यम्**=यहाँ पर न निपात "इव" के अर्थ में उपमावाचक है। **आणिम्** का व्याख्यान करते हुए सा० कहता है— "रथाद् बहिर् अक्षच्छिद्रे प्रक्षिप्तः कीलविशेष आणिरुच्यते"। इसी प्रकार का व्याख्यान स्क० करता है— "चक्रस्याक्षान्निर्गमननिरोधार्थः कील आणिरुच्यते"। सा० तथा स्क० **रथ्यम्** को **आणिम्** का वि० मान कर व्याख्यान करते हैं। और ग्रासमैन तथा मैक्डानल आदि आधुनिक विद्वान् इस मत को स्वीकार करते हैं। तदनुसार ग्रि० इसका अनुवाद "linch-pin" और मै० "axle-end" करता है। परन्तु गै० कहता है कि **रथ्यम् आणिम्** का वि० भी हो सकता है और कर्ता के अर्थ में अर्थात् "रथ का अङ्ग" (रथ का ढांचा ?) अर्थ में लिया जा सकता है। **ब्रवीतु**= √ब्रू+लोट् प्र० पु० ए०। **चिकेतत्**=√चित् (धापा० √कित्) के लिङ्ङ्ग से लेट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २५९ ख)। उ=पपा० में इसे ॐ इति के द्वारा दिखाया जाता है (वै० व्या० ८८ क)। इस ऋचा का भावार्थ दुरूह है।

७. **वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद्**	**वि। सुऽपर्णः। अन्तरिक्षाणि। अख्यत्।**
गभीरवेपा असुरः सुनीथः।	**गभीरऽवेपाः। असुरः। सुऽनीथः।**
क्वे॒दानीं सूर्यः कश्चिकेत	**क्व। इदानीम्। सूर्यः। कः। चिकेत।**
कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान॥	**कतमाम्। द्याम्। रश्मिः। अस्य। आ। ततान॥**

अनु०— सुन्दर किरणों वाले (**सुपर्णः**), गहरी अन्तःप्रेरणा वाले (**गभीरवेपाः**), प्राणवान् (**असुरः**) तथा अच्छा पथ-प्रदर्शन करने वाले (**सुनीथः**) देव ने अन्तरिक्ष-प्रदेशों को (**अन्तरिक्षाणि**) भली भांति देख लिया है (**वि अख्यत्**)। अब (रात्रि में) सूर्य कहाँ है ? इस बात को कौन जानता है (**चिकेत**) ? उसका रश्मिसमूह कौन से द्युलोक में (अर्थात् द्युलोक के कौन से भाग में) फैल गया है (**आ ततान**) ?

टि०— **सुपर्णः**= पूर्वपद में सु आने के कारण इस बस० के उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क. १)। इसका व्याख्यान स्क० "सुपतनः सुगमनः सविता। अथवा सुपर्ण इति रश्मिनाम। सामर्थ्याच्चान्तर्णीतमत्वर्थः। सुपर्णवान् रश्मिवान्" करता है। परन्तु सा० इसका अर्थ **रश्मि** करता है— "शोभनपतनः सूर्यस्य रश्मिः। 'सुपर्णाः' ? इति पञ्चदश रश्मिनामानि (निघण्टु १, ५) इति तन्नामसु पठितत्वात्"। "सुन्दर पंखों वाला" अर्थ करते हुए मैक्समूलर तथा मै० **सुपर्णः** का अनुवाद "पक्षी" और गै० "गरुड़" करता है। ग्रा० (कोष) इसे

सूर्य का वाचक समझता है। यही व्याख्यान उचित है और **सुपर्णः** का शाब्दिक अर्थ "सुन्दर रश्मियों वाला" है, जैसा कि मो० ने भी माना है। **गभीरवेपाः**=बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। इसका व्याख्यान वें० "गम्भीरवेगः", स्क० "गभीरकर्मा" और सा० "गम्भीरकम्पनः" करता है। ऋ० १०, ६२, ५ में इसका समानार्थक जो **गम्भीरवेपसः** पद **ऋषयः** के वि० के रूप में आया है उसका व्याख्यान सा० "गम्भीरकर्माणः" करता है। मै० इसका अनुवाद "of deep inspiration" करता है और ग्रा० तथा मो० के व्याख्यान का भावार्थ इसी के समान है। गै० के मतानुसार इस शब्द का अर्थ वैसा ही है जैसा कि **विप्र** का जो ऋ० ६, ५१, २ में सूरः "सूर्य" का वि० है। निघण्टु ३, १५ तथा अनेक भारतीय विद्वान् **विप्र** का अर्थ "मेधावी" करते हैं, जब कि आधुनिक मत के अनुसार इस का मौलिक अर्थ "अन्तःप्रेरणा वाला" है और **"मेधावी"** गौण है। **असुरः**=ऋ० आदि में यह शब्द अनेक देवताओं के वि० के रूप में प्रयुक्त होता है और उत्तरकालीन—"देवों का विरोधी" (सुर का नञ्तत्पुरुष समास)—अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता है। इस का व्याख्यान सा० " 'असु क्षेपण' अस्यति शत्रून् इत्यसुरः। यद्वा असून् प्राणान् राति ददातीत्यसुरः", स्क० "प्रज्ञावान्" और वें० "प्राज्ञः" करता है। इस का अनुवाद मैक्समूलर "*divine*" तथा मैक्डानल "the divine spirit" करता है और ग्रा० तथा मो० द्वारा निर्दिष्ट अर्थ भी ऐसा ही है। यास्क (३, ८) के मतानुसार **असु** "प्राण" के साथ मत्वर्थीय **र** प्रत्यय जोड़ने से (वै० व्या० १९८) **असुर** शब्द "प्राणवान्" अर्थ में बनता है; तु०—तै० ब्रा० २, ३, ८, २। "प्राणवान्" मौलिक अर्थ से "बलवान्" गौण अर्थ का विकास हुआ (दशमी ऋचा के भाष्य में वें० इस का व्याख्यान "बली" करता है)। और जो लोग अपनी बलवत्ता के अहंकार में **धर्म** का उल्लंघन करके मनमानी करने लगे उन्हें लोग घृणा से **असुर** कहने लगे। उस परिस्थिति से यह व्युत्पत्ति प्रचलित हुई कि जो अपने प्राणों में आनन्द लेता है वह **असुर** है (तु०—जैमिनीय उपनिषद् ३, ३५, ३)। अवेस्ता में **असुर** का सजात्य **अहुर** शब्द **"श्रेष्ठ देव"** के नाम के रूप में मिलता है। **सुनीथः**=पूर्वपद में **सु** आने से इस बस० के उत्तरपद पर उदात्त है। इस का व्याख्यान स्क० तथा वें० "प्रशस्यः" करते हैं, परन्तु सा० "सुनयनः शोभनप्रापणः" करता है और लगभग सभी आधुनिक विद्वान् सा० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं जो समीचीन है। **क्व** के स्वतंत्र स्वरित से परे उदात्त आने पर स्वतन्त्र स्वरित को अंकित करने की पद्धति के लिये दे०—वै० व्या० ३९१, ६। **इदानीम्**="अब"। इस का अभिप्राय है "अब रात्रि के समय", जैसा कि सा० तथा स्क० मानते हैं। **चिकेत**=√चित् (धापा०√कित्)+लिट् प्र० पु० ए०। **द्याम्**=द्यो का द्वितीo ए०। **रश्मिः**="रश्मि-समूह", यहां पर जाति में ए० आया है। **आ ततान**=√तन्+लिट् प्र० पु० ए०। गै० के मतानुसार इस ऋचा में सूर्य का वर्णन है; तु०—श० १३, २, ९। **वि अख्यत्**=सा० यहां पर भी इस का व्याख्यान "विशेषेण प्रकाशितवान्" और स्क० "विविधं प्रकाशितवान्" करता है।

छ०—अक्षरपूर्ति के लिये, ग्रा०, मै० आदि के मत के अनुसार, सन्धि-विच्छेद द्वारा अन्तरिक्षाणि अख्यत्, क्वेदानीम् का कुएदानीम् और सूर्य का सूरिग्रः उच्चारण करना चाहिए (वै० व्या० ४२०)।

८. अ॒ष्टौ व्य॑ख्यत्क॒कुभः॑ पृथि॒व्यास्	अ॒ष्टौ । वि । अ॒ख्य॒त् । क॒कुभः॑ । पृ॒थि॒व्याः ।
त्री धन्व॒ योज॑ना स॒प्त सिन्धू॑न् ।	त्री । धन्व॑ । योज॑ना । स॒प्त । सिन्धू॑न् ।
हि॒र॒ण्या॒क्षः स॑वि॒ता दे॒व आगा॒द्	हि॒र॒ण्य॒ऽअ॒क्षः । स॒वि॒ता । दे॒वः । आ । अ॒गा॒त् ।
दध॒द्रत्ना॑ दा॒शुषे॒ वार्या॑णि ॥	दध॑त् । रत्ना॑ । दा॒शुषे॑ । वार्या॑णि ॥

अनु०— सविता देव ने पृथिवी की (**पृथिव्याः**) आठ दिशाओं (**अष्टौ ककुभः**), कोसों तक फैले हुए (**योजना**) तीन मैदानों (**त्री धन्व**), तथा सात नदियों को (**सप्त सिन्धून्**) को भली भांति देख लिया है (**वि अख्यत्**)। सुवर्णमय आंखों वाला (**हिरण्याक्षः**) सविता देव उपासक के लिये (**दाशुषे**) प्रिय धन (**रत्ना**) तथा वरणीय वस्तुएँ (**वार्याणि**) प्रदान करता हुआ (**दधत्**) आया है (**आ अगात्**)।

टि०—अष्टौ ककुभः=ककुभ् का द्विती० ब०। स्क०, वें०, सा०, उवट तथा महीधर इस का व्याख्यान "दिशः" करते हैं। निघण्टु १, ६ में भी **ककुभः** दिशा के नामों में गिनाया गया है। विलसन, ग्रि० तथा मैक्समूलर इसी व्याख्यान का अनुसरण करते हैं। परन्तु ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "शिखर" करते हैं। यद्यपि ऋ० ४, १९, ४ के "ककुभः पर्वतानाम्" के प्रयोग में **ककुभः** का "शिखर" अर्थ उपयुक्त है और इसी प्रकार यत्र-तत्र इस शब्द का अर्थ "उन्नत भाग" लगाया जा सकता है, तथापि **पृथिवी** के सम्बन्ध में ऐसा अर्थ प्रायेण नहीं घटता है। पृथिवी के "आठ शिखर" कौन से हैं? चाहे **ककुभ्** का मौलिक अर्थ "उन्नत भाग या शिखर" रहा होगा, फिर भी वैदिक ऋषि दिशाओं को अभिव्यक्त करने के लिये इस का आलंकारिक प्रयोग करते हैं। दिशाएं भी तो **पृथिवी** के "उन्नत भाग" ही हैं, गढे तो नहीं हैं। ऋ० ७, ९९, २ के **प्राचीं ककुभं पृथिव्याः** "पृथिवी की पूर्व दिशा को" प्रयोग में **ककुभ्** शब्द निश्चय ही दिशावाचक है। **त्री धन्व योजना**=इन तीनों पदों के अन्वय तथा व्याख्यान के विषय में मतभेद है। इस विषय में स्क० कहता है "त्रीणि च धन्वानि। धन्वेत्यन्तरिक्षनाम। अत एव च दर्शनादन्तरिक्षाणां त्रित्वं प्रतिपत्तव्यम्। तदवयवेषु वाद्यमध्यमान्तेषु धन्व शब्दो वर्तते। साहचर्याद् वा त्रयो लोकास्त्रीणि धन्वान्युच्यन्ते। **योजना**। युज्यन्ते एभिः मनुष्यास्तत्फलैरिति योजनानि कर्माणि।" सा०

भी इन को तीनों लोकों से सम्बद्ध करते हुए कहता है—"**योजना** प्राणिनः स्वस्वभागेन योजयितॄन् **धन्व** अन्तरिक्षोपलक्षितान् **त्री** त्रिसंख्यकान् पृथिव्यादिलोकान्।" मैक्समूलर **त्री** को योजना से अन्वित करते हुए—"three miles of land" अनुवाद करता है, जबकि ग्रि० ने "three desert regions" अनुवाद किया है। परन्तु मै० **त्री** को **धन्व** से अन्वित करके अनुवाद करता है—"the three wastelands, the leagues." गै० भी **त्री** को **धन्व** के साथ अन्वित करते हुए और **धन्व** का अर्थ "मैदान" करते हुए अनुवाद करता है—"मीलों तक विस्तृत (**योजना**) तीन मैदान"। **धन्व** पद **धन्वन्** का और **योजना योजन** का द्विती० ब० है। **धन्वन्** शब्द प्रधानतया "प्रमुख भूमि" के लिये प्रयुक्त होता है और प्रसंगवश कहीं-कहीं "मरुभूमि" को भी अभिव्यक्त करता है। यहां पर **त्री** को **धन्व** के साथ अन्वित करना उपयुक्त है और **योजना** को भी इसी के साथ जोड़ना चाहिए; तु०--ऋ० १०, ८६, २०। चार कोस की दूरी को **योजन** कहते हैं। परन्तु यह रहस्य स्पष्ट नहीं है कि "**त्री धन्व**" से ऋषि का क्या अभिप्राय है। **सप्त सिन्धून्**=यद्यपि सा० तथा स्क० इन पदों का व्याख्यान "सात नदियां या सात समुद्र" करते हैं और स्क० विकल्प से "सप्तभी रश्मिभिः" व्याख्यान भी करता है, तथापि ऋ० में इन के प्रयोग से स्पष्ट है कि "सात नदियां" अर्थ समीचीन है; दे०-ऋ० २, १२, ३ पर टि०। **हिरण्याक्षः**=इस बस० के उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क)। आ **अगात्**= √गा (पा० √इण्)+विकरण-लुग्-लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६५ क); तु०—ऋ० २, ३८, ४,। **दधत्**=√धा+शतृ+प्रथ० ए० पुं०। **रत्ना**=**रत्न** का द्विती० ब० ; दे०—ऋ० १, १,१ पर टि०।

दाशुषे=**दाश्वस्** का च० ए० (वै० व्या० १२८ ख); दे०—ऋ० १, १, ६ पर टि०।

छ०—आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये प्रथमपाद में सन्धिविच्छेद द्वारा **वि अख्यत्** उच्चारण होगा, द्वितीय पाद में मै० के मतानुसार **त्री** का उच्चारण दो अक्षर वाला है परन्तु ग्रा० के मतानुसार **धन्व** का उच्चारण **धनुअ** होगा, और चतुर्थ पाद में **वार्याणि** का उच्चारण **वारिआणि** करना चाहिए।

९. **हिर॑ण्यपाणिः सवि॒ता विच॑र्षणिर्**	**हिर॑ण्यऽपाणिः । स॒वि॒ता । विऽच॑र्षणिः ।**
उ॒भे द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरी॑यते ।	**उ॒भे इति॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । अ॒न्तः । ई॒य॒ते ।**
अपामी॑वां बाध॑ते वेति॒ सूर्य॑म्	**अप॑ । अमी॑वाम् । बाध॑ते । वेति॑ । सूर्य॑म् ।**
अ॒भि कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा द्यामृ॑णोति ॥	**अ॒भि । कृ॒ष्णेन॑ । रज॑सा । द्याम् । ऋ॒णो॒ति॒ ॥**

अनु०— सुवर्णमय हाथों वाला (**सुवर्णपाणिः**) अर्थात् सोने जैसी किरणों वाला, सबको भलीभांति देखने वाला (**विचर्षणिः**), सविता देव द्युलोक और पृथिवीलोक (**द्यावापृथिवी**) दोनों (**उभे**) के बीच (**अन्तः**) चलता है (**ईयते**)। वह रोग को (**अमीवाम्**) दूर हटाता है (**अप बाधते**), सूर्य को प्रेरित करता है (**वेति**), तथा अन्धकारमय अन्तरिक्ष में से (**कृष्णेन रजसा**) द्युलोक में (**द्याम्**) व्याप्त हो जाता है (**अभि ऋणोति**)।

टि०— **हिरण्यपाणिः** = बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९)। यहाँ पर **पाणि** शब्द आलंकारिक रूप में किरणों के लिये प्रयुक्त किया गया है।

विचर्षणिः = इसका व्याख्यान उवट तथा महीधर "विविधं द्रष्टा कृताकृतप्रत्यवेक्षकः", स्क० "कृताकृतस्य विद्रष्टा", वें० "जगतोऽपि द्रष्टा", और सा० "विविधदर्शनयुक्तः। विचर्षणिः पश्यत्यर्थः। 'विचर्षणिः विश्वचर्षणिः' (निघण्टु ३, ११) इति तन्नामसु पाठात्" करता है। ग्रा०, मो० तथा मै० इसका अर्थ "क्रियाशील" (active) करते हैं, जबकि गै० इसका अनुवाद "श्रेष्ठ" (excellent) करता है। वै० प० को० में इसका अर्थ "विशिष्टदीप्तिमत्" दिया गया है। यह शब्द अग्नि, इन्द्र, सविता, सोम, मित्र तथा वरुण के वि० के रूप में ऋ० में प्रयुक्त होता है। एक बार मरुतों के लिये भी इसका प्रयोग मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् **विचर्षणि** को **चर्षणि** से बना समस्त पद मानते हैं और **चर्षणि** शब्द ऋ० में "क्रियाशील" अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋ० के अधिकतर प्रयोगों में सा० **विचर्षणि** का व्याख्यान "विशेषेण द्रष्टा" करता है और यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि ऋ० के अनेक प्रयोगों में **विचर्षणि** कर्ता के योग में कर्म षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त मिलता है; तु०— ऋ० ३, २, ८ **ऋतस्य बृहतो विचर्षणिः**, ३, ११, १ **अध्वरस्य विचर्षणिः** इत्यादि। ऐसे स्थलों में अकर्मक "क्रियाशील" अर्थ सर्वथा अनुपयुक्त है। **द्यावापृथिवी**= यह देवताद्वन्द्व समास है (वै० व्या० १८० क)। **ईयते**=√ई+लट् प्र० पु० ए०। **अप**+**बाधते**=अतिङन्त पद से परे होने पर भी इस तिङन्त पद पर उदात्त है क्योंकि इससे परे दूसरा तिङन्त पद **वेति** है और **च** का लोप है (पा० ८, १, ६३; वै० व्या० ४१३ छ)। **वेति**=√वी+लट् प्र० पु० ए०। तिङन्त पद से परे आने के कारण इस पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ग)। **ऋणोति**=√ऋ+लट् प्र० पु० ए०। **कृष्णेन रजसा**=दूसरी ऋचा पर टि० देखिये।

छ०— जगती छन्द के तृतीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये, पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, **सूर्यम्** का उच्चारण **सूरियम्** करना चाहिए।

१०. हिर॑ण्यहस्तो॒ असु॑रः सुनी॒थः सु॑मृळी॒कः स्ववाँ॑ यात्व॒र्वाङ् ।
अ॒प॒सेध॑न्र॒क्षसो॑ यातु॒धाना॒नस्था॑द्दे॒वः प्र॑तिदो॒षं गृ॑णा॒नः ॥

हिर॑ण्यऽहस्तः । असु॑रः । सु॒ऽनी॒थः । सु॒ऽमृ॒ळी॒कः । स्वऽवा॑न् । या॒तु॒ । अ॒र्वाङ् ।
अ॒प॒ऽसेध॑न् । र॒क्षसः॑ । या॒तु॒ऽधाना॑न् । अस्था॑त् । दे॒वः । प्र॒ति॒ऽदो॒षम् । गृ॒णा॒नः ॥

अनु०— सुवर्णमय हाथों वाला (**हिरण्यहस्तः**) अर्थात् सोने जैसी किरणों वाला, प्राणवान् (**असुरः**), अच्छा पथ-प्रदर्शन करने वाला (**सुनीथः**), अच्छा दयालु (**सुमृळीकः**) तथा धनवान् (**स्ववान्**) सविता इस ओर आये (**यातु अर्वाङ्**) । राक्षसों (**रक्षसः**) तथा जादूगरों को (**यातुधानान्**) दूर भगाता हुआ (**अपसेधन्**) सविता देव प्रत्येक रात्रि में (**प्रतिदोषम्**) संस्तुत होता हुआ (**गृणानः**) उपस्थित होता है (**अस्थात्**) ।

टि०— हिरण्यहस्तः = यह भी बस० है और अर्थ में **हिरण्यपाणिः** के समान है। **असुरः**=इसके लिये सप्तमी ऋचा पर टि० देखिये । **स्ववान्**=पपा० में इसका विग्रह **स्वऽवान्** दिखाया गया है। संहितापाठ में इससे परे यकार आने के कारण विशेष वैदिक सन्धि से इसके अन्तिम **आन्** को अनुनासिक **आँ** में परिणत कर **स्ववाँ** लिखा गया है (वै० व्या० ५२ घ) । सा०, स्क० तथा वें० इसका व्याख्यान "धनवान्" करते हैं और **स्व** "धन" के साथ **वत्** का योग मानते हैं। परन्तु पा० ७, १, ८३ से संकेत लेकर रोट, ग्रा०, गै०, मो० आदि पाश्चात्य विद्वान् **स्ववान्** को **स्ववस्** का अनियमित प्रथ० ए० मानते हैं (वै० व्या० १२२ क) और इसका व्याख्यान **सु**+**अवस्** "अच्छी सहायता वाला" करते हैं । वे अपने मत के समर्थन में **स्ववस्** प्रातिपदिक से बने **स्ववसम्**, **स्ववसा**, **स्ववसः** रूपों को उद्धृत करते हैं। परन्तु मै० पपा० तथा सा० के व्याख्यान को स्वीकार करता है, जो उचित है। **सुमृळीकः**= इस बस० के पूर्वपद में **सु** के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क, १) । **अपसेधन्**=अप+√सिध्+शतृ प्रथ० ए० । **यातुधानान्**=यह पद पाद के अन्त में आया है । इसलिये अगले पाद के **अस्थात्** के आदि **अ** के कारण **यातुधानान्** के अन्तिम **आन्** को अनुनासिकत्व करने वाली विशेष वैदिक सन्धि नहीं हुई है (वै० व्या० ५२ ख) । **अस्थात्**=√स्था+विकरण—लुग्—लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६५ क)। पाद के आदि में आने के कारण इस पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख) । **प्रतिदोषम्**=सा० इसका व्याख्यान "प्रतिरात्रि" और वें० "प्रतिरात्रम्" करता है, जबकि स्क० "प्रत्यहम्" व्याख्यान करता है। ऋ० ६, ७१, ४ के व्याख्यान में सा० इसका अर्थ "प्रतिरात्रं

रात्रेः अवसानेऽवसाने" करता है। परन्तु अनेक आधुनिक विद्वान् **दोषा** का अर्थ "संध्या" मानकर व्याख्यान करते हैं। अतएव इसका व्याख्यान ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि विद्वान् "प्रत्येक संध्या में" करते हैं। **दोषा** शब्द का "रात्रि" अर्थ अधिक समीचीन है, दे०— ऋ० १, १, ७ पर टि०। **गृणानः**= √गॄ का कर्मवाच्य रूप है (वै० व्या० ३३० घ— विशेष); तु०— सा०— "स्तूयमानः। गॄ शब्दे कर्मणि लटः शानच्। व्यत्ययेन श्ना।"; स्क०— "व्यत्ययेनायं कर्मणि कर्तृशब्दः। गीयमानः स्तूयमानोऽस्माभिः"।

छ०— द्वितीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये, आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, **स्वर्वां** का **सुग्रवां** और सन्धिविच्छेद द्वारा **यातु अर्वाङ्** उच्चारण अपेक्षित है।

११. **ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो**	**ये। ते। पन्थाः। सवितरिति। पूर्व्यासः।**
ऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।	**अरेणवः। सुऽकृताः। अन्तरिक्षे।**
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी	**तेभिः। नः। अद्य। पथिऽभिः। सुऽगेभिः।**
रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव॥	**रक्ष। च। नः। अधि। च। ब्रूहि। देव॥**

अनु०— हे सविता देव! तुम्हारे जो प्राचीन (**पूर्व्यासः**), धूलिरहित (**अरेणवः**) तथा अन्तरिक्ष में (**अन्तरिक्षे**) सुनिर्मित (**सुकृताः**) मार्ग (**पन्थाः**) हैं, उन सुगम (**सुगेभिः**) मार्गों से (**पथिभिः**) (आ कर) आज हमारी रक्षा करो, और हे देव! हमारे पक्ष में बोलो (**अधिब्रूहि**)।

टि०— **ते**=युष्मद् का ष० ए० का निघातादेश होने से अनुदात्त है (वै० व्या० १६४ ख), परन्तु तद् से बने ते पर अवश्य उदात्त होता है। **पन्थाः**= पन्था का प्रथ० ब० (वै० व्या १३९ ग)। **सवितः**=सवितृ का सं० पाद के आदि में न आने से सर्वानुदात्त है। इसके रिफित विसर्जनीय को प्रकट करने के लिये पपा० में इति जोड़ा गया है (वै० व्या० ८८ ख)। **पूर्व्यासः**=पूर्व्य का प्रथ० ब०। **अरेणवः**= नञ् बस० होने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क, १)। **सुकृता**=इस प्रादि तत्पुरुष समास के उत्तरपद में क्तान्त रूप होने

के कारण पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९८ ग, ९)। रक्षा=√रक्ष्+लोट् म० पु० ए०। इसके अन्तिम अकार को छान्दस-दीर्घत्व हुआ है (वै० व्या० ४६ ग, ३) और पाद के आदि में आने के कारण इस पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख)। अधि ब्रूहि=√ब्रू+लोट् म० पु० ए०। अतिङन्त पद से परे आने के कारण यह सर्वानुदात्त है (वै० व्या० ४१३ क)। देव=पाद के आदि में न आने के कारण यह सं० सर्वानुदात्त है (वै० व्या० ४१२)।

छ०— आधुनिक विद्वानों के मतानुसार छन्द में अक्षरपूर्ति के लिए प्रथम पाद में पूर्व्यासो का पूर्विअासो और पूर्वरूप सन्धि को हटा कर द्वितीय पाद के आदि के पद का अरेणवः उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ० १, ४९ (उषाः)

ऋषिः— प्रस्कण्वः काण्वः । देवता—उषाः । छन्दः—अनुष्टुप् ।

१. उषो भद्रेभिरा गहि	उषः । भद्रेभिः । आ । गहि ।
दिवश्चिद्रोचनादधि ।	दिवः । चित् । रोचनात् । अधि ।
वहन्त्वरुणप्सव	वहन्तु । अरुणऽप्सवः ।
उप त्वा सोमिनो गृहम् ॥	उप । त्वा । सोमिनः । गृहम् ॥

अनु०— हे उषे ! द्युलोक के (दिवः) प्रकाशमान प्रदेश से (रोचनाद् अधि) अपनी कल्याणमयी किरणों के साथ (भद्रेभिः) इधर आओ (आ गहि)। रक्तवर्ण वाले अश्व (अरुणप्सवः) अर्थात् किरणें तुझे (त्वा) सोमयुक्त उपासक के (सोमिनः) घर पर (गृहम्) लाएँ (उप वहन्तु)।

टि०— भद्रेभिः=स्क० "कल्याणैरश्वैः"; सा० "भन्दनीयैः शोभनैर्मार्गैः"। ऋ० १, ४८, १३ में भद्र शब्द का अर्चि "किरण" के विशेषण के रूप में जो प्रयोग मिलता है उसके आधार पर गै० इस वि० के साथ अर्चिभिः "किरणों के साथ" पद का अध्याहार मानकर व्याख्यान करता है। परन्तु स्क० की भांति ग्रा० (कोष) यहाँ पर भद्र शब्द का प्रयोग उषा के अश्वों के लिये मानता है और कहता है कि आगे चलकर इन्हें अरुणप्सवः कहा गया है। ऋ० १, ११५, ३ में भद्रा अश्वाः सूर्यस्य जो प्रयोग मिलता है उससे भी स्क० तथा ग्रा० के मत का समर्थन होता है। परन्तु रूपकालंकार के प्रयोग द्वारा उषा के "अश्व" भी तो उसकी किरणें ही हैं। अतएव यहाँ पर भद्रेभिः को "किरणों" का वि० मानना अधिक समीचीन है। ऋ० ४, ५२, ५ में भी उषा की किरणों के लिये भद्र वि० का प्रयोग मिलता है। आ गहि=दे०— ऋ० १, १९, १ पर टि०। दिवः चित् रोचनात् अधि=वें० "दीप्तात् लोकात्"; स्क० "चिच्छब्दः पदपूरणः। रोचनशब्दो दीप्तिवचनः। अधीत्युपरिभावे, दिव इत्यनेन च सम्बन्धयितव्यः। दिवोऽधि दिव उपर्यवस्थिताद्रोचनात् दीप्तादादित्यमण्डलादागच्छ"; सा० "दिवः अन्तरिक्षलोकात्। रोचनात् रोचमानात् दीप्यमानात्। अधि उपर्यर्थः। उपरि वर्तमानात्। चित् इति पूजितार्थः। पूजितात् एवंविधादन्तरिक्षलोकात्"। जैसा कि ऋ० में अन्यत्र प्रयोग मिलता है उसी प्रकार यहाँ पर भी दिव् शब्द द्युलोक का वाचक है और "अन्तरिक्ष" का वाचक नहीं है जैसा कि सा० मानता है।

यहाँ पर दिवः पद दिव् का ष० ए० है और रोचनात् से अन्वित है, जैसा कि ग्रा०, गै० आदि आधुनिक विद्वान् मानते हैं; तु०— ऋ० १, ६, ९; ५, ५६, १ । रोचनात् के लिये दे०— ऋ० १, १९, ६ । अधि कर्मप्रवचनीय के योग में यहाँ पर पञ्चमी विभक्ति है (वै० व्या० ३८२ ङ) । अरुणप्सवः=स्क० "अरुणः आरक्तो वर्णः । 'प्सुः' (निघ० ३, ७) इति रूपनाम । आरक्तरूपा अश्वाः"; वें० "अरुणरूपा अश्वाः"; सा० "अरुणवर्णा गावः । ... ...'प्सा भक्षणे' । प्सान्ति भक्षयन्ति स्तनं पिबन्तीति प्सवो वत्साः । औणादिकः कुप्रत्ययः । 'आतो लोप इटि च' इति आकारलोपः । अरुणाः प्सवो यासां तास्तथोक्ताः । अत्र वत्सानामारुण्य-प्रतिपादनात् मातॄणामपि तथात्वं गम्यते । 'पैतृकमश्वा अनुहरन्ते । मातृकं गावोऽनुहरन्ते' (महाभाष्य १, ३ २१, ६) इति गोनर्दीयः । तासां च उषोवाहनत्वं निघण्टावुक्तम्— 'अरुण्यो गाव उषसाम्' (निघ० १, १५, ७) इति" । स्क० तथा वें० की भांति ग्रा० भी इसका अर्थ "रक्तरूप वाले अश्व" करता है और √भास् "चमकना" से (भ्सु>भासु द्वारा) व्युत्पत्ति दिखाते हुए निघण्टु की भाँति प्सु का अर्थ "रूप" मानता है। सा० के व्याख्यान की तुलना में यह व्याख्यान अधिक समीचीन है और गै० आदि अनेक विद्वान् इसी का अनुसरण करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि रूपकालंकार द्वारा किरणों को ही उषा के "रक्त वर्ण वाले अश्व" कहा गया है; तु०— ऋ० ७, ७५, ६; ३, ६१, २; ४, ५१, ५; ५, ७९, १-१०; Macdonell : "Both the horses and the cows probably represent the ruddy rays of morning light" (Ved. My., p. 47). बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है।

उषः=पाद के आदि में आने के कारण इस सं० के आदि अक्षर पर उदात्त है (वै० व्या० ४१२) । वहन्तु=पाद के आदि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख) ।

छ०—तृतीय पाद में अक्षर-परिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा वहन्तु अरुणप्सव उच्चारण अपेक्षित है ।

२. सुपेशसं सुखं रथं	सुऽपेशसम् । सुऽखम् । रथम् ।
यमध्यस्था उषस्त्वम् ।	यम् । अधिऽअस्थाः । उषः । त्वम् ।
तेना सुश्रवसं जनं	तेन । सुऽश्रवसम् । जनम् ।
प्रावाद्य दुहितर्दिवः ॥	प्र । अव । अद्य । दुहितः । दिवः ॥

अनु०— हे उषे ! तू सुन्दर रूप वाले (सुपेशसम्) तथा चक्रनाभि के अच्छे छिद्र से युक्त (सुखम्) अथवा आसानी से चलने वाले जिस रथ पर आरूढ हुई है (अध्यस्थाः), उस के द्वारा, हे द्युलोक की पुत्रि

(दुहितर्दिवः)! सुकीर्ति-युक्त **(सुश्रवसम्)** उपासक जन की आज सहायता करो **(प्र अव)**।

टि०— सुपेशसम् =स्क० तथा वें० "सुरूपम्"; सा० "शोभनावयवम्। शोभनरूपयुक्तं वा। पेश इति रूपनामेति यास्कः (नि० ८, ११) यद्वा। शोभनहिरण्ययुक्तम्। 'पेशः कृशनम्' (निघ० १, २) इति तन्नामसु पाठात्"। ग्रा०, गै०, मो० आदि आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "शोभनालंकारयुक्त" करते हैं। निघ० ३, ७ में **पेशस्** शब्द 'रूप' के नामों में गिनाया गया है; और नि० ८, ११ तथा वैदिक प्रयोग भी इस मत का समर्थन करता है (तु०—ऋ० १, ६, ३—**पेशः** तथा **अपेशसे**)। अत एव स्क० तथा वें० का व्याख्यान समीचीन है। ग्रि० अपने अनुवाद में इसी व्याख्यान का अनुसरण करता है। बस० के पूर्वपद में सु के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० १)। **सुखम्**= स्क० "सुखम्"; वें० "सुद्वारम्"; सा० "शोभनेन खेन आकाशेन युक्तं विस्तृतमित्यर्थः। यद्वा। सुखहेतुभूतम्। अथवा सुखमिति क्रियाविशेषणम्। सुखं यथा भवति तथेत्यर्थः"। इस शब्द के विषय में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि ऋ० में इसके जो १४ प्रयोग मिलते हैं उन सब में यह **रथ** के वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतएव सा० के वैकल्पिक व्याख्यान के अनुसार इसे क्रियाविशेषण मानना उचित नहीं होगा। ग्रा०, ग०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् भी इसे वि० मानते हैं। पदपाठ में **सुऽखम्** अवग्रह दिखाया गया है और इस प्रकार इस में सु तथा ख का समास माना गया है। यास्क (३, १३) ने **सुखम्** की जो व्युत्पत्ति "सुहितं खेभ्यः" (दु० "सुष्ठु हितमेतत् **खेभ्यः** इन्द्रियेभ्यः") की है वह **रथ** के वि० में उपपन्न नहीं है। ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, इस बस० **सुख** का उत्तरपद **ख** "रथचक्र की नाभि के छिद्र" का वाचक है; तु०—ऋ० ८, ७७, ३ **खे अरां इव खेदया**; ८, ९१ ७; १०, १५६,३। अतएव ग्रा० के अनुसार इस बस० का अर्थ है "जिस के चक्र की नाभि का छिद्र अच्छा है वह" (रथ)। गै० तथा ग्रि० ने इस का अनुवाद "आसानी से चलने वाला" (रथ) किया है। इस सम्बन्ध में मो० का व्याख्यान निम्नलिखित है—"(said to be fr. 5. *su*+3. *kha* and to mean originally 'having a good axlehole; possibly a Prākṛt form of *su-stha*, q. v.; cf. *duḥkha*) running swiftly or easily (only applied to cars or chariots), easy, R. V." वैदिक प्रयोग से ग्रा०, मो०, गै० आदि विद्वानों के मत का समर्थन होता है। अतएव यही मत समीचीन है। **अधिऽअस्थाः** = √स्था + विकरण— लुग्— लुङ् म० पु० ए० (वै० व्या० २६५ क); तु०— ऋ० १, ३५, ४। **सुश्रवसम्** =स्क० "श्रवः (निघ० २,७) इत्यन्ननाम। शोभनं हविर्लक्षणमन्नं यस्य स सुश्रवाः, तं सुश्रवसं सुहविष्कं यजमानम्"; वें० "शोभनान्नं हविष्मन्तं यजमानम्"; सा० "शोभनहविर्युक्तम्। ... ...'श्रवः' इत्यन्ननाम श्रूयत इति सतः (नि० १०, ३) इति यास्कः"। ग्रा०, गै०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "सुकीर्तियुक्त" करते हैं और यहां पर यही अर्थ समीचीन है, क्योंकि **श्रवस्** शब्द "कीर्ति" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है;

तु०— ऋ० ३, ५९, ७। बस० के पूर्वपद में सु के कारण उत्तरपद पर उदात्त है। प्र अव=स्क० "प्रकर्षेण आगच्छ"; वें० "प्ररक्ष"; सा० "प्रकर्षेण गच्छ (पामे० रक्ष)। ... ...'अव रक्षणगतिप्रीतितृप्ति' इत्युक्तत्वाद् अत्र अवतिर्गत्यर्थः"। यहां पर √अव् का अर्थ "जाना" नहीं है जैसा कि स्क० तथा सा० मानते हैं, अपितु "रक्षा करना, सहायता करना" है जैसा कि वें० तथा आधुनिक विद्वान् मानते हैं। उषः, दुहितर्दिवः=सं० तथा सं० से सम्बद्ध ष० का रूप भी सर्वानुदात्त है (वै० व्या० ४१२)।

छ०— ग्रा० आदि के मतानुसार, द्वितीय पाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये त्वम् का तुअम् उच्चारण अपेक्षित है (वै० व्या० ४२०)।

३.	वयश्चित्ते पतत्रिणो	वयः। चित्। ते। पतत्रिणः।
	द्विपच्चतुष्पदर्जुनि।	द्विऽपत्। चतुःऽपत्। अर्जुनि।
	उषः प्रारन्नृतूँरनु	उषः। प्र। आरन्। ऋतून्। अनु।
	दिवो अन्तेभ्यस्परि॥	दिवः। अन्तेभ्यः। परि॥

अनु०— हे श्वेत वर्ण वाली (अर्जुनि) उषे (उषस्)! पक्षियों की तरह (वयः चिद्) तेरे (ते) उड़ने वाले अश्वों ने (पतत्रिणः) नियत समय पर (ऋतून् अनु) द्युलोक के (दिवः) छोरों से आकर (अन्तेभ्यः परि) दो पाँवों वाले (द्विपद्) तथा चार पाँवों वाले (चतुष्पद्) प्राणिजात को प्रेरित किया है (प्र आरन्)।

टि०— वयः चित् ते पतत्रिणः=स्क० "चिच्छब्दोऽत्र उपमायाम्। वयः इव पक्षिणः इव ते तव स्वभूताः। पतत्रिणः पतनशीला गमनशीला अश्वाः"; वें० "पक्षिणः पत्रयुक्ताः"; सा० "पतत्रिणः पतत्रवन्तः पक्षोपेताः वयश्चित् पक्षिणश्च"। स्क० चिद् को उपमावाचक मानते हुए ते को पतत्रिणः "पतनशीला अश्वाः" से अन्वित मानकर व्याख्यान करता है, जबकि वें० तथा सा० चिद् को केवल पदपूरण मानते हुए, ते को ऋतून् अनु से अन्वित मानकर पतत्रिणः का व्याख्यान वयः (वि का प्रथ० ब०) के वि० के रूप में "पंखों से युक्त" करते हैं। ग्रा०, गै०, ग्रि० प्रभृति अधिकतर आधुनिक विद्वान् सा० का अनुसरण करते हैं। यद्यपि सा० आदि का

व्याख्यान अधिक सरल है, तथापि स्क० के व्याख्यान का वैदिक प्रयोग से समर्थन होता है। चिद् निपात का उपमा के अर्थ में प्रयोग मिलता है; तु०— ऋ० २, ३३, १२; १, ४१, ९। निघ० ३, १३; नि० १, ४ तथा ३, १३, १६ और पा० ८, २, १०१ भी चिद् के उपमार्थक प्रयोग का समर्थन करते हैं। वयः के साथ इसी प्रकार की उपमा के लिये, दे०— ऋ० ५, ५९, ७। अतएव यहां पर चिद् का "इव" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। सा० आदि के व्याख्यान की तुलना में स्क० का पतत्रिणः का व्याख्यान "पतनशीला गमनशीला अश्वाः" अधिक समीचीन और प्रसंग के अनुकूल है, क्योंकि अश्विनों के वाहनों (अश्वों ?) के लिये भी पतत्रिन् शब्द का प्रयोग मिलता है (तु०— ऋ० ७, ६९, ७; १०, १४३, ५) और "पतनशील" अर्थ पतत्रिन् की व्युत्पत्ति के अनुकूल है। ते पद को परवर्ती वयः की अपेक्षा समीपस्थ पद पतत्रिणः से सम्बद्ध मानना अधिक युक्तियुक्त तथा समीचीन है और सा० आदि की भांति इस ते को तृतीय पाद के ऋतून् से अन्वित करना केवल खींचा-तानी है। रूपकालंकार द्वारा किरणों को ही उषा के "उड़ते हुए अश्व" कहा गया है; दे०— ऋचा १ पर टि०। इसके अतिरिक्त, चतुर्थ पाद के दिवो अन्तेभ्यस्परि वाक्यांश का अर्थ भी उषा के उड़ने वाले वाहनों अर्थात् किरणों के साथ अधिक उचित लगता है। अर्जुनि=अर्जुनी "श्वेत वर्ण वाली" का सं० है और इसीलिये सर्वानुदात्त है (वै० व्या० ४१२)। दिवः अन्तेभ्यः परि=स्क० "द्युलोकस्य अन्तेभ्यः। परि-शब्दस्तु 'अधिपरी अनर्थकौ' (पा० १, ४, ९३) इति कर्मप्रवचनीयः पदपूरणः। अथवा परिशब्दोऽन्तशब्दात् पूर्वो द्रष्टव्यः। अकृतसमासोऽपि च कृतसमासार्थे। दिवः पर्यन्तेभ्यः प्रारन्"; वें० "अन्तरिक्षपर्यन्तेभ्यः"; सा० "आकाशप्रान्तेभ्यः परि उपरि"। ग्रि०, ग्रा०, गैं० आदि आधुनिक विद्वान् स्क० की भान्ति इन पदों का अर्थ "द्युलोक के छोरों से" करते हैं और यही अर्थ समीचीन है; तु०— ऋ० १, ९२, ११; ५, ४७, ४; ५९, ७। गैं० के मतानुसार इन पदों का अभिप्राय "सभी दिशाओं से" है। परि कर्मप्रवचनीय के योग में पं० आई है (वै० व्या० ३८२ ङ)। उषा के अश्व अर्थात् किरणें द्युलोक की चरमसीमा से आती हैं, जबकि पक्षी अन्तरिक्ष में ही उड़ते हैं। इस वाक्यांश से पतत्रिणः का "उड़ने वाले वाहन अर्थात् किरणें" अर्थ पुष्ट होता है। ऋतून् अनु=जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, वें० तथा सा० प्रथम पाद के ते को ऋतून् के साथ अन्वित मानते हैं और तदनुसार वें० "तव आगमनकालान् प्रति" तथा सा० "तव गमनानि अनुलक्ष्य" व्याख्यान करता है। वास्तव में ते पद इन पदों से सम्बद्ध नहीं है जैसा कि स्क० ने व्याख्यान किया है। ऋतु शब्द ऋत की भान्ति √ऋ "जाना" (तु०— ऋ० १, १, ८ पर टि०) से व्युत्पन्न है (वै० व्या० ३६४ ङ) और इसका

मौलिक अर्थ है "नियत काल"। यहां पर इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। अनु कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया आई है (वै० व्या० ३७९ च)। इसकी सन्धि की विशेषता के लिये दे०— वै० व्या० ५२ ख। प्र आरन् = √ऋ "जाना" + अङ्लुङ् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २६८; पा० ३, १, ५६)। यद्यपि इसका अर्थ स्क० तथा सा० "प्रकर्षेण गच्छन्ति"; बें० "प्रगच्छन्ति" और ग्रा०, गै० आदि कुछ आधुनिक विद्वान् "आगे बढ़ते हैं" करते हैं, वास्तव में प्र उपसर्ग के साथ √ऋ का प्रयोग "प्रेरित करना" अर्थ में होता है; तु०— ऋ० १०, ४, १; १८८, २ (प्र इर्यमि = सा० "प्रेरयामि"); ७, ६१, ७ (प्र इर्यर्ति = सा० "प्रेरयति")। अतएव यहां पर प्र आरन् का अर्थ है "प्रेरित किया है"।

द्विपद् चतुष्पद् = लगभग सभी भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् इन पदों को प्रथमा विभक्ति के रूप मानकर व्याख्यान करते हैं। वास्तव में ये द्विती० ए० नपुं० के रूप हैं और उपर्युक्त प्र आरन् क्रिया के कर्म हैं (तु०— ऋ० १, १२४, १)। द्विपद् शब्द "दो पांवों वाले प्राणियों अर्थात् मनुष्यों तथा पक्षियों" का और चतुष्पद् "चार पांवों वाले प्राणियों" का वाचक है।

छ०— ग्रा० आदि के मतानुसार, चतुर्थ पाद में अक्षर-परिमाण की पूर्ति के लिये अन्तेभ्यस् के स्थान पर अन्तेभिअस् उच्चारण अपेक्षित है।

४. व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्	वि॒ऽउ॒च्छन्ती॑। हि। र॒श्मिऽभिः॑।
विश्वमाभासि रोचनम्।	विश्व॑म्। आ॒ऽभासि॑। रो॒च॒नम्।
तां त्वामुषर्वसूयवो	ताम्। त्वाम्। उ॒षः॒। व॒सु॒ऽयवः॑।
गीर्भिः कण्वा अहूषत॥	गीः॒ऽभिः। कण्वाः॑। अ॒हू॒ष॒त॒॥

अनु०— क्योंकि (हि) तुम विशेषतया चमकती हुई (व्युच्छन्ती) अपनी किरणों के द्वारा (रश्मिभिः) सम्पूर्ण (विश्वम्) प्रकाशमय प्रदेश को (रोचनम्) सब ओर जगमगा देती हो (आ भासि), हे उषे (उषः)! धन के इच्छुक (वसूयवः) कण्व वंश के ऋषियों ने (कण्वाः) अपनी स्तुतियों के द्वारा (गीर्भिः) तेरा आह्वान किया है (अहूषत)।

टि०— व्युच्छन्ती = वि + √उच्छ् + शतृ + स्त्री० ई। सा० आदि भारतीय भाष्यकार धापा० में परगणित तुदा० "उच्छी विवासे" धातु से इस रूप का व्याख्यान करते हैं, जबकि पाश्चात्य विद्वान् उच्छ— को √वस् "चमकना"

के लड्वर्ग का अङ्ग मानते हैं (वैं० व्या० २२९, १; ७म अध्याय की टि० ८५)। इसमें सन्देह नहीं कि यहां पर उच्छ् "चमकना" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तु०— ऋ० ४, ५१, २ पर टि०। **आऽभासि**=यहां पर √भा का प्रयोग सकर्मक अर्थ में है। हि निपात के योग से इस ति० पर उदात्त है (वैं० व्या० ४१३ च) और सोदात ति० से समस्त **आ** उपसर्ग अनुदात्त है (वैं० व्या० ४१४ ख)। **रोचनम्**=ऋचा १ पर टि० देखिये। **वसूयवः**= वसु+क्यच्+उ (वैं० व्या० ३६२ छ) से बने **वसूयु** "धन के इच्छुक" का प्रथ० ब०। **अहूषत**=√ह्वे+अनिट्— सिज्लुङ् प्र० पु० ब० आ० (वैं० व्या० २७४, ७६)।

छ०— प्रथमपाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा **विउच्छन्ती** उच्चारण अपेक्षित है (वैं० व्या० ४२०)।

ऋ० १, ८५ (मरुतः)

ऋषिः— गोतमो राहूगणः । देवता— मरुतः । छन्दः— १-४, ६-११ जगती; ५, १२ त्रिष्टुप् ।

१.	प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो	प्र । ये । शुम्भन्ते । जनयः । न । सप्तयः ।
	यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः ।	यामन् । रुद्रस्य । सूनवः । सुऽदंससः ।
	रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे	रोदसी इति । हि । मरुतः । चक्रिरे । वृधे ।
	मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः ॥	मदन्ति । वीराः । विदथेषु । घृष्वयः ॥

अनु०— जो शोभन कर्म वाले (सुदंससः) तथा संयुक्त (सप्तयः), रुद्र के पुत्र (रुद्रस्य सूनवः), अपने गमन में (यामन्) समवेत स्त्रियों की भान्ति (जनयः न) अपने आपको अलंकृत करते हैं (प्र शुम्भन्ते); (उन) मरुतों ने द्युलोक और पृथिवी-लोक को (रोदसी) बढ़ने के लिये (वृधे) अर्थात् समृद्धि के लिये समर्थ किया है (चक्रिरे)। हृष्ट (घृष्वयः) वीर यज्ञों में (विदथेषु) आनन्दित होते हैं (मदन्ति)।

टि०— शुभन्ते=√शुम्भ्+लट् प्र० पु० ब० । यद् सर्वनाम के रूप ये के योग से इस पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ङ) । जनयः न=जनि का प्रथ० ब० । √जन् + इ से जनि शब्द "जाया" के अर्थ में बनता है (वै० व्या० ३६० क)। न निपात यहां पर उपमावाचक है (वै० व्या० ३७६)। तु०— ऋ० १०, ११०, ५ पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः "अपने पतियों के लिये शृङ्गार करती हुई पत्नियों की भान्ति"। सप्तयः=सप्ति का प्रथ० ब०। इस शब्द के अर्थ तथा अन्वय के सम्बन्ध में मतभेद है । सा० इसे मरुतों का वि० मानकर व्याख्यान करता है— "कीदृशा मरुतः ? सप्तयः सर्पणशीलाः" । वें० इसे दूसरी उपमा समझते हुए व्याख्यान करता है— "अश्वाः । इव । च" ।

मै० तथा ग्रि० इसे मरुतों का वि० मानते हुए "racers" अर्थ करते हैं। परन्तु ग्रा० (कोष) इस ऋचा के **सप्तयः** पद को **जनयः** का वि० मानते हुए इसका अर्थ "संयुक्त" करता है और √सच् "संयुक्त होना" के अर्थ में प्रयुक्त √सप् धातु से **सप्ति** की व्युत्पत्ति दिखाता है। गै० यह स्वीकार करता है कि यद्यपि **सप्ति** का मौलिक अभिप्राय अस्पष्ट है, तथापि यहां पर यह शब्द मरुतों के समवाय (team) को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जैसा कि ऋ० ८, २८, ५; ५, ५२, १७; १, १३३, ६; श० ब्रा० २, ५, १, १३; का० सं० २, ५०, १४ से इस प्रकार के अर्थ को समर्थन मिलता है; और साथ-साथ यह पद **जनयः** से भी अन्वित है। गै० का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ऋ० १०, ६; ६, के **अश्वाः सप्तीवन्तः** प्रयोग से स्पष्ट है कि **सप्ति** अश्व का वाचक नहीं है अपितु वि० है। यहाँ पर **सप्तयः** का "अश्वाः" या "सर्पणशीलाः" इत्यादि व्याख्यान उपयुक्त नहीं है। **यामन् = यामन्** का स० ए० (वै० व्या० १२९)। **सुदंससः=सुदंसस्** का प्रथ० ब०। सु पूर्वपद के कारण इस बस० के उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क, १)। इसका व्याख्यान सा० "शोभन-कर्माणः" और वें० "सुकर्माणः" करता है। ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मो० भी इसी भारतीय व्याख्यान का अनुसरण करते हैं। परन्तु मै० किसी युक्ति के विना इस पद का अनुवाद *wondrous* करता है। निघण्टु २, १ में **दंसः** शब्द "**कर्म**" के नामों में गिनाया गया है। ऋ० १, ६२, ७. ९. के भाष्य में स्क० **सुदंसाः** का व्याख्यान **सुकर्मा** करता है, परन्तु १, ९२, ८ के भाष्य में वह **सुदंससा** का व्याख्यान **सुदर्शनेन** करता है। यद्यपि सा० दस प्रयोगों में **सुदंसस्** का व्याख्यान "शोभन कर्म वाला" करता है, तथापि दो प्रयोगों (ऋ० १, १५९, ३; २, २, ३) में वह इसका व्याख्यान "शोभन दर्शन वाला" करता है। इस द्वितीय व्याख्यान की विशेष आवश्यकता ऋ० १, १५९, ३ के भाष्य में है जहाँ **सुदंससः** के साथ-साथ **स्वपसः** प्रयोग है जिसका अर्थ भी "शोभन कर्म वाले" है। इस समास के उत्तरपद **दंसस्** के ऋ० में जितने प्रयोग मिलते हैं उन सबमें सा० तथा स्क० आदि भारतीय विद्वान् इसका व्याख्यान "कर्म" करते हैं जबकि ग्रा० प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् "आश्चर्यजनक कर्म" करते हैं। देवताओं के सभी कर्म "आश्चर्यजनक" हो सकते हैं। अतएव "कर्म" के साथ इस विशेषण को जोड़ने का विशेष आधार नहीं है। वैदिक प्रयोग तथा उपर्युक्त विवेचन के आधार पर **सुदंससः** का व्याख्यान "शोभन कर्म वाले" करना समीचीन है। **चक्रिरे**=√कृ+लिट् आ० प्र० पु० ब०। हि के योग से इस तिङन्त पद पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ च)। **वृधे**= √वृध् + तुमर्थक ए प्रत्यय (वै० व्या० ३४१ क)। **विदथेषु=विदथ** का स० ब०। **विदथ** के व्याख्यान के विषय में अनेक मतभेद हैं। स्क० तथा सा० प्रभृति भाष्यकार **विदथ** का व्याख्यान प्रायेण "यज्ञ" करते हैं। निघ० ३, १७ में इसे "यज्ञ" के नामों में गिनाया गया है। ऋ० १, ४०, ६

के भाष्य में सा० इसकी व्युत्पत्ति √विद् "ज्ञाने" से दिखाता है । ओ० **विदथ** की व्युत्पत्ति **वि**+√**धा** से दिखाता है और उसका अनुमान है कि इसका मूल अर्थ "विहित कर्म" (विधान) था। यज्ञ मुख्य "विहित" कर्म है और सभा जिस कर्म पर विचार करे वह भी "विहित" होता है । अतएव, **विदथ** शब्द "यज्ञ" तथा "सभा" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मो० भी सा० की भान्ति √विद् "ज्ञाने" से **विदथ** की व्युत्पत्ति मानता है । परन्तु ग्रा० (कोष) √विद् "पाना" से **विदथ** की व्युत्पत्ति दिखाता है और प्रसंगानुसार इसके अनेक अर्थ सुझाता है । ग्रा० का मत है कि **विदथ** का मौलिक अर्थ "सभा" है, परन्तु प्रसंगानुसार यह शब्द कहीं देवताओं की सभा के लिये, कहीं मनुष्यों की सभा के लिये और कहीं धार्मिक उत्सव की सभा के लिये प्रयुक्त होता है जिसके लिये भारतीय भाष्यकार "यज्ञ" व्याख्यान करते हैं । ग्रा० के मतानुसार इस ऋचा में **विदथ** शब्द "देवताओं की सभा, धार्मिक उत्सव की सभा" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ग्रि० ने **विदथेषु** का अनुवाद "in sacrifices" और गै० ने "in wise speeches" किया है । परन्तु ऋ० १, ४०, ६ तथा १, १४३, ७ में प्रयुक्त इसी शब्द का अनुवाद गै० ने "in sacrifices" किया है, जबकि पी० ने ऋ० १, १४३, ७ में प्रयुक्त **विदथेषु** का अनुवाद "in our assemblies" किया है। मै० (V. R., p. 56) √**विध्** "worship" से **विदथ** की व्युत्पत्ति मानते हुए इसका अर्थ "divine worship" करता है और "यज्ञ" से इसका विशेष भेद नहीं समझता है; दे०— ऋ० २, १२, १५ पर टि०। यहां पर **विदथ** का "यज्ञ" अर्थ ही अधिक समीचीन है। **वीराः**=मरुतों के लिये यह वि० अन्यत्र भी प्रयुक्त किया गया है, तु०— ऋ० ५, ६१, ४; १०, ७७, ३ । **घृष्वयः**=**घृष्वि** का प्रथ० ब० । √**घृष्** से व्युत्पत्ति मानते हुए, वें० इसका व्याख्यान "घर्षणशीलाः। वृक्षाणामिति" और सा० "घर्षणशीलाः । महीरुहशिलोच्चयादेर्भञ्जका इत्यर्थः" करता है । परन्तु ग्रा०, मो० तथा मै० प्रभृति विद्वान् √घृष् = √हृष् से इसकी व्युत्पत्ति मानते हुए **घृष्वि** का अर्थ "हृष्ट, स्फूर्तिपूर्ण" इत्यादि करते हैं। ग्रि० ने इसका अनुवाद "wild", गै० ने "eager" और मै० ने "impetuous" किया है । ऋ० में **घृष्वि** शब्द अधिकतर इन्द्र के वि० के रूप में, दो बार मरुतों के वि० के रूप में और कुछेक बार (नवम मण्डल में) सोम के वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है । सा० ने अधिकतर ऋचाओं के भाष्य में इसका व्याख्यान "घर्षणशील" या इसी से मिलता-जुलता किया है, परन्तु ऋ० ४, २, १३ के भाष्य में इसका व्याख्यान विकल्प से "दीप्तियुक्त" और ९, १०१, ८ पर "अत्यन्त दीप्त" किया है । ऋ० १, १६६, २ में **घृष्वि** का प्रयोग वर्तमान ऋचा के सदृश है— **क्रीळन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः**। इन सब प्रयोगों का विवेचन करने से **घृष्वि** का "हृष्ट" अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **मदन्ति**=पाद के आदि में आने के कारण इस पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख) ।

२. ते उक्षितासो महिमानमाशत	ते । उक्षितासः । महिमानम् । आशत ।
दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः ।	दिवि । रुद्रासः । अधि । चक्रिरे । सदः ।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियम्	अर्चन्तः । अर्कम् । जनयन्तः । इन्द्रियम् ।
अधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः ॥	अधि । श्रियः । दधिरे । पृश्निऽमातरः ॥

अनु०— उन प्रवृद्ध (**उक्षितासः**) मरुतों ने महत्त्व को (**महिमानम्**) प्राप्त किया है (**आशत**) । रुद्र के पुत्रों ने (**रुद्रासः**) द्युलोक में (**दिवि**) अपना आसन (**सदः**) बनाया है (**अधि चक्रिरे**) । स्तुतिगान (**अर्कम्**) गाते हुए (**अर्चन्तः**) तथा इन्द्र-सम्बन्धी बल को (**इन्द्रियम्**) उत्पन्न करते हुए (**जनयन्तः**), पृश्नि-पुत्रों ने (**पृश्निमातरः**) शोभा को (**श्रियः**) धारण किया है (**अधि दधिरे**) ।

टि०—**उक्षितासः**=**उक्षित** का प्रथ० ब० । √उक्ष् "सेचने" से व्युत्पत्ति मानते हुए, इस पद का व्याख्यान वें० "वर्षबिन्दुभिः सिक्ताः" और सा० "देवैरभिषिक्ताः" करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् √उक्ष् "सेचने" के अतिरिक्त √उक्ष् "वर्धने" धातु की कल्पना करते हैं जिसे वे √वक्ष् "वर्धने" का ही रूप मानते हैं। अत एव ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति विद्वानों के मतानुसार वर्तमान पद **उक्षितासः** का प्रातिपदिक **उक्षित** √उक्ष् "वर्धने" का क्तान्त रूप है। यही मत ग्राह्य है क्योंकि यास्क (१२, ९) भी √उक्ष् के "वृद्धि" अर्थ को स्वीकार करता है, यद्यपि वह उस का मूल √उच्छ् को मानता है "उक्षण उच्छतेर्वृद्धिकर्मणः" । **आशत**=√अश्+विकरण—लुग्—लुङ् आ० प्र० पु० ब० (वै० व्या० २६५ ख)। **रुद्रासः**=**रुद्र** का प्रथ० ब०। यहाँ पर तद्धित प्रत्यय के बिना भी **रुद्र** शब्द तद्धित रूप **रुद्रिय** "रुद्र के पुत्र" अर्थ में प्रयुक्त किया गया है; तु०—ऋ० १, ३८, ७ ; २ ३४, १० इत्यादि। **अर्चन्तः अर्कम्**=इन दोनों शब्दों के अर्थ के लिये देखिये ऋ० १, १९, ४ पर टि०। **इन्द्रियम्**=**इन्द्र**+**इय** (पा० घ) "इन्द्र-सम्बन्धी (बल)"। **अधि दधिरे**=√धा+लिट् आ० प्र० पु० ब०। अतिङन्त पद से परे आने के कारण सर्वानुदात्त है। **पृश्नि-मातरः**=बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। अनेक अन्य ऋचाओं में भी मरुतों को **पृश्निमातरः** "जिन की माता पृश्नि है ऐसे" कहा गया है; तु०—ऋ० १, १३, १०; ३८, ४; ८९, ७ इत्यादि। परन्तु **पृश्नि** शब्द के अर्थ के विषय में अनेक मतभेद हैं। ऋ० १, १३, १०; ८५, २ के भाष्य

में सा० इस समास के पूर्वपद **पृश्नि** का व्याख्यान क्रमशः "नानावर्णयुक्ता भूमि" तथा "नानारूपा भूमि" करता है और ऋ० ८, ७, ३ तथा अ० ४, २७, २ के भाष्य में इस का व्याख्यान "माध्यमिका वाक्" करता है। परन्तु ऋ० १, ८९, ७ के भाष्य में इसी शब्द का व्याख्यान सा० ने "नानावर्णा गौः" किया है। ऋ० १, २३, १० तथा १, ८९, ७ के भाष्य में स्क० **पृश्नि** का व्याख्यान "द्यौः" करता है, जबकि ऋ० १, ३८, ४ के भाष्य में **पृश्नि** का व्याख्यान "पृश्निवर्णा गौः" करके स्क० कहता है कि मरुतः **गोमातरः** (दे०— ऋचा ३) भी कहलाते हैं। और स्क० वैकल्पिक व्याख्यान में कहता है— "अथवा पृश्निर्गौरित्युभे अपि द्युनामनी। द्यौर्माता येषां ते पृश्निमातरः"। वा० सं० २५, २० के भाष्य में उवट भी **पृश्नि** का अर्थ "द्यौः" करता है। यास्क (२, १४) **पृश्नि** तथा **गो** इन दोनों शब्दों का "द्युलोक" अर्थ भी करता है। इस प्रकार मरुतों की माता "पृश्निः गौः", भारतीय व्याख्यान परम्परा के अनुसार, **द्युलोक** है। परन्तु ग्रा० (कोष), मै० तथा ग्रि० के मतानुसार, **मेघ** को, रूपक अलंकार द्वारा, मरुतों की माता कहा गया है। इस विषय में अन्तिम निर्णय देना कठिन है। परन्तु **पृश्नि** का "भूमि" व्याख्यान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है; दे०— ऋ० १, १६०, ३ के **धेनु पृश्नि** पर टि०।

३. **गोमा॑तरो॒ यच्छु॒भय॑न्ते अ॒ञ्जिभि॑स्**	**गोऽमा॑तरः। यत्। शु॒म्भय॑न्ते। अ॒ञ्जिऽभिः॑।**
त॒नूषु॑ शु॒भ्रा द॑धिरे वि॒रुक्म॑तः।	**त॒नूषु॑। शु॒भ्राः। द॒धि॒रे॒। वि॒रुक्म॑तः।**
बाध॑न्ते॒ विश्व॑मभिमा॒तिन॒मप॑	**बाध॑न्ते। विश्व॑म्। अ॒भि॒ऽमा॒तिन॑म्। अप॑।**
वर्त्मा॑न्येषा॒मनु॑ रीयते घृ॒तम्॥	**वर्त्मा॑नि। ए॒षा॒म्। अनु॑। री॒य॒ते॒। घृ॒तम्॥**

अनु०— जब (**यत्**) पृश्नि गाय के पुत्र (**गोमातरः**) मरुत् अपने आप को आभूषणों से (**अञ्जिभिः**) अलंकृत करते हैं (**शुम्भयन्ते**), शोभायमान स्वरूप वाले (**शुभ्राः**) मरुत् जब अपने शरीरों पर (**तनूषु**) चमकते हुए अस्त्र (**विरुक्मतः**) धारण करते हैं (**दधिरे**) तथा वे सब प्रकार के (**विश्वम्**) शत्रु को (**अभिमातिनम्**) दूर हटाते हैं (**अप**

बाधन्ते); तब वर्षा का जल (**घृतम्**) इनके मार्गों के पीछे-पीछे बहता है (**अनु रीयते**)।

टि०— गोमातरः= बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। इस समास का पूर्वपद **गो** मरुतों की माता **पृश्नि** की ओर संकेत करता है जिसका विवेचन दूसरी ऋचा पर टि० में किया गया है। **शुम्भयन्ते=यत्** के योग से इस पर उदात्त है (वैं० व्या० ४१३ ङ)। **अञ्जिभिः**=दे०—ऋ० ८, २९, १। **विरुक्मतः**= सन्देह के कारण इसके पपा० में अवग्रह नहीं दिखाया गया है। इसके व्याख्यान के सम्बन्ध में मतभेद है। इसका व्याख्यान वें०— "विशिष्ट-दीप्तिमतः सुवर्णमयान् कवचान्" और सा० "विशेषेण रोचमानान् अलंकारान्। विशिष्टा रुक् विरुक्। तद्वन्तो विरुक्मतः" करता है। ग्रा० भी सा० द्वारा दी गई (वि+√रुच्) व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुए **विरुक्मत्** का सामान्य अर्थ "चमकता हुआ" करता है और इस ऋचा में प्रयुक्त शब्द का अर्थ "चमकते हुए अस्त्र" करता है। इसी मत का अनुसरण करते हुए मैक्समूलर तथा मै० इसका अनुवाद "brilliant weapons" करते हैं। परन्तु ग्रि० ने "golden ornaments" अनुवाद किया है। ऋ० के तीन प्रयोगों में यह शब्द वि० के रूप में प्रयुक्त किया गया है और वहाँ पर इसका अर्थ "चमकता हुआ" है। परन्तु वर्तमान प्रयोग के अतिरिक्त ऋ० १०, १३८, ४ में भी यह शब्द बिना विशेष्य के प्रयुक्त किया गया है और उस ऋचा में प्रयुक्त **विरुक्मता** का व्याख्यान वें० "विरोचनवता आयुधेन" तथा सा० "विरोचमानेन वज्रेण" करता है। अतएव यहाँ पर इसका व्याख्यान "चमकते हुए अस्त्र" किया जा सकता है। **घृतम्**=यहाँ पर **घृत** शब्द वर्षा के जल को अभिव्यक्त करता है। **रीयते**= √री+लट् आ० प्र० पु० ए०। भारतीय वैयाकरणों के अनुसार √री, परन्तु मै० आदि के मतानुसार इसमें √रि धातु है। **बाधन्ते**=पाद के आदि में आने के कारण इस पर उदात्त है।

४. **वि ये भ्राज॑न्ते सु॒म॑खास ऋ॒ष्टिभिः॑**	**वि। ये। भ्राज॑न्ते। सुऽम॑खासः। ऋ॒ष्टिऽभिः॑।**
प्र॒च्य॒ावय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा।	**प्र॒ऽच्य॒वय॑न्तः। अच्यु॑ता। चि॒त्। ओज॑सा।**
म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा	**म॒नः॒ऽजुवः॑। यत्। म॒रु॒तः॒। रथे॑षु। आ।**
वृष॑व्रातास॒ः पृष॑तीरयु॑ग्ध्वम्॥	**वृष॑ऽव्रातासः। पृष॑तीः। अयु॑ग्ध्वम्॥**

अनु०— (पर्वतादि) अचल पदार्थों को (**अच्युता**) भी (**चित्**) अपने बल से (**ओजसा**) चलायमान करते हुए (**प्रच्यावयन्तः**) जो सुपराक्रमी (**सुमखासः**) अपने आयुधों से (**ऋष्टिभिः**) विशेषतया चमकते हैं (**वि भ्राजन्ते**); मन के समान वेग वाले (**मनोजुवः**), वृष्टिकर्ताओं के समूह वाले (**वृषव्रातासः**), हे मरुतो ! जब (**यत्**) तुमने अपने रथों में बिन्दुओं से चित्रित मेघमालाओं को (**पृषतीः**) जोतते हो (**अयुग्ध्वम्**), (तब पूर्वोक्त कार्य होता है : जल बरसता है)।

टि०— सुमखासः= इसे बस० मानते हुए, वें० इसका व्याख्यान "**सुयज्ञाः**" और सा० "शोभनयज्ञाः" करते हैं। परन्तु इसके पूर्वपद **सु** पर उदात्त निश्चित नियम के विरुद्ध है (वै० व्या० ३९९ क, १)। अतएव इस विरोध के परिहार के लिये सा० प्राचीन उक्ति को उद्धृत करता है—"सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"। यद्यपि मै० कहता है कि इस पद पर कर्मधारय समास का स्वर है, और **मख** शब्द का वास्तविक अर्थ अभी तक कुछ अनिश्चित है, तथापि वह इसका अनुवाद "*great warriors*" करता है। ग्रा० भी इसी प्रकार का व्याख्यान करते हुए **सुमख** का अर्थ "अच्छा योद्धा, युद्धनिपुण" इत्यादि करता है। गै० इस शब्द का अर्थ "उदार" और मो० "अतिपराक्रमी, अतिप्रसन्न" करता है, जबकि वै० प० को० में इस शब्द का अर्थ "सुमहनीय, दीप्तिमत्" दिया गया है। ऋ० १, १८१, ४ के भाष्य में यास्क (१२, ३) **सुमखस्य** का व्याख्यान "सुमहतो बलस्य" करता है। अधिकतर ऋचाओं के भाष्य में सा० इस शब्द का व्याख्यान "शोभनयज्ञ" करता है, परन्तु दो स्थलों पर (२, १८, ४; ४, ३, १४) इसके साथ-साथ विकल्प से "सुधन" भी करता है और १०, ५०, १ के भाष्य में "सुष्ठु मंहनीयम्" करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्राह्मणों तथा सूत्रों में **मख** शब्द प्रायेण "यज्ञ" के अर्थ में प्रयुक्त होता है और निघण्टु ३, १७ में भी यह "यज्ञ" के नामों में गिनाया गया है। परन्तु ऋ० में **मख** शब्द प्रायेण "यज्ञ" के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता है। ऋ० के अधिकतर प्रयोगों में **मख** शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ऋ० में **मख** के १५ प्रयोगों में से केवल पांच का अर्थ सा० "यज्ञ", तीन का अर्थ "यज्ञवान्", दो का अर्थ "महनीय", दो का अर्थ "मंहनीय" और शेष का अर्थ कुछ और करता है। ऋ० की जिन ऋचाओं में **मख** तथा इसके समास **सुमख** इत्यादि का प्रयोग हुआ है उन सबके प्रसंगार्थ के विश्लेषण से इस मत का समर्थन होता है कि **मख** का प्रधान अर्थ "पराक्रमी या बलवान्" प्रतीत होता है और **सुमख** इसका कर्मधारय समास है। **प्रच्यावयन्तः**= पपा० **प्रच्यवयन्तः**= प्र + √च्यु + णिच् + शतृ + प्रथ० ब०। **ऋष्टिभिः**= भारतीय भाष्यकार इस शब्द का व्याख्यान प्रायेण "आयुधविशेष" करते हैं, जबकि अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् इस शब्द का अर्थ "भाला"

करते हैं । ग्रि० आदि के मतानुसार, यहाँ पर "भालों" से विद्युत्" अभिप्रेत है। **अच्युता**=अच्युत "अचल" (पर्वतादि) नपुं० का द्विती० ब० । **मनोजुवः**=मनोजू का प्रथ० ब० । बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है । मरुतः = सं० सर्वानुदात्त । **वृषव्रातासः**=बस० होने से पूर्वपद पर उदात्त है। सा० तथा वें० आदि भारतीय विद्वान् इसके पूर्वपद **वृषन्** का अर्थ "वर्षा करने वाला" करते हैं, जबकि गै० तथा मै० इसका अर्थ "बलवान्" करते हैं। प्रसंगानुसार सा० आदि का अर्थ अधिक उपयुक्त है । **पृषतीः**=**पृषती** का द्विती० ब० । सा० इसका व्याख्यान "मरुतों के वाहन", मै० "spotted mares", और गै० तथा ग्रि० "spotted deer" करते हैं । ग्रा० ने भी ऐसे ही अर्थ सुझाये हैं। वें० **पृषतीः** को मरुतों का वि० मानता है । ऋ० १, ३७, २ के भाष्य में सायण भी इस शब्द का अर्थ "बिन्दुयुक्ता मृग्यः" करता है। ऋ० १, ६४, ८ के भाष्य में सा० दो भिन्न मत उद्धृत करता है—"**पृषत्यः** श्वेतबिन्द्वङ्किता मृग्य इत्यैतिहासिकाः । नानावर्णा मेघमाला इति नैरुक्ताः" । ऋ० २,३४,३ के भाष्य में सा० विकल्प से "श्वेतबिन्द्वङ्किताभिः मृगीभिर्वडवाभिर्वा" करता है। परन्तु कई स्थलों पर सा० इसका अर्थ "अश्व करता" है । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि **पृषती** शब्द का मौलिक अर्थ "बिन्दुओं से अङ्कित या चित्रित" है और यह वि० है । परन्तु मरुतों के सम्बन्ध में इसका विशेष्य क्या है ? सम्भवतः नैरुक्तों का अनुमान उचित हो कि इस वि० द्वारा "बिन्दुओं से चित्रित **मेघमाला**" की ओर संकेत है। **अयुग्ध्वम्**=√युज्+विकरण—लुग्—लुङ् म० पु० ब० । यत् के योग से इस पर उदात्त है।

५. प्र यद्रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं — प्र । यत् । रथेषु । पृषतीः । अयुग्ध्वम् ।
वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः । — वाजे । अद्रिम् । मरुतः । रंहयन्तः ।
उतारुषस्य वि ष्यन्ति धाराश् — उत । अरुषस्य । वि । स्यन्ति । धाराः ।
चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम ॥ — चर्मऽइव । उदऽभिः । वि । उन्दन्ति । भूम ॥

अनु०— हे मरुतो ! संघर्ष में (**वाजे**) मेघ को (**अद्रिम्**) वेगयुक्त करते हुए (**रंहयन्तः**), जब (**यत्**) तुम बिन्दुओं से चित्रित मेघमालाओं को (**पृषतीः**) अपने रथों में जोतते हो (**प्र अयुग्ध्वम्**), तब (**उत**) रक्त वर्ण के घोड़े की (**अरुषस्य**) अर्थात् मेघ की धाराएँ बह निकलती हैं (**वि ष्यन्ति**) और चमड़े की भान्ति भूमि को (**भूम**) जलों से (**उदभिः**) गीला करती हैं (**वि उन्दन्ति**) ।

टि०— अद्रिम्=अद्रि शब्द का शाब्दिक अर्थ "पत्थर, चट्टान" है, परन्तु यहां पर इसके अभिप्राय के सम्बन्ध में मतभेद है। सा० इसका व्याख्यान "मेघ" करता है। मै० तथा गै० ने इसका शाब्दिक अनुवाद "stone", और ग्रि० ने "thunderbolt" किया है। इसके भावार्थ को समझाते हुए मै० कहता है—"the Maruts hold lightning in their hands and cast a stone." गै० का अनुमान है कि यहां पर **अद्रि** तूफ़ान (storm) द्वारा गिराये जाने वाले पत्थर या चट्टान को अभिव्यक्त करता है। ग्रा० का मत है कि यहां पर **अद्रि** शब्द प्राचीन रूपकमय आख्यान द्वारा "मेघ" को अभिव्यक्त करता है (तु०—ऋ० १, ७, ३; ६२, ३; ७१, २)। ऋ० १, ७, ३ के भाष्य में स्क० भी **अद्रि** का अर्थ "मेघ" करता है। परन्तु सा० ने ऋ० १, ८८, ३; १६८, ६ इत्यादि में इस का व्याख्यान "वज्र" किया है। अतएव ग्रि० आदि कतिपय विद्वान् सा० के इस मत का अनुकरण करते हैं। यहां पर ग्रा० का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रातीत होता है। **अरुषस्य**=इस का व्याख्यान सा० "**अरुषस्य** आरोचमानस्य सूर्यस्य वैद्युताग्नेर्वा सकाशात्" और वें० "दीप्तस्य मारुतस्य गणस्य सकाशात्" करता है। गै० तथा० मै० इस शब्द का अनुवाद "रक्त घोड़े का" करते हैं। इस का अभिप्राय समझाते हुए मै० कहता है कि "द्युलोक का रक्त घोड़ा" अभिप्रेत है; तु०— ऋ० ५, ८३, ६। इस में सन्देह नहीं कि ऋ० ५, ५६, ७; ८३, ९ (अ० ४, १५, ११); ४, ५८, ७ इत्यादि में मरुतों से सम्बद्ध जिस **रक्त अश्व** का उल्लेख है वही यहां पर भी अभिप्रेत है। ग्रा० के मतानुसार "तूफान के साथ आने वाला मेघ" अभिप्रेत है। इसी मत के अनुसार ग्रि० ने इस का अनुवाद "of the dark-red stormy cloud" किया है। ऋ० ५, ८३, ६ के भाष्य में सा० भी मरुतों के **अश्व** का व्याख्यान "मेघ" करता है। **वि स्यन्ति**=√सो+लट् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २२९, ४)। अतिङन्त पद से परे आने के कारण सर्वानुदात्त है। **चर्मऽइव**=इस का शाब्दिक अर्थ "चमड़े की भांति" है और मै०, ग्रि० इत्यादि पाश्चात्य विद्वान् इस का शाब्दिक अनुवाद करते हैं। इसके अभिप्राय को समझाते हुए गै० कहता है कि चमड़े को रंगने वाला जैसे चमड़े को गीला करता है उसी प्रकार ···। सा० तथा वें० भी **चर्म** को **भूम** "भूमि" का उपमान मानते हैं और कहते है कि जैसे अल्पपरिमाण चर्म आसानी से गीला किया जाता है उसी प्रकार जलधाराएं भूमि को गीला करती हैं। ये सभी प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वान् **चर्म** को द्विती० ए० मानते हैं। ऋ० ४, १३, ४; ५, ८५, १; ६, ८, ३; ७, ६३, २; ८, ६, ५ इत्यादि में भी **चर्म** की उपमा दी गई है। इस उपमा का अभिप्राय मृग्य है। **रंहयन्तः**=√रंहू+णिच्+शतृ+प्रथ० ब०। **उन्दन्ति**=√उद् (धापा० √उन्द्)+लट् प्र० पु० ब०।

छ०— आधुनिक मतानुसार, अक्षरपूर्ति के लिये तृतीय पाद में **ष्यन्ति** का **षिअन्ति** और चतुर्थ पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा **वि उन्दन्ति** उच्चारण अपेक्षित है।

६. आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो	आ। वः। वहन्तु। सप्तयः। रघुऽस्यदः।
रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।	रघुऽपत्वानः। प्र। जिगात। बाहुऽभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं	सीदत। आ। बर्हिः। उरु। वः। सदः। कृतम्।
मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥	मादयध्वम्। मरुतः। मध्वः। अन्धसः॥

अनु०— संयुक्त (सप्तयः) तथा शीघ्रगामी (रघुष्यदः) वाहन तुम्हें (वः) इधर लाएं (आ वहन्तु)। अपने बाहुओं से (बाहुभिः) शीघ्र उड़ते हुए (रघुपत्वानः) तुम आगे बढ़ो (प्र जिगात)। (हमारे यज्ञ की वेदि के पास बिछाई हुई) कुशा (बर्हिः) पर बैठो (सीदत)। तुम्हारे लिये विशाल (उरु) आसन (सदः) बनाया गया है (कृतम्)। हे मरुतो! मधुर (मध्वः) सोम रस का (अन्धसः) आनन्द उठाओ (मादयध्वम्)।

टि०—**सप्तयः**=इस के सम्बन्ध में प्रथम ऋचा पर टि० देखिये। **जिगात**=√गा+लोट् म० पु० ब० (वै० व्या० २३९, २)। **मध्वः**=मधु का ष० ए०। **सीदत**=√सद्+लोट् म० पु० ब०। **मादयध्वम्**=√मद्+णिच्+लोट् म० पु० ब० (वै० व्या० २९०, २)। पाद के आदि में आने के कारण इन दोनों तिङन्त पदों पर उदात्त है। **रघुपत्वानः बाहुभिः**=यहाँ पर बाहुओं को पक्षों के समान मानकर, ऋषि मरुतों की उड़ान की कल्पना करता है; तु०— ऋ० १, ८८, १। सप्तमी ऋचा में पक्षियों के साथ मरुतों की उपमा दी गई है।

७. तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना	ते। अवर्धन्त। स्वऽतवसः। महिऽत्वना।
नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः।	आ। नाकम्। तस्थुः। उरु। चक्रिरे। सदः।
विष्णुर्यद्धावद्वृषणं मदच्युतं	विष्णुः। यत्। ह। आवत्। वृषणम्। मदऽच्युतम्।
वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये॥	वयः। न। सीदन्। अधि। बर्हिषि। प्रिये।

अनु०— जिनका स्वरूप ही बल है (**स्वतवसः**) वे मरुत् देवता अपनें महत्त्व से (**महित्वना**) वृद्धि को प्राप्त हुए (**अवर्धन्त**), स्वर्ग पर (**नाकम्**) आरूढ़ हुए (**तस्थुः**), और उन्होंने विशाल (**उरु**) आसन (**सदः**) बनाया (**चक्रिरे**)। जब (**यत्**) विष्णु ने वर्षा करने वाले (**वृषणम्**) तथा हर्षोत्पादक (**मदच्युतम्**) (इन्द्र) की सहायता की (**आवत्**), (तब वे मरुत् देवता) पक्षियों की तरह (**वयो न**) अपने प्रिय कुशासन पर (**बर्हिषि अधि**) बैठ गये (**सीदन्**)।

टि०— **तेऽवर्धन्त**= पूर्वरूप-सन्धि के कारण **ते** पर अभिनिहित नामक स्वतन्त्र स्वरित हो गया है (वै० व्या० ३९६, ३)। **स्वतवसः**=बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। इस शब्द का भावार्थ यह है कि मरुत् स्वयं अपने स्वरूप से ही बलवान् हैं। **महित्वना**=**महित्वन** का तृ० ए० (वै० व्या० १३८ क, ६ विशेष)। **तस्थुः**= √स्था+लिट् प्र० पु० ब०। अतिङन्त पद से परे होने पर भी इस तिङन्त पद पर उदात्त है (पा० ८, १, ६३)। इस ऋचा के प्रथम दो पादों का भावार्थ द्वितीया ऋचा के प्रथम दो पादों के भावार्थ के सदृश है। **विष्णुः**=इसके व्याख्यान के विषय में अनेक मतभेद हैं। इसका व्याख्यान वें० "यज्ञः", स्क० "यज्ञनामैतत्। सप्तम्यर्थे चात्र प्रथमा। अन्तर्णीतमत्वर्थो वा धिष्णुशब्दः। यज्ञे यज्ञवान् वा यजमानः", और सा० "विष्णुः" ही करता है। ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० प्रभृति इसका अर्थ "विष्णु देवता" करते हैं और कहते हैं कि अन्यत्र अनेक ऋचाओं में इन्द्र तथा मरुतों के साथ विष्णु देवता का उल्लेख मिलता है; तु०— ऋ० २, २२, १; ५, ८७, १, ८; ६, १७, ११; २०, २; ८, ७७, १०; ११३, २। **वृषणम्, मदच्युतम्**= ये पद क्रमशः **वृषन्** और **मदच्युत्** के द्विती० ए० के रूप हैं। इन दोनों पदों के अभिप्राय के सम्बन्ध में मतभेद है। इन्हें मरुतों का वि० मानते हुए इनका व्याख्यान वें० "वर्षितारम्। शत्रुमदस्य च्यावकं मरुद्गणम्", और स्क० "वृषणं मदच्युतमिति च्यवतिर्गतिकर्मा। वर्षितॄन् सोमलक्षणं च मदं प्रति गन्तॄन् मरुतः मरुद्गणं वेति" करता है। सा० इन दोनों पदों को यज्ञ-परक मानते हुए व्याख्यान करता है— "**वृषणं** कामाभिवर्षकं **मदच्युतं** मदस्य हर्षस्य आसेक्तारं यज्ञम्"। मैक्समूलर तथा ग्रि० इन दोनों पदों को सोम-परक मानते हैं। परन्तु ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, ये दोनों पद **इन्द्र** का वर्णन करते हैं और इस मत के समर्थन में ऋ० के अनेक स्थलों का निर्देश किया जाता है; तु०—**विष्णु** पर टि० में निर्दिष्ट ऋचाएं। मै० ने **वृषणम्** का अनुवाद "वृषभ" (bull) और **मदच्युतम्** का अनुवाद "नशे से लड़खड़ाता हुआ" किया है। गै० ने भी **वृषणम्** का अनुवाद "वृषभ" और **मदच्युतम्** का अनुवाद "मदमस्त" किया है। इस प्रसंग में ग्रा० (कोष) **मदच्युत्** शब्द का अर्थ

"मदोत्पादक" करता है। ऋ० में **मदच्युत्** शब्द इन्द्र, इन्द्र के घोड़ों, अश्विनौ, सोम तथा रयि (धन) के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस समास के उत्तरपद **च्युत्** को कहीं √च्यु का और कहीं √च्युत् का णिजन्त अर्थ प्रकट करने वाला रूप मानकर, सा० ने अनेक बार "शत्रुओं के मद (गर्व) को गिराने वाले", "मद को गिराने वाला", "मद को बहाने वाला", "मद (सोम) के प्रति जाने वाला" इत्यादि इस शब्द के व्याख्यान किये हैं। **मदच्युत्** शब्द के वैदिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए "मदोत्पादक या हर्षोत्पादक" ही इस का प्रधान अर्थ प्रतीत होता है। **वृषन्** शब्द निश्चय ही "वर्षितृ या वर्षा करने वाला" अर्थ को अभिव्यक्त करता है। अतएव वृषभ (bull) शब्द द्वारा इस का अनुवाद करना अनुचित है। **आवत्**=√अव्+लङ् प्र० पु० ए०। **वयो न**= ऋ० १, २५, ४ पर टि० देखिये। **सीदन्**=√सद्+लङ् प्र० पु० ब० अडागमरहित। इसे यहां पर लट् या लोट् के अर्थ में प्रयुक्त मानना अनुपयुक्त है, जैसा कि सा०, स्क० तथा वें० मानते हैं।

८. शूरा॑ इ॒वेद्यु॒युध॑यो॒ न जग्म॑यः	शूरा॑ःइव। इत्। यु॒युध॑यः। न। जग्म॑यः।
श्र॒व॒स्यवो॒ न पृत॑नासु येतिरे।	श्र॒व॒स्यव॑ः। न। पृत॑नासु। ये॒ति॒रे॒।
भ॒यन्ते॒ विश्वा॒ भुव॑ना म॒रुद्भ्यो॒	भ॒यन्ते॑। विश्वा॑। भुव॑ना। म॒रुत्ऽभ्य॑ः।
राजा॑न इव त्वे॒षसं॑दृशो॒ नर॑ः॥	राजा॑नःऽइव। त्वे॒षऽसं॑दृशः। नर॑ः॥

अनु०— शूरवीरों की तरह, योद्धाओं की तरह (**युयुधयो न**), तथा यश के इच्छुक वीरों की तरह (**श्रवस्यवो न**), गमनशील (**जग्मयः**) मरुत् देवता इन्द्र-वृत्र-संग्रामों में (**पृतनासु**) स्पर्धापूर्वक प्रयास करते रहते हैं (**येतिरे**)। सब (**विश्वा**) प्राणी (**भुवना**) मरुतों से डरते हैं/ (भयन्ते) वीर नेता (**नरः**) (मरुद्गण) राजाओं की तरह दीप्त दर्शन वाले हैं (**त्वेष-संदृशः**)।

टि०—इस ऋचा के प्रथम पाद में **इव** तथा **न** ये दोनों उपमावाचक निपात हैं। गै० के मतानुसार, इन में से एक निपात अनावश्यक है; तु०—ऋ० १, ६१, ४। **युयुधयः**=युयुधि (√युध्+इ—वै० व्या० ३६० ख) का प्रथ० ब०। **जग्मयः**=जग्मि (√गम्+इ—वै० व्या० ३६० ख) का प्रथ० ब०। **श्रवस्यवः**=श्रवस्यु (श्रवस्+य+

उ—वै० व्या० ३६२ छ) का प्रथ० ब० । **येतिरे**=√यत्+लिट् प्र० पु० ब० । अतिङन्त पद से परे आने के कारण यह सर्वानुदात्त है । **भयन्ते**=भ्वा० में √भी+लट् प्र० पु० ब० (वै० व्या २२३) । पाद के आदि में आने के कारण इस पर उदात्त है । **नरः**=नृ का प्रथ० ब० । यह शब्द ऋ० में प्रायेण "वीर नेता" अर्थ में आता है । **त्वेषसंदृशः**= बस० होने के कारण इस के पूर्वपद पर उदात्त है । इस का व्याख्यान स्क० "दीप्तदर्शनाः" और वें० तथा सा० "दीप्तसंदर्शनाः" करते हैं; तु०—ऋ० ५, ५२, १२; मनु ७, ६ । ग्रा० तथा गै० प्राचीन भारतीय भाष्यकारों के व्याख्यान का अनुसरण करते हैं, जब कि मै० इस का अनुवाद "of terrible aspect" और ग्रि० "terrible to behold" करता है । **पृतनासु**=सभी प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वान् इस का व्याख्यान "संग्रामों में" करते हैं । यहां पर इन्द्र और वृत्र के "संग्राम" अभिप्रेत हैं; तु०—ऋ० २, २२, १; ६, २०, २; ८, ३, ८; १०, ११३, २ ।

छ०—आधुनिक मत के अनुसार, तृतीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये **मरुद्भ्यो** का **मरुद्भिओ** उच्चारण अपेक्षित है ।

९. त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं	त्वष्टा । यत् । वज्रम् । सुऽकृतम् । हिरण्ययम् ।
सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् ।	सहस्रऽभृष्टिम् । सुऽअपाः । अवर्तयत् ।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवे-	धत्ते । इन्द्रः । नरि । अपांसि । कर्तवे ।
ऽहन् वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम् ॥	अहन् । वृत्रम् । निः । अपाम् । औब्जत् । अर्णवम् ॥

अनु०—जब (**यत्**) शोभन कर्म वाले (**स्वपाः**) त्वष्टा ने सुनिर्मित (**सुकृतम्**), सुवर्णमय (**हिरण्ययम्**) तथा सहस्रधार वाले (**सहस्र-भृष्टिम्**) वज्र को (इन्द्र के लिये) बनाया (**अवर्तयत्**), इन्द्र ने वीरोचित कर्म (**नरि अपांसि**) करने के लिये (**कर्तवे**) उसे धारण किया (**धत्ते**), वृत्र को मारा (**अहन्**), तथा जलों की बाढ़ को (**अपाम्**………**अर्णवम्**) बाहिर निकाला (**निर् औब्जत्**) ।

टि०—**सहस्रभृष्टिम्**=बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त हैं । **स्वपाः**= इस बस० के पूर्वपद में सु होने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है । **धत्ते**=√धा+लट्

आ० प्र० पु० ए०। पाद के आदि में आने के कारण इस पर उदात्त है। मै० के मतानुसार लट् का यह रूप भूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वें० भी इस पद का अर्थ "अधारयत्" करता है। परन्तु सा०, स्क० तथा गै० **धत्ते** का प्रयोग वर्तमानकाल में ही मानते हैं। **नर्यपांसि**=पपा० के अनुसार इस में **नरि+अपांसि** की सन्धि है। **नरि** को **नृ** का स० ए० मानते हुए, इस का व्याख्यान वें० "नेतरि मरुद्गणे सहायभूते सति", स्क० "गणापेक्षं चैकवचनं नराकारे मरुद्गणे। मनुष्याकाराणां मरुतां गणस्य वज्रमिन्द्रो ऽर्पयतीत्यर्थः", और सा० "अत्र नृसंबन्धात् नृशब्देन संग्रामो ऽभिधीयते। संग्रामे" करता है। परन्तु ग्रा०, मै० प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, इस का पाठ **नर्यापांसि** होना चाहिए, क्योंकि इस में वे **नर्या+अपांसि** की सन्धि मानते हैं। ये विद्वान् **नर्या** को **नर्य** "वीरतापूर्ण" का द्विती० ब० और **अपांसि** का वि० मानते हैं। इस मत के समर्थन में इसी प्रकार के अन्य वैदिक प्रयोग निर्दिष्ट किये जाते हैं; तु०—ऋ० ४, १९, १०; ८, ९६, २१; ७, २१, ४। ऋ० ८, १६, ११ में प्रयुक्त **नर्यपांसि** का भी ये विद्वान् ऐसा ही समाधान करते हैं, जबकि पपा० के अनुसार वहां पर भी **नरि+अपांसि** की सन्धि है। वहां पर सा० **नरि** का व्याख्यान "कर्मनेतरि मनुष्ये" करता है। पपा० की परम्परा का आदर करते हुए, गै० यहां पर **नरि+अपांसि** की सन्धि मानता है और सप्तम्यन्त रूप **नरि** को षष्ठयर्थ में प्रयुक्त समझता है और इन दोनों पदों का अर्थ "मनुष्य के कर्म" करता है। अपने मत के समर्थन में गै० ऋ० ५, ३५, ४ तथा ८, ३, १० का **वृष्णि शवः**=ऋ० ९, ६४, २ का **वृष्णः···शवः** निर्दिष्ट करता है। पपा० के मत की अवहेलना करते हुए, इस के संहितापाठ में संशोधन करना सर्वथा अवाञ्छनीय है। पपा० के मतानुसार हमें **नरि** को **नृ** का स० ए० मानना चाहिए। सम्भवतः यहां पर "विषये सप्तमी" का प्रयोग है। अत एव **नरि** का व्याख्यान "वीर के विषय में" (उचित) किया जा सकता है। इस लिये **नरि अपांसि** का भावार्थ है—"वीरोचित कर्म"।

कर्तवे=√कृ+तुमर्थक **तवे** प्रत्यय (वै० व्या ३४१ ज)। **अहन्**=√हन्+लङ् प्र० पु० ए०। पाद के आदि में आने के कारण इस पर उदात्त है। **निर्+औब्जत्**=√उब्ज्+लङ् प्र० पु० ए०। अतिङन्त पद से परे आने के कारण यह सर्वानुदात्त है। **अपाम् अर्णवम्**=स्क० **अर्णवम्** को **अपाम्** से अन्वित न करके इसे **वृत्रम्** का वि० मानते हुए व्याख्यान करता है—"अपामिति द्वितीयार्थे षष्ठी। उब्ज आर्जवे। वृत्रोदरान्तर्गता अपो भुवं प्रति गमनाय नियमेन ऋजूकरोतीत्यर्थः। अर्णवम्। वृत्रस्येदं विशेषणम्। उदकवन्तं मेघम्"। इसी प्रकार सा० व्याख्यान करता है—"**वृत्रं** वृष्ट्युदकस्यावरकम्, **अर्णवम्** अर्णसोदकेन युक्तं मेघम् **अहन्** अवधीत्। **अपां**—तेन

निरुद्धा अ।श्च सः निः औब्जत् निःशेषेणाधोमुखमपातयत्"। परन्तु वें० इन पदों को अन्वित करते हुए इन का व्याख्यान "अपाम्। अर्णवं मेघम्" करता है। आधुनिक विद्वान् भी इन दोनों पदों को अन्वित करते हुए इन का व्याख्यान "जलों की बाढ़" करते हैं।

१०. ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा — ऊर्ध्वम्। नुनुद्रे। अवतम्। ते। ओजसा।

दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतम्। — ददृहाणम्। चित्। बिभिदुः। वि। पर्वतम्।

धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो — धमन्तः। वाणम्। मरुतः। सुऽदानवः।

मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे॥ — मदे। सोमस्य। रण्यानि। चक्रिरे॥

अनु०— उन्होंने (मरुतों ने) जलपूर्ण मेघ को (**अवतम्**) अपने बल से (**ओजसा**) ऊपर की ओर प्रेरित किया (**ऊर्ध्वं नुनुद्रे**); पर्वत-रूपी (**पर्वतम्**) अतिदृढ़ (**दादृहाणम्**) मेघ को भी (**चित्**) छिन्न-भिन्न कर दिया (**वि बिभिदुः**)। अच्छी वृष्टि करने वाले (**सुदानवः**) मरुतों ने (अपनी ध्वनि से मानो) वाण नामक वाद्य बजाते हुए (**धमन्तः**) सोमपान के हर्ष में (**मदे**) रमणीय कार्य (**रण्यानि**) किये (**चक्रिरे**)।

टि०—नुनुद्रे=√नुद्+लिट् आ० प्र० पु० ब०। **अवतम्** = निघण्टु (३, २३) में यह शब्द "कूप" के नामों में गिनाया गया है। तदनुसार सा० तथा वें० इस का व्याख्यान "कूपम्" करते हैं। अगली ऋचा में प्रयुक्त "**अवतम्**" का भी यही अर्थ करते हुए सा० प्रभृति भारतीय भाष्यकार इस सम्बन्ध में यह ऐतिहासिक प्रसंग दिखाते हैं कि तृषा से पीड़ित गोतम ऋषि ने जब मरुतों का आह्वान किया तब मरुद्गण ने एक कूप को वहां प्रेरित किया और गोतम के लिये उस का जल सींचा। मैक्समूलर, ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् भी सा० द्वारा दिये गये शब्दार्थ का अनुकरण करते हैं। परन्तु इस का व्याख्यान करते हुए मै० कहता है कि यहां पर अवत "मेघ" को अभिव्यक्त करता है और भावार्थ यह है कि "उन्होंने जल बरसाया"। **अवतम्** का व्याख्यान करते हुए स्क० कहता है—"**अवतम्** अवपतितम् अधोगतम्। अधोमुखमिति यावत्। अथवा अवत इति कूपनाम। तत्सादृश्याच्चात्र तद्व्यपदेशः। बहूदकत्वादिना सादृश्येन कूपसदृशं मेघम्।" मरुतों के प्रसंग में यहां पर **अवत** शब्द "मेघ"

के लिये आलङ्कारिक ढंग से प्रयुक्त किया गया है और मेघ के बहूदकत्व को अभिव्यक्त किया गया है। **बिभिदुः**=√भिद्+लिट् प्र० पु० ब०। **दादृहाणम्**=पपा० **ददृहाणम्**, √दृह्+कानच् (वै० व्या० ३३२ ग)। **पर्वतम्**=सा० तथा वें० इस का व्याख्यान "शिलोच्चयम्" करते हैं और अनुवाद में गे० तथा मै० आदि आधुनिक विद्वान् भी इस शब्दार्थ का अनुकरण करते हैं। परन्तु इस के व्याख्यान में मै० इसे "मेघ" के अर्थ में मानता है। ग्रि० ने भी यही अर्थ माना है। स्क० इस का व्याख्यान "मेघं शिलोच्चयं वा" करता है। ग्रासमैन भी यहां पर **पर्वत** शब्द का "मेघ" के अर्थ में आलङ्कारिक प्रयोग मानता है; ऋ० १, १९, ७ पर टि० देखिये। **रण्यानि**=रण्य का द्विती० ब०। इस का व्याख्यान वें० "रमणीयानि", स्क० "रमणीयानि कर्माणि", और सा० "रमणीयानि धनानि" करता हैं। मैक्समूलर, ग्रि० तथा मै० इस का अनुवाद "glorious deeds" करते हैं, जब कि गे० "प्रिय वस्तुएं" करता है। वास्तव में रण्य शब्द "रमणीय" अर्थ का वाचक वि० है और प्रसंगानुसार इस के विशेष्य का अध्याहार किया जा सकता है। **सुदानवः**="अच्छी वृष्टि करने वाले", दे—ऋ० ७, ६१, ३ के **सुदानू** पर टि०।

छ०—आधुनिक मत के अनुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिए प्रथमपाद में पूर्वरूप सन्धि हटाकर **नुनुद्रे अवतं** और चतुर्थ पाद में **रण्यानि** का **रणिआनि** उच्चारण करना चाहिए।

११. जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशा-	जिह्मम्। नुनुद्रे। अवतम्। तया। दिशा।
सिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे।	असिञ्चन्। उत्सम्। गोतमाय। तृष्णऽजे।
आ गच्छन्तीमवसा चित्रभानवः	आ। गच्छन्ति। ईम्। अवसा। चित्रऽभानवः।
कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः॥	कामम्। विप्रस्य। तर्पयन्त। धामऽभिः॥

अनु०—(मरुतों ने) जलपूर्ण मेघ को (**अवतम्**) उसी दिशा में तिरछा (**जिह्मम्**) प्रेरित किया (**नुनुद्रे**) और प्यासे गोतम के लिए झरना (**उत्सम्**) बहा दिया (**असिञ्चन्**)। देदीप्यमान प्रकाश वाले (**चित्रभानवः**) देवता अपनी सहायता के साथ (**अवसा**) उसके पास आते हैं। वे अपने तेजों से (**धामभिः**) मेधावी स्तोता की (**विप्रस्य**) इच्छा को (**कामम्**) तृप्त करें (**तर्पयन्त**)।

टि०—अवतम्=दे० ऋचा १० पर टि०। असिञ्चन्=पाद के आदि में होने के कारण इस पर उदात्त है। अवसा=अवस् का तृ० ए०। चित्रभानवः=बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। तर्पयन्त=√तृप्+णिच्+लङ् प्रा० से बना विधिमूलक प्र० पु० ब०। धामभिः=धामन् का तृ० ब०। इस का व्याख्यान वें० "धारकैर्जलैः", सा० "आयुषो धारकैरुदकैः", और स्क० "धीयन्ते तानीति धामानि धनान्यत्राभिप्रेतानि। तैः। अथवा धामानि स्थानानि। इह च परत्र च लोके अभिप्रेतैः स्थानैरिति" करता है। इसका अनुवाद मैक्समूलर "in their own ways", और ग्रि० तथा मै० "by their powers" करते हैं। ग्रा० इस का अर्थ "परम्परा, परम्परागत क्रिया" करता है। ऋ० में धामन् शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। अनेक ऋचाओं के भाष्य में सा० आदि भारतीय भाष्यकार इसका व्याख्यान "स्थान" "तेज" इत्यादि करते हैं। ऋ० १, १४, १०; ३, ३, ४; ३१, २१; ३७, ४; ४, ७, ५; ९, ६६, ५ के भाष्य में सा० धामभिः का व्याख्यान "तेजोभिः" करता है। ग्रि० तथा मै० द्वारा दिया गया "शक्तियों से" अर्थ "तेजोभिः" अर्थ का भावार्थ मात्र है। दे०—ऋ० ७, ६१, ४ पर टि०।

छ०—आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये पूर्वरूपसन्धि को हटा कर प्रथम पाद में नुनुद्रे अवतम् और द्वितीय पाद के आदि में सवर्णदीर्घ सन्धि हटा कर असिञ्चन् उच्चारण करना चाहिए।

१२. या वः शर्म शशमानाय सन्ति	या। वः। शर्म। शशमानाय। सन्ति।
त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।	त्रिऽधातूनि। दाशुषे। यच्छत। अधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त	अस्मभ्यम्। तानि। मरुतः। वि। यन्त।
रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम्॥	रयिम्। नः। धत्त। वृषणः। सुऽवीरम्॥

अनु०—तुम्हारी (वः) जो (या) शरण अर्थात् सुरक्षाएं (शर्म) देवपूजा में प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए (शशमानाय) हैं, उपासक के लिये (दाशुषे) उन्हें तिगुना (त्रिधातूनि) प्रदान कीजिये (अधि यच्छत)। हे मरुतो! हमारे लिये उन्हें (तानि) प्रदान कीजिये (वि यन्त)। हे वर्षा करने

वाले (**वृषणः**) मरुतो ! हमें अच्छे वीर पुत्रों से सम्पन्न (**सुवीरम्**) धन (**रयिम्**) प्रदान कीजिये (**धत्त**)।

टि०—या=यानि, यद् का प्रथ० ब० नपुं०। **शर्म**=**शर्मन्** का प्रथ० ब० (वै० व्या० १३१ ग)। इस का व्याख्यान वें० "गृहाणि", और स्क० तथा सा० "सुखानि गृहाणि वा" करते हैं। अन्यत्र भी भारतीय भाष्यकार इस शब्द का ऐसा ही व्याख्यान करते हैं। परन्तु अधिकतर आधुनिक विद्वान् इस का व्याख्यान "शरण" (shelters) करते हैं। वास्तव में **शर्मन्** और **शरण** दोनों सजात्य हैं और √शृ धातु से निष्पन्न होते हैं। अत एव "शरण" अर्थ सर्वथा समीचीन है और शर्मन का "गृह" अर्थ "शरण" का ही गौण भावार्थ है। अनेक स्थलों पर सा० आदि भारतीय भाष्यकार भी **शर्मन्** का अर्थ "शरण" करते हैं; तु०—ऋ० १, २२, १५; ४, १७, १९ इत्यादि। यास्क (१, १९. ३२) ने भी **शर्मन्** का व्याख्यान "शरण" किया है। **शशमानाय**= इस का व्याख्यान वें० "यजमानाय", सा० "युष्मान् स्तुतिभिर्भजमानाय", और स्क० "शशतिरर्चतिकर्मायम्। ताच्छील्ये चात्र शानच् प्रत्ययः। स्तुतिकरणशीलस्यार्थाय" करता है। इस का अनुवाद मै० "for the zealous man" और गै० "देव-पूजा के उत्सुक के लिये" करता है। ग्रा० (कोष) इस का व्याख्यान "देव-पूजा में प्रयत्नशील के लिये" करता है। रोट, ग्रा०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् **शशमान**=√**शम्**+**कानच्** (वै० व्या० ३३२ ग) मानते हैं और इस √शम् धातु को √श्रम् का समानार्थक समझते हैं। निघण्टु ३, १४ में **शशमान** को "अर्चना करना" अर्थ वाले धातुओं के रूपों में गिनाया गया है। यास्क (६, ८) **शशमानः** का व्याख्यान "शंसमानः" करता है और दुर्गाचार्य "शंसमानः" का "स्तुवन्" करता है। निघण्टु में निर्दिष्ट "अर्चना करना" अर्थ भी वास्तव में "स्तुति करना" अर्थ के समान ही है। अत एव सा०, स्क०, महीधर, उवट आदि भारतीय भाष्यकार **शशमान** का अर्थ प्रायेण "स्तुति करता हुआ" करते हैं। परन्तु ऋ० में अनेक ऐसे स्थल हैं जहां **शशमान** के रूप के साथ-साथ "स्तुति करना" अर्थ वाला अन्य धातुरूप मिलता है; तु०—ऋ० २, १२, १४; २०, ३ (**शंसन्तं, शशमानं, स्तुवन्तम्**); ८, ६६, २ (**शशमानाय, जरित्रे**)। ऐसे स्थलों पर **शशमान** के लिये "स्तुति करता हुआ" अर्थ उपपन्न नहीं होता है। सा० ने भी ऋ० २, २० ३ के भाष्य में **शशमानम्** का अर्थ "क्रियाः कुर्वाणम्" और १०, १४२, ६ के भाष्य में विकल्प से **शशमानस्य** का अर्थ "सर्वं वनमाक्रम्य शीघ्रं गच्छतः" किया है। ऋ० ४, २२, ८ में "**शशमानस्य शक्तिः**" का उल्लेख मिलता है। इस सब तथ्यों से स्पष्ट है कि "स्तुति करता हुआ" अर्थ की अपेक्षा "देवपूजा में प्रयत्नशील" अर्थ अधिक उपपन्न

है। **त्रिधातूनि**=त्रिधातु का द्विती० ब०। इस का व्याख्यान वें० "त्रिच्छदिष्काणि", सा० "पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु अवस्थितानि", और स्क० "धीयन्ते प्राणिनां देहेष्विति धातवः अन्नरसाः। तैः देवमनुष्योपभोग्यैः त्रिभिरप्युपेतानि" करता है। ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इस का व्याख्यान "तिगुना" (threefold) करते हैं। **यन्त**=√यम्+लोट् म० पु० ब०। आधुनिक विद्वान् इसे लुग्-विकरण-लुङ् के अङ्ग से बना लोट् का रूप मानते हैं (वै० व्या० २६६ ग)। **सुवीरम्**=बस० के पूर्वपद में सु आने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है। यह **रयिम्** का वि० है। **दाशुषे**=दाश्वस् का च० ए० (तु०—ऋ० १, १, ६ पर टि०)। **धत्त**=√धा+लोट् म० पु० ब०। यहां पर √धा "देना" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

ऋ० १, १६० (द्यावापृथिवी)

ऋषि:— दीर्घतमा औचथ्य: । देवता— द्यावापृथिवी । छन्द:— जगती ।

१. ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुव	ते इति । हि । द्यावापृथिवी इति । विश्वऽशंभुवा ।
ऋतावरी रजसो धारयत्कवी ।	ऋतवरी इत्यृतऽवरी । रजस: । धारयत्कवी इति धारयत्ऽकवी ।
सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते	सुजन्मनी इति सुऽजन्मनी । धिषणे इति । अन्त: । ईयते ।
देवो देवी धर्मणा सूर्य: शुचि: ॥	देव: । देवी इति । धर्मणा । सूर्य: । शुचि: ॥

अनु०— द्युलोक तथा पृथिवीलोक (द्यावापृथिवी) वे दोनों (ते) नि:सन्देह (हि) सबको सुख देने वाले (विश्वशंभुवा), शाश्वत नियम का पालन करने वाले (ऋतावरी), तथा अन्तरिक्ष के (रजस:) कवि अर्थात् आदित्य को धारण करने वाले हैं (धारयत्कवी)। सुन्दर सृष्टि को उत्पन्न करने वालीं (सुजन्मनी) तथा सब प्राणियों को धारण करने वालीं (धिषणे) दो देवियों (देवी) के मध्य (अन्त:) चमकता हुआ (शुचि:) सूर्य देव अपने धर्म अर्थात् नियम के अनुसार (धर्मणा) गति करता है (ईयते)।

टि०—विश्वशंभुवा+ऋतावरी=विश्वशंभुव ऋतावरी। पदादि ऋ की पदान्तीय अ आ के साथ गुणसन्धि नहीं होती है। अन्तिम आ का ह्रस्व हो गया (वै० व्या० ४०)। पपा० में प्रगृह्यों के पश्चात् इति जोड़ा जाता है (वै० व्या० ८८ क)। ऋतावरी के लिये ऋ० ३, ६१, ६ पर टि० देखिये। विश्वशंभुवा=विश्वशंभू का प्रथ० द्वि०। महीधर (वा० सं० ८, ४५; १०, ९) इसे बस० मानता है (विश्वस्य सर्वस्य शं सुखं भवति याभ्यां ते विश्वशंभुवा), परन्तु सा० इसे तत्पुरुष समास और

विकल्प से बस० मानता है (ऋ० १, २३, २०)। यद्यपि सामान्य नियम (वै० व्या० ३९९; पा० ६, २, १०६) के अनुसार, इस पर बस० का स्वर है, तथापि अर्थ की दृष्टि से यह तत्पुरुष प्रतीत होता है। इस के पूर्वपद पर उदात्त को सामान्य नियम का अपवाद माना जा सकता है (वै० व्या० ३९८ ग०)। **रजसो धारयत्कवी**= धारयत्कवि पूर्वपदप्रधान (शत्रन्तप्रधान) समास है और इस के पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० २९१ ख)। **रजस्** शब्द के व्याख्यान के लिये ऋ० १; १९, ३ पर टि० देखिये। **धारयत्कवी** का **कवि** शब्द अर्थ की दृष्टि से षष्ठ्यन्त **रजसः** से अन्वित है। सा० अपने द्वितीय (वैकल्पिक) व्याख्यान में "आदित्य" को **रजसः कवि** मानता है। गै० इसी मत को उचित समझता है और यही मत उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि इसी ऋचा के तीसरे तथा चौथे पाद के वर्णन से इस मत को समर्थन मिलता है। परन्तु मै० के मतानुसार, अग्नि अभिप्रेत है जिसे ऋ० १०, २, ७ के अनुसार **द्यावापृथिवी** ने उत्पन्न किया है। **सुजन्मनी**=बस० के पूर्वपद में सु के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क १)। इस का व्याख्यान वें० "शोभनजन्मानौ" और सा० "शोभनजन्मवत्यौ" करता है। इतने व्याख्यान से भावार्थ स्पष्ट नहीं है। ग्रा०, गै०, मो० तथा मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् सुजन्मन् शब्द का अर्थ "सुन्दर सृष्टि (या वस्तुएं) उत्पन्न करने वाला" करते हैं और यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। ऋ० १०, २, ७; १८, ६ में प्रयुक्त **सुजनिमा** का व्याख्यान सा० भी "शोभनजननः" करता है। **धिषणे**= इस का व्याख्यान वें० "धृष्टे" और सा० "धर्षणोपेते स्वव्यापारेषु प्रगल्भे इत्यर्थः" करता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति तथा व्याख्यान दोनों के विषय में सन्देह है। गै० ने ऋ० के जर्मन अनुवाद में इस शब्द का कोई अनुवाद नहीं किया है। मै० यह स्वीकार करता है कि इस का अर्थ अनिश्चित है, तथापि इस का अनुवाद *"two divine bowls"* करता है। ग्रि० **सुजन्मनी** के साथ इस का अनुवाद "two Bowls of noble kind" करता है। ग्रा० (कोष) का मत है कि **धिषणा** का शाब्दिक अर्थ "सोम का प्याला" प्रतीत होता है और रूपकालङ्कार द्वारा "द्यावापृथिवी" को देवताओं के लिये सोमरस से पूर्ण प्याले कहा गया है (तु०—ऋ० ३, ४९, १; ५६, ६; ६, ८, ३; ५०, ३; ७०, ३; ८, ६१, २; १०, ४४, ८)। द्यावापृथिवी के प्रसंग में सा० अनेक बार **धिषणे** का व्याख्यान "धारयित्र्यौ" भी करता है। यास्क (८, ३) तथा ग्रा० आदि इस की व्युत्पत्ति √धा से मानते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार हम यहां पर **धिषणे** के धारयित्र्यौ "धारण करने वाली" अर्थ को ग्राह्य समझते हैं। **ईयते**=ऋ० १, ३५, ९ पर टि० देखिये।

विशेष—इस ऋचा में द्युलोक और पृथिवीलोक का वर्णन दो देवियों के रूप में स्त्री० में किया गया है।

छ०—चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिये ग्रा० तथा मै० सूर्यः का सूरिअः उच्चारण सुझाते हैं (वै० व्या० ४२०)।

२. उरुव्यचसा महिनी असश्चता	उरुऽव्यचसा । महिनी इति । असश्चता ।
पिता माता च भुवनानि रक्षतः ।	पिता । माता । च । भुवनानि । रक्षतः ।
सुधृष्टमे वपुष्ये३ न रोदसी	सुधृष्टमे इति सुऽधृष्टमे । वपुष्ये३ इति । न । रोदसी इति ।
पिता यत्सीमभि रूपैरवासयत् ॥	पिता । यत् । सीम् । अभि । रूपैः । अवासयत् ॥

अनु०—विशाल विस्तार वाली (उरुव्यचसा), महती (महिनी) तथा कभी क्षीण न होने वाली (असश्चता) द्यावापृथिवी माता (अर्थात् निर्मात्री पृथिवी) और पिता (अर्थात् पालक द्युलोक के रूप में) प्राणियों (भुवनानि) की रक्षा करती हैं (रक्षतः)। दो सुन्दरियों की तरह (वपुष्ये न) द्यावापृथिवी (रोदसी) अतिशय उत्साह वाली अर्थात् पूर्णतया निर्भीक (सुधृष्टमे) हैं, क्योंकि (यत्) जगत्पिता विश्वकर्मा ने (पिता) इन्हें (सीम्) रूपों से अर्थात् सुन्दरता से (रूपैः) विभूषित किया है (अवासयत्)।

टि०—उरुव्यचसा=पूर्वपद में उरु होने के कारण सामान्य नियम के अपवादस्वरूप इस बस० के उत्तरपद पर उदात्त हैं (वै० व्या० ३९९ क० ३)। असश्चता=असश्चत् का प्रथ० द्वि०। इस का व्याख्यान वें० "असक्ते" और सा० "असज्जमाने परस्परवियुक्ते इत्यर्थः" करता है। अन्यत्र भी √सस्ज् से इस की व्युत्पत्ति मानते हुए सा० असश्चत् का व्याख्यान "असज्यमान" (१, १४२, ६; ७, ६७, ९; २, २५, ४), "संगरहित, असंगत, अनासक्त" (१, ११२, २; २, ३२, ३; ६, ५७, १; ६२, २८; ७३, ७; ७४, ६; ८५, १०; ८६, २७) इत्यादि करता है। स्क० √सश्च् "संगे" से व्युत्पत्ति मानते हुए इस का व्याख्यान "असज्यमान" (१, १३, ६) करता है। ग्रा०, ह्विटने, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् √सच् से द्वित्व द्वारा सश्चत् को सिद्ध करके नञ् बस० के रूप में असश्चत् का व्याख्यान करते हैं। यहाँ पर यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि सश्च् अङ्ग से परे उणादि अत् प्रत्यय (वै० व्या० ३५४ ख) जोड़ने से जो अन्तोदात्त सश्चत् शब्द बनता है उस के नञ् बस० से वर्तमान अन्तोदात्त

असश्चत् प्रातिपदिक बनता है। और इस के विपरीत **सश्च्** अङ्ग के साथ शतृ-प्रत्यय जोड़ने से जो आद्युदात्त **सश्चत्** शब्द बनता है उस के नञ् तस० से बना आद्युदात्त **असश्चत्** प्रातिपदिक इस से भिन्न है। ऋ० १, ४२, ७ में प्रयुक्त अन्तोदात्त **सश्चतः** के व्याख्यान "अस्मद्बाधनाय प्राप्नुवतः शत्रून्। 'ग्लुञ्च षस्ज गतौ' इत्यत्र सश्चिमप्येके पठन्तीति धातुवृत्तावुक्तम्" में सा० और १, १३, २ में प्रयुक्त **असश्चतः** के व्याख्यान में स्क० √**सश्च्** धातु का उल्लेख करता है। यदि इस प्राचीन भारतीय मत के अनुसार, √**सश्च्** धातु मान लिया जाय, तब भी शेष व्याकरण-प्रक्रिया समान है। अन्तोदात्त **सश्चत्** शब्द का व्याख्यान सा० आदि भारतीय भाष्यकार तथा ग्रास०, मोनि० आदि आधुनिक विद्वान् "शत्रुः, प्रतिद्वन्द्वी, पीछा करने वाला" इत्यादि करते हैं। इस व्याख्यान के अनुसार इस बस० **असश्चत्** का शाब्दिक अर्थ "शत्रुरहित, अद्वितीय" होता है, जैसा कि मै० ने V. R. में टि० में दिया है— "having no second." परन्तु यह शब्दार्थ सर्वत्र नहीं घटता है। इसलिये ग्रास० कहता है कि इस का भावार्थ है "अद्वितीय पूर्णता वाला अर्थात् कभी क्षीण न होने वाला"। इसी व्याख्यान के अनुसार मै०, गै०, मो० इत्यादि आधुनिक विद्वान् इस **असश्चत्** का अनुवाद "कभी क्षीण न होने वाला, कभी न सूखने वाला" करते हैं। ऋ० के सब प्रसंगों में यह अर्थ घटता है। **सुधृष्टमे**=इसका व्याख्यान वें० "सुधृष्टतमे" और सा० "अतिशयेन धृष्टे। छान्दसस्तकारलोपः। प्रगल्भे।" करता है। सा० (ऋ० १, १८, ९) **सुधृष्+तमप्** द्वारा इस शब्द की सिद्धि मानता है। यद्यपि आधुनिक विद्वान् इस व्युत्पत्ति को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु गै० तथा मो० इसे सन्दिग्ध मानते हुए इस का सन्दिग्ध अर्थ "very bold (?)" देते हैं। इसी प्रकार मै० "most proud", ग्रि० "spirited" और ग्रा० "most enterprising" अर्थ करते हैं। परन्तु गै० कहता है कि ओल्डनबर्ग ने **सुधृष्टमे** के लिये **सुदृष्टमे** ("अतिशय सुन्दर दर्शन वाली") पाठ का जो अनुमान लगाया है वह आकर्षक है, यद्यपि यह एक विचित्र अशुद्धि होगी। इस प्रकार के पाठ-संशोधन का सुझाव ग्राह्य नहीं है। **सुधृष्** उपपद समास के साथ अनुदात्त **तमप्** प्रत्यय जोड़ा गया है। तदनुसार इस का शाब्दिक अर्थ है "अतिशय उत्साह वाली"। गै० इसे **रोदसी** के साथ अन्वित करता है, परन्तु मै० **वपुष्ये न** के साथ अन्वित करता है। **वपुष्ये न**=संहितापाठ में इस से परे उपमावाचक सोदात्त **न** आने पर **वपुष्ये** के स्वतन्त्र स्वरित को ३ के अंक द्वारा चिह्नित करने का विशेष स्वरांकन-पद्धति के लिये देखिये वै० व्या० ३११, ६। **वपुष्ये** का व्याख्यान वें "वपुषे हिते च भवतः" और सा० "वपुषो हिते इव। प्राणिनां पिताविव शरीररक्षके इत्यर्थः" करता है। वें० **न** का कोई अर्थ नहीं देता है। गै० तथा मै० **वपुष्ये न** का अनुवाद "दो सुन्दर स्त्रियों की तरह" करते हैं। **सुधृष्टमे** को भी "दो सुन्दर स्त्रियों" का वि० मानते हुए, मै० इस पाद का अनुवाद करता है— "like two most proud fair women are the two worlds". ग्रास० तथा मोनि० **वपुष्य** शब्द का अर्थ "सुन्दर, आश्चर्यजनक" देते हैं। सा० अन्यत्र **वपुष्या**

(१, १८३, २) का अर्थ "युष्मद्वपुषि हिता शरीरवर्धिनी", और वपुष्य: का अर्थ "वपुषि रूपे साधु:" (४, १, ८), "कमनीय:" (४, १, १२) तथा "वपुष्करो दीप्तिकरो वा" (५, १, ९) करता है। इस से स्पष्ट है कि सा० आदि भी इस के अर्थ के विषय में किसी निश्चित आधार या परम्परा का अनुसरण नहीं करते हैं। उपमावाचक न निपात के अर्थ को ध्यान में रखते हुए, गे० तथा मै० का व्याख्यान ही उचित प्रतीत होता है। **पिता**=यहां पर पिता शब्द से कौन सा देवता अभिप्रेत है? इस का व्याख्यान वें० "सूर्य:", सा० "पितृस्थानीया द्यौ:", और मै० "विश्वकर्मन्" करता है जो ऋ० १०, ८१, १. २ में पृथिवी और द्युलोक को उत्पन्न करने वाला **पिता** कहा गया है। यद्यपि ग्रास० सा० के मत का समर्थन करता है, तथापि मै० का व्याख्यान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **सीम्**=यद्यपि वें० तथा सा० सीम् का व्याख्यान "सर्वत:" करते हैं, तथापि आधुनिक मत के अनुसार यह स: से सम्बद्ध मौलिक सर्वनाम का द्विती० का अव्यय रूप है जो सब वचनों तथा लिङ्गों में समान रहता है (जैसे ईम्)। प्रसंगानुसार, **सीम्** का अर्थ उपयुक्त लिङ्ग और वचन में किया जाता हैं। **रूपै:**=इस का व्याख्यान वें० 'नक्षत्रै रोषधीभिश्च" और सा० "निरूपण-साधनै: प्रशस्तै: प्रकाशैर्निरूप्यमाणैर्वृष्ट्यादिभिर्वा" करता है। अंशत: दोनों ठीक हैं। ग्रास० तथा मै० आदि यहां पर **रूप** शब्द का "सुन्दरता" अर्थ करते हैं जो सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। **अवासयत्**=√वस् "पहनना"+णिच्+लङ् प्र० पु० ए०। यत् के कारण इस ति० पर उदात्त है।

छ०—ग्रा०, मै० आदि विद्वान् तृतीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये वपुष्ये के लिये वपुषिए उच्चारण सुझाते हैं।

३. स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान्	सः । वह्निः । पुत्रः । पित्रोः । पवित्रऽवान् ।
पुनाति धीरो भुवनानि मायया ।	पुनाति । धीरः । भुवनानि । मायया ।
धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं	धेनुम् । च । पृश्निम् । वृषभम् । सुऽरेतसम् ।
विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत ॥	विश्वाहा । शुक्रम् । पयः । अस्य । धुक्षत ॥

अनु०— वह वहन करने वाला (वह्निः) पुत्र अर्थात् सूर्य माता-पिता अर्थात् द्यावापृथिवी की (पित्रोः) शुद्धि के साधन से सम्पन्न है (पवित्रवान्)। प्रज्ञावान् (धीरः) अपनी माया से अर्थात् अलौकिक

शक्ति से (**मायया**) प्राणियों को (**भुवनानि**) शुद्ध करता हैं (**पुनाति**)। (प्रज्ञावान् सूर्य) सर्वदा (**विश्वाहा**) नानावर्ण वाली (**पृश्निम्**) धेनु (अर्थात् पृथिवी) से दूध (अर्थात् आर्द्रता) को, और शोभन वीर्य वाले (**सुरेतसम्**) अर्थात् शोभनवर्षी जल वाले वृषभ अर्थात् द्युलोक से इसके शुक्र को अर्थात् वर्षाजल को दोहता रहता है (**दुक्षत**)।

टि०—वह्निः=यह शब्द सामान्यतया अग्नि के वि० के रूप में प्रयुक्त होता है। इस का यौगिक अर्थ है "वहन करने वाला", जैसा कि वें०, सा० इत्यादि "वोढा" व्याख्यान से स्पष्ट करते हैं। यज्ञ में देवताओं का वहन करने के कारण अग्नि को **वह्नि** कहते हैं (तु०—ऋ० १, १, २)। ग्रा०, गै०, मै० आदि कतिपय आधुनिक विद्वान् **वह्नि** का अनुवाद "driver" करते हैं। उस का भावार्थ भी वही है। यहां पर **वह्नि** शब्द द्युलोक के अग्नि अर्थात् "सूर्य" के लिये प्रयुक्त हुआ है। **पुत्र**=सा० का मत है कि यहां पर **पुत्र** शब्द "आदित्य" के लिये प्रयुक्त हुआ है। गै०, बर्गेन आदि आधुनिक विद्वान् भी सा० के मत का समर्थन करते हैं और यह मत सर्वथा उपयुक्त है। **पित्रोः पवित्रवान्**=इस में कोई सन्देह नहीं है कि **द्यावापृथिव्योः** के लिये **पित्रोः** शब्द प्रयुक्त किया गया है। परन्तु इसके अन्वय के सम्बन्ध में मतभेद है। वें०, सा०, ग्रा०, ग्रि० तथा मै० **पित्रोः** को **पुत्रः** से अन्वित करके व्याख्यान करते हैं—"माता-पिता अर्थात् द्यावापृथिवी का पुत्र"। इस के विपरीत गै० **पित्रोः** को **पवित्रवान्** से अन्वित करके अनुवाद करता है "दोनों माता-पिता को शुद्ध करने के साधन से सम्पन्न"। गै० का अन्वय अधिक उपयुक्त है, क्योंकि **पुत्रः** के साथ **पित्रोः** का अन्वय व्यर्थ है, जब कि **पित्रोः** के साथ अन्वित किये बिना **पवित्रवान्** का अर्थ अधूरा रहता है। **पुनाति**= √पू+लट् प्र० पु० ए०। पाद के आदि में आने के कारण इस ति० पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख)। इस के शाब्दिक अर्थ "शुद्ध करता है" के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए सा० कहता है "प्रकाशयतीत्यर्थः"। इस सम्बन्ध में गै० भी यही मत स्वीकार करता है कि प्रकाश द्वारा अन्धकार को हटाना ही विश्व को शुद्ध करना है। यह व्याख्यान समीचीन है। **धेनुम्, पृश्निम्**=इन का व्याख्यान वें० "पृथिवीम्। सस्यानामुत्पादयित्रीम्" और सा० "पृश्नि शुक्लवर्णां धेनुं प्रीणयित्रीं भूमिम्" करता है। गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते है कि यहां रूपकालङ्कार द्वारा "पृथिवी" को **धेनुम्** कहा गया है। दे०—ऋ० १, ८५, २ के **पृश्निमातरः** पर टि०। **वृषभं सुरेतसम्**=इन का व्याख्यान वें० "उदकस्य सेक्तारम्। शोभनरेतस्कम्" और सा० "सुरेतसं शोभनसामर्थ्यं शोभनोदकं वा **वृषभं** सेक्तारं द्युलोकम्" करता है। लगभग सभी आधुनिक विद्वान् सा० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं। **शुक्रं पयः**=इन का व्याख्यान वें० "दीप्तम्। उदकस्य स्वभूतम्" और सा० "दीप्तं पयःसदृशमुदकम्" करता है। सा० के अनुसार, मै० इन का अनुवाद "shining moisture" करता है। परन्तु गै० का मत है कि सूर्य "शुक्र" के रूप में **वृषभ** रूपी द्युलोक के "वर्षाजल" का

दोहन करता है और पयस् "दुग्ध" के रूप में धेनु-रूपी पृथिवी की "आर्द्रता" का दोहन करता है। यह व्याख्यान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। ग्रि० के मतानुसार, सूर्य पृथिवी से ओस-रूपी दूध और द्युलोक से प्रकाश का दोहन करता है। धुक्षत= पपा० धुक्षत=√दुह्+क्स—लुङ् के अङ्ग से आ० प्र० पु० ए० अडागम रहित (वैं० व्या० २८३)। अतिङन्त पद से परे आने के कारण यह सर्वानुदात्त है।

४. अ॒यं दे॒वाना॑म॒पसा॑म॒पस्त॑मः अ॒यम्। दे॒वाना॑म्। अ॒पसा॑म्। अ॒पःऽत॑मः।
यो ज॒जान॒ रोद॑सी वि॒श्वशं॑भुवा। यः। ज॒जान॑। रोद॑सी॒ इति॑। वि॒श्वऽशं॑भुवा।
वि यो म॒मे रज॑सी सुक्रतू॒यया॒- वि। यः। म॒मे। रज॑सी॒ इति॑। सु॒क्र॒तु॒ऽयया॑।
जरे॑भिः स्क॒म्भने॑भिः॒ समा॑नृचे॥ अ॒जरे॑भिः। स्क॒म्भने॑भिः। सम्। आ॒नृ॒चे॒॥

अनु०— कर्मशील (अपसाम्) देवों में (देवानाम्) यह (अयम्) सबसे अधिक कर्मशील (अपस्तमः) है। जिसने सबको सुख देने वाली (विश्वशंभुवा) द्यावापृथिवी (रोदसी) को उत्पन्न किया है (जजान); जिसने शोभन प्रज्ञा वाले के समान आचरण से (सुक्रतूयया) दोनों अन्तरिक्ष-प्रदेशों को (रजसी) नाप लिया है (वि ममे) तथा कभी जीर्ण न होने वाले (अजरेभिः) खम्भों से (स्कम्भनेभिः) इन्हें (थाम रखा है); उस (देव) की सर्वत्र स्तुति की जाती है (अयम् समानृचे)।

टि०—अयम्=सा० के व्याख्यानानुसार इस ऋचा में द्यावापृथिवी को उत्पन्न करने वाले देव का वर्णन है। मै० द्वितीया ऋचा में पिता के रूप में वर्णित विश्वकर्मा को ही इस ऋचा के वर्णन का विषय मानता है। बर्गेन के मतानुसार, इस ऋचा में भी सूर्य का वर्णन है। गै० कहता है कि यहां पर अयम् के द्वारा सूर्य अभिप्रेत हो सकता है जिसे ऋ० ४, १३, ५ (तु०—१०, १११, ५) में द्युलोक का खम्भा (स्कम्भ) बताया गया है, अथवा यहां पर अलौकिक परमपिता अभिप्रेत है जिस का प्रतीक सूर्य है। मै० का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। जजान=√जन्+लिट् प्र० पु० ए०। यः के कारण इस ति० पर उदात्त है (वैं० व्या० ४१२ ङ)। रजसी=रजस् के सम्बन्ध में ऋ० १, १९, ३ पर टि० देखिये। यहां पर रजसी, सा० के अनुसार, द्यावापृथिवी के लिए प्रयुक्त हुआ है (तु०—निघण्टु ३, ३०) और मै० इस का व्याख्यान "the

heavenly and terrestrial spaces" करता है। ग्रा० (कोष) रजसी का व्याख्यान "दोनों अन्तरिक्ष, अधर तथा उत्तर" करता है। खम्भों से (स्कम्भनेभिः) रजसी को स्थिर करने के प्रसंग में यहां पर ग्रा० का व्याख्यान अधिक उचित प्रतीत होता है। **सुक्रतूयया**=**सुक्रतूया** का तृ० ए०। इस का व्याख्यान वें० "शोभनकर्मेच्छया" और सा० "शोभनकर्मेच्छया। येन कर्मणा प्राणिनां सुखं सम्भवति तादृक्कर्मेच्छया" करता है। ग्रा० **सुक्रतूया** का अर्थ "शोभन कर्म" करता है, जबकि मै० इस का अर्थ "insight", ग्रि० तथा मो० "wisdom" और गै० "विचार" करता है। सुक्रतु 'शोभन प्रज्ञा वाला" (तु०—ऋ० १, २५, १० पर टि०)+नामधातु के **क्यच्** प्रत्यय से ऋ० १०, १२२, ६ में जो **सुक्रतूयसे** "सुक्रतु (शोभन प्रज्ञा वाले) के समान आचरण करते हो" प्रयोग मिलता है, उसी प्रकार **सुक्रतु**+**क्यच्**+**अ** प्रत्यय से भाववाचक स्त्री० **सुक्रतूया** शब्द बनता है। अतएव इस पद का अर्थ है "शोभन प्रज्ञा वाले (सुक्रतु) के समान आचरण से"। **सम्**+**आनृचे**=इन पदों का व्याख्यान वें० "इतरेतरावष्टब्धे करोति" और सा० "सम्यक् सर्वतः पूजितवान् स्थापितवानित्यर्थः" करता है तथा √ऋच् "स्तुतौ" से लिट् प्र० पु० ए० में **आनृचे** की सिद्धि दिखाता है। ग्रा०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् √अर्च् से कर्मवाच्य के लिट् प्र० पु० ए० में **आनृचे** का व्याख्यान करते हैं और मै० इन का अनुवाद "he...has been universally praised" करता है। गै० के मतानुसार, **आनृचे** में √अर्च् "स्तुतौ" धातु नहीं है, अपितु कोई अन्य धातु है और वह कहता है कि इसे उत्तरकालीन √रच् के एक रूप मानने के ओल्डनबर्ग के मत को भी स्वीकार किया जा सकता है। हम मै० के मत को ही अधिक समीचीन समझते हैं, क्योंकि √अर्च् के रूपों के अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं (तु०—ऋ० १, १९, ४)। **आनृचे** से **अयम्** अन्वित है।

छ०—अक्षरपूर्ति के लिये सवर्णदीर्घ सन्धि को हटा कर चतुर्थ पाद के आदि में **अजरेभिः** उच्चारण करना चाहिए।

५. **ते नो॑ गृणा॒ने म॑हिनी॒ महि॒ श्रव॑:** — ते इति॑ । नः॒ । गृ॒णा॒ने इति॑ । म॒हि॒नी॒ इति॑ । महि॑ । श्रव॑: ।

क्ष॒त्रं द्यावा॑पृथिवी धासथो बृ॒हत् । — क्ष॒त्रम् । द्यावा॑पृथि॒वी॒ इति॑ । धा॒स॒थ॒: । बृ॒हत् ।

येना॒भि कृ॒ष्टीस्त॒तना॑म वि॒श्वहा॑ — येन॑ । अ॒भि । कृ॒ष्टीः । त॒तना॑म । वि॒श्वहा॑ ।

प॒नाय्यमोजो॑ अ॒स्मे समि॑न्वतम् ॥ — प॒नाय्य॑म् । ओज॑: । अ॒स्मे इति॑ । सम् । इ॒न्व॒त॒म् ॥

अनु०— इस प्रकार संस्तुत की जाती हुई (ते गृणाने), हे महती (महिनी) द्यावापृथिवी ! हमें (नः) बड़ा (महि) यश (श्रवः)

तथा प्रभूत (**बृहत्**) शासन-बल (**क्षत्रम्**) प्रदान कीजिये (**धासथः**); जिससे (**येन**) हम सदा (**विश्वहा**) लोगों को (**कृष्टीः**) अभिभूत करें (**अभि ततनाम**)। हमारे लिये (**अस्मै**) स्तुत्य (**पनाय्यम्**) पराक्रम को (**ओजः**) प्रेरित कीजिये (**सम् इन्वतम्**)।

टि०—गृणाने=कर्मवाच्य में √गृ+शानच् से बने स्त्री० **गृणाना** का प्रथ० द्वि०; ऋ० १, ३५, १० पर टि० देखिये। **क्षत्रम्**=वें०, सा० आदि भारतीय भाष्यकार इस का व्याख्यान "**बलम्**" करते हैं, जब कि मै० आदि पाश्चात्य विद्वान् "dominion" अर्थ करते हैं। **क्षत्र** शब्द का मौलिक अर्थ "बल" है और "शासन-बल" उसी का विकार है; तु०—ऋ० १, २५, ५ के **क्षत्रश्री** शब्द पर टि०। **धासथः**=√धा "देना"+अनिट्-सिज्-लुङ् के अङ्ग से लेट् म० पु० द्वि० (वै० व्या० २७७ ख)। **कृष्टीः**=**कृष्टि** का द्विती० व०। इस का व्याख्यान वें० "सर्वाः प्रजाः" और सा० "पुत्रादिरूपाः प्रजाः। ··· कृष्टय इति मनुष्यनाम, 'कृष्टयः चर्षणयः' (निघण्टु २, ३) इति तन्नामसु पाठात्" करता है। **कृष्टि** स्त्री० शब्द √कृष्+क्तिच् (वै० व्या० ३६४ ग) से बना है। इस के वैदिक प्रयोगों के आधर पर आधुनिक विद्वानों ने यह मत निर्धारित किया है कि **कृष्टि** शब्द ऋ० में मुख्यता "लोग, जनता, जाति" अर्थों में प्रयुक्त होता है और एक के अतिरिक्त इस के सभी प्रयोग बहुवचन में हैं। **अभि ततनाम**=√तन्+लिट् के अङ्ग से बना लेट् उ० पु० ब० (वै० व्या० २५९ ख)। **पनाय्यम्**=√पन्+आय्य (वै० व्या० ३३८)। **अस्मे**=अस्मद् का च० ब० (वै० व्या० १६४ क), प्रगृह्य (वै० व्या० ४५ ख० ३)। **इन्वतम्**=√इन्व्+लोट् म० पु० द्वि० (वै० व्या० २२६, ७)।

विशेष—मै० तृतीय पाद के वाक्यार्थ को चतुर्थ पाद से अन्वित करके अनुवाद करता है, जब कि गै० प्राचीन भारतीय भाष्यकारों सा० आदि का अनुकरण करते हुए तृतीय पाद के वाक्यार्थ को प्रथम तथा द्वितीय पाद के अर्थ से अन्वित करके अनुवाद करता है और चतुर्थ पाद को एक स्वतन्त्र वाक्य मानता है। यही तुम अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

ऋ० २, ३३ (रुद्रः)

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—रुद्रः । छन्दः—त्रिष्टुप् ।

१. आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु — आ । ते । पितः । मरुताम् । सुम्नम् । एतु ।

मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः। — मा । नः । सूर्यस्य । सम्ऽदृशः । युयोथाः ।

अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत — अभि । नः । वीरः । अर्वति । क्षमेत ।

प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः ॥ — प्र । जायेमहि । रुद्र । प्रऽजाभिः ॥

अनु०—हे मरुतों के पिता! तेरा (ते) अनुग्रह (सुम्नम्) इधर आये (आ एतु)। हमें सूर्य के दर्शन से (संदृशः) पृथक् मत करो (मा युयोथाः)। वीर (रुद्र) हमारे अश्व पर (अर्वति) क्षमा करे (अभि क्षमेत)। हे रुद्र! हम सन्तानों के द्वारा (प्रजाभिः) सतत बढ़ें (प्र जायेमहि) अर्थात् हमारा कुल उत्तरोत्तर बढ़ता रहे।

टि०—पितर्मरुताम्=पितः सं० होने के कारण और इससे सम्बद्ध षष्ठ्यन्त मरुताम् पूर्वाङ्गवत् होने के कारण सर्वानुदात्त हैं (वै० व्या० ४१२. ३)। सुम्नम्=वें० तथा सा० इस का व्याख्यान "सुखम्" करते हैं और निघ० ३, ६ में सुम्नम् "सुख" के नामों में गिनाया गया है। परन्तु ग्रा० तथा गै० षष्ठ्यन्त देववाचक पद से अन्वित सुम्न शब्द का अर्थ "अनुग्रह" करते हैं और यहां पर यही अर्थ अधिक उपयुक्त है। इसी मत के अनुसार मै० ने "good will" अनुवाद किया है। संदृशः=संदृश् का पं० ए०। युयोथाः=√यु "पृथक् करना"+विमू० म० पु० ए० आत्मनेपद (वै० व्या० २४०. ४)। अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत=इस पाद का व्याख्यान वें० "अस्माकं पुत्रः अश्वे शक्तो भवतु" करता है और इसी प्रकार का व्याख्यान

तै० ब्रा० २, ८, ६, ९ के भाष्य में सा० करता है— "अस्माकं पुत्रोऽश्वस्य पृष्ठे सर्वप्रकारेण समर्थोऽस्तु।" परन्तु ऋ० के भाष्य में सा० निम्नलिखित दो व्याख्यान करता है— "अर्वति शत्रौ। 'भ्रातृव्यो वा अर्वा' (तै० सं० ६, ३, ८, ४) इति श्रुतेः। नः अस्माकं वीरः वीर्यवान् पुत्रादिः अभिक्षमेत अभिभवतु। यद्वा वीरः त्वं नः अस्मान् अभिक्षमेथाः=अस्मान् "कृतापराधानभिक्षमस्व"। लुड्विग भाष्यकारों के मत का अनुसरण करता है। परन्तु ग्रा०, मै०, ग्रि० तथा मैक्समूलर के मतानुसार, यहां पर वीरः शब्द रुद्र के लिये प्रयुक्त हुआ है और इस पाद का अर्थ है— "वीर (रुद्र) हमारे अश्व के बारे में क्षमाशील हो"। गै० के मतानुसार, वीरः शब्द "योद्धा" के लिये प्रयुक्त हुआ है, रुद्र के लिये नहीं। वीर शब्द ऋ० में अनेक बार देवताओं के लिये प्रयुक्त हुआ है; √क्षम् से बनी क्रिया का कर्ता प्रायेण कोई देवता ही होता है; और अन्यत्र भी रुद्र से प्रार्थना की गई है कि अश्वों को चोट न पहुंचाए (१, ११४, ८)। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि यहाँ पर वीरः शब्द रुद्र के लिये प्रयुक्त हुआ है।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिये रुद्र का उच्चारण रुवर करना होगा। भारतीय मत के अनुसार, ऐसा करना वाञ्छनीय नहीं है।

२. त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः   त्वाऽदत्तेभिः। रुद्र। शम्ऽतमेभिः।
शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।   शतम्। हिमाः। अशीय। भेषजेभिः।
व्यस्मद्द्वेषो वितरं व्यंहो   वि। अस्मत्। द्वेषः। विऽतरम्। वि। अंहः।
व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः॥   वि। अमीवाः। चातयस्व। विषूचीः॥

अनु०— हे रुद्र! मैं तेरे द्वारा दी गई (त्वादत्तेभिः) अत्यन्त कल्याणकारी (शंतमेभिः) रोग-निवारक औषधों के द्वारा (भेषजेभिः) सौ शीत ऋतुओं को (शतं हिमाः) प्राप्त करूँ (अशीय)। (शत्रुओं के) द्वेष को (द्वेषः) हम से (अस्मद्) दूर हटाओ (वि चातयस्व); संकट को (अंहः) और अधिक दूर (वितरम्) हटाओ (वि चातयस्व), सब प्रकार के रोगों को (विषूचीः अमीवाः) दूर हटा दो (वि चातयस्व)।

विशेष—चातयस्व ति० को प्रत्येक वि उपसर्ग से अन्वित करके वाक्य बनाये गये हैं जिन का अस्मद् से भी सम्बन्ध है।

टि०— **त्वादत्तेभिः**=तृतीया-तत्पुरुष समास होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९८ ग० २)। रुद्र से पूर्व विशेष विसर्गसन्धि के कारण रिफित-विसर्जनीय के लोप तथा इ के दीर्घत्व के लिए देखिए वै० व्या० ५९ ख। **अशीय**=√अश् "प्राप्त करना" के विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से बना विलि० आ० उ० पु० ए० (वै० व्या० २६६ घ)। **वितरम्**=वि के साथ तर जोड़ने से बना क्रियाविशेषण है जिस का व्याख्यान सा० ने "अत्यन्तम्" और वें० ने "दूरतरम्" किया है। मै० आदि अनेक आधुनिक विद्वान् वें० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं जो समीचीन है। **चातयस्वा** = पपा० चातयस्व = √चत् + णिच् + लोट् आ० म० पु० ए० (वै० व्या० २९१)। **विषूचीः**=विष्वञ्च् "सब ओर जाता हुआ" के स्त्री० विषूची का द्विती० ब० अमीवाः से अन्वित है। यहां पर "विषूचीः अमीवाः" का अभिप्राय "सब प्रकार के रोग" हैं।

छ०— मै० आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये प्रथम पाद में रुद्र का उच्चारण रुदर, तृतीय पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा वि अस्मद् तथा वि अंहो और चतुर्थ पाद में वि अमीवाश् उच्चारण करना चाहिए।

३. श्रेष्ठो॑ जा॒तस्य॑ रुद्र श्रि॒यासि॑	श्रेष्ठः॑। जा॒तस्य॑। रु॒द्र॒। श्रि॒या। अ॒सि॒।
त॒वस्त॑मस्त॒वसा॑ं वज्रबाहो।	त॒वःऽत॑मः। त॒वसा॑म्। व॒ज्र॒बा॒हो॒ इति॑ वज्रऽबाहो।
पर्षि॑ णः पा॒रमंह॑सः स्व॒स्ति	पर्षि॑। नः॒। पा॒रम्। अंह॑सः। स्व॒स्ति।
विश्वा॑ अ॒भी॑ती॒ रप॑सो युयोधि॥	विश्वाः॑। अ॒भिऽई॑तीः। रप॑सः। यु॒यो॒धि॒॥

अनु०— हे रुद्र! जो भी इस सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं उन सब में (जातस्य) तुम अपनी कान्ति के कारण (श्रिया) श्रेष्ठ हो। हे वज्रबाहो (जिसकी बाहु में वज्र है ऐसे देव!), तुम बलवानों में (तवसाम्) सबसे अधिक बलवान् हो (तवस्तमः)। तुम हमें (नः) संकट से (अंहसः)

कल्याणपूर्वक (**स्वस्ति**) पार करो (**पारं पर्षि**)। शारीरिक पीड़ा के (**रपसः**) सब (**विश्वाः**) आक्रमणों को (**अभीतीः**) हम से दूर रखो (**युयोधि**)।

टि०—पर्षि=√पृ+लट् म० पु० ए०। लट् का यह रूप लोट् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (वै० व्या० २३६.१०)। **णः**=पपा० नः। पूर्ववर्ती पद में स्थित निमित्त के कारण विशेष वैदिक सन्धि द्वारा **नः** के न् का ण् हुआ है (वै० व्या० ६३ ख)। **अभीतीः**=अभि+इति (√इ+ति) से बने **अभीति** का द्विती० ब०। इस का व्याख्यान वें० "अभिगतीः" और सा० "अभिगमनानि" करते हैं। लगभग सभी आधुनिक विद्वान्—ग्रा०, गै०, ग्रि०, मो०, मै० प्रभृति—**अभीति** का अर्थ "आक्रमण" करते हैं और ऋ० ७, २१, ९ में मिलने वाले इस के दूसरे प्रयोग से भी इसी अर्थ का समर्थन होता है। **रपसः**=**रपस्** का ष० ए०। वें०, सा० तथा यास्क (४, २१) आदि प्राचीन भारतीय विद्वान् रपस् का अर्थ "पाप" करते हैं। परन्तु ग्रा०, मो० आदि विद्वान् **रपस्** का अर्थ "शारीरिक-दुर्बलता या चोट" करते हैं, जब कि मैक्समूलर, ग्रि० तथा मै० इस का अनुवाद "mischief" करते हैं। **रपस्तनूनाम्** (७, ३४, १३), **रपः**⋯ ⋯**आतुरस्य** (८, २०, २६), **तन्वो रपः** (१०, ९७, १०) तथा इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों से स्पष्ट है कि ऋ० में **रपस्** शब्द का सम्बन्ध शारीरिक पीड़ा से है। ऋ० १०, ९७, १० के भाष्य में सा० भी **रपस्** का व्याख्यान "पापं व्याधिलक्षणम्" और वें० "यः कश्चिच्छरीरस्य रोगः तमिति" करता है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, **रपस्** का अर्थ केवल "पाप" न करके "शारीरिक पीड़ा" करना अधिक उपयुक्त है। **युयोधि**=√यु+लोट् म० पु० ए० (वै० व्या० २४०.४)। **वज्रबाहो**=सं० होने के कारण सर्वानुदात्त है।

छ०— ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, प्रथम पाद में अक्षरपूर्ति के लिये **रुद्र** का उच्चारण **रुदर** और तृतीय पाद में **स्वस्ति** का उच्चारण **सुअस्ति** करना चाहिए।

४. मा त्वा॑ रुद्र चुक्रुधामा नमो॑भिर्	मा। त्वा॒। रु॒द्र॒। चु॒क्रु॒धा॒मा॒। नम॑:ऽभिः।
मा दुष्टु॑ती वृषभ मा सहू॑ती।	मा। दुः॒ऽस्तु॑ती। वृ॒ष॒भ॒। मा। सऽहू॑ती।
उन्नो॑ वी॒राँ अ॑र्पय भेषजेभि॑र्	उत्। नः॒। वी॒रान्। अ॒र्प॒य॒। भे॒ष॒जेभि॑ः।
भिषक्त॑मं त्वा भि॒जषां॑ शृणोमि॥	भि॒षक्ऽत॑मम्। त्वा॒। भि॒षजा॑म्। शृ॒णो॒मि॒॥

अनु०— हे रुद्र! (अनुचित) नमस्कारों के द्वारा (**नमोभिः**) हम तुझे (**त्वा**) क्रुद्ध न करें (**मा चुक्रुधाम**)। हे वर्षा करने वाले देव (**वृषभ**)! बुरी स्तुति के द्वारा (**दुष्टुती**) तथा किसी न्यून देव के साथ आह्वान के द्वारा (**सहूती**) हम तुझे क्रुद्ध न करें। अपने औषधों के द्वारा (**भेषजेभिः**) हमारे (**नः**) वीर पुत्रों को (**वीरान्**) ऊपर उठाओ (**उद् अर्पय**) अर्थात् शक्तिशाली बनाओ। मैं तुझे चिकित्सकों में (**भिषजाम्**) सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक (**भिषक्तमम्**) सुनता हूँ (**शृणोमि**)।

विशेष—द्वितीय पाद के **मा** निपात के साथ **चुक्रुधाम** का अध्याहार करके वाक्य पूरा किया जाता है।

टि०— **चुक्रुधाम** = √क्रुध् + णि चङ्लुङ् विमू० उ० पु० ब० (वै० व्या० २७३)। **दुष्टुती** = दुष्टुति का तृ० ए०। **सहूती** = सहूति का तृ० ए० (वै० व्या० १४०. ३)। **वृषभ**=इस शब्द के व्याख्यान के लिये देखिये ऋ० २, १२, १२ पर टि०। **उद्+अर्पय**= √ऋ+णिच्+लोट् म० पु० ए० (वै० व्या० २९०. ४)।

५. हवीमभिर्हवते यो हविर्भिर् हवीमऽभिः। हवते। यः। हविःऽभिः।
अव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय। अव। स्तोमेभिः। रुद्रम्। दिषीय।
ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै ऋदूदरः। सुऽहवः। मा। नः। अस्यै।
बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै॥ बभ्रुः। सुऽशिप्रः। रीरधत्। मनायै॥

अनु०— जो (रुद्र) आह्वानों के द्वारा (**हवीमभिः**) तथा हविर्दानों के साथ (**हविर्भिः**) आमन्त्रित किया जाता है (**हवते**), उस रुद्र को मैं स्तोत्रों के द्वारा (**स्तोमेभिः**) (उसके क्रोध से) पृथक् करूँ (**अव दिषीय**) अर्थात् तुष्ट करूँ। दयालु (**ऋदूदरः**), सुखपूर्वक बुलाया जाने वाला (**सुहवः**), भूरे रंग वाला (**बभ्रुः**), तथा सुन्दर ओष्ठों वाला (**सुशिप्रः**) देव हमें (**नः**) अपने इस (**अस्यै**) क्रोध के (**मनायै**) अधीन न करे (**मा रीरधत्**)।

टि०— हवीमभिः=हवीमन् "आह्वान" (√ह्वे + ईमन्—वै० व्या० ३६२ ञ) का तृ० ब०। हवते=वैदिक व्याकरण के सामान्य नियम के अनुसार, √ह्वे के संप्रसारण (पा० ६, १, ३४) से बने अङ्ग हु से कर्तृवाच्य लट् प्र० पु० ए० का रूप है। परन्तु व्यत्यय के द्वारा कर्मवाच्य का प्रयोग मानते हुए, सा० हवते का व्याख्यान "आहूयते स्तूयते" और वें० "आहूयते" करता है। मैक्समूलर, ग्रि० तथा मै० आदि विद्वान् इसी भारतीय व्याख्यान का अनुसरण करते हैं। इस व्याख्यान के अनुसार, यः सर्वनाम रुद्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार प्रथम तथा द्वितीय पाद का अर्थ इस प्रकार होगा—"जो (रुद्र) स्तुतिलक्षण आह्वानों तथा हवियों के द्वारा आमन्त्रित किया जाता है (उस) रुद्र को मैं स्तोत्रों के द्वारा क्रोधरहित अर्थात् तुष्ट करूं।" परन्तु ग्रा० (कोष) तथा गै० हवते को कर्तृवाच्य का रूप मानते हैं, यः को इस का कर्ता और रुद्रम् को इस का कर्म मानते हैं। इस व्याख्यान के अनुसार गै० ने इन दो पादों का अनुवाद इस प्रकार किया है— "जो (पुरुष) आह्वानों से तथा हविर्दानों से (रुद्र को) पुकारता है, (वह सोचता है) 'मैं स्तुति-गानों से रुद्र को तुष्ट करूं'।" अगले दो पादों के साथ इन पादों के अर्थ का अन्वय करते हुए गै० आगे अनुवाद करता है—"कोमल-हृदय वाला (?) ··· ··· हमें इस प्रकार के सन्देह के अधीन न करे।" यद्यपि सामान्य नियम के अनुसार हवते कर्तृवाच्य का रूप प्रतीत होता है, तथापि ऋ० में ऐसे अनेक रूप कहीं-कहीं कर्मवाच्य में भी प्रयुक्त होते हैं और इसे हम वैदिक विशेषता कह सकते हैं, जैसे ऋ० १, १५४, २ (दे०—टि०) में स्तवते, और नवम मण्डल में पवते। दे०—वै० व्या० ३१४। अतएव यहां पर भी हवते को √ह्वे का कर्मवाच्य रूप माना जा सकता है। अव दिषीय=अव+√दो "अवखण्डने" से इस की व्युत्पत्ति मानते हुए, सा० अव दिषीय का व्याख्यान "अवखण्डयामि पृथक्करोमि। अपगतक्रोधं करोमीति यावत्" करता है और इसी प्रकार वें० "पृथक्करोम्यस्मत्" करता है। सा० का अनुकरण करते हुए, रोट, ह्विटने, मो०, मै० (Vedic Grammar), गै० आदि विद्वान् दिषीय की व्युत्पत्ति √दो "अवखण्डने" से मानते हैं और मैं भी इसी मत को ग्राह्य तथा वैदिक प्रयोग के अनुकूल मानता हूं। तदनुसार, दिषीय=√दो के सिज्लुङ् के अङ्ग से विलि० उ० पु० ए० या आलि० उ० पु० ए० है (वै० व्या० २७७ घ)। इस मत के विपरीत ब्रा० तथा मै० (V. R.) दिषीय की व्युत्पत्ति √दा "दाने" से मानते हैं। पूर्वोक्त मत ही अधिक समीचीन है। बा० सं० ३, ५८, तै० सं० १, ८, ६, २; मै० सं० १, १०, ४; का० सं० ९, ७ इत्यादि में रुद्रम् के साथ अव+√दो का रूप अव अदीमहि (पाभे० अदिमहि) मिलता है जिसका व्याख्यान आधुनिक विद्वान् "हम ने रुद्र को परितुष्ट किया है" करते हैं। भावार्थ यही है। परन्तु हम ने यहां पर शाब्दिक अनुवाद "पृथक् करूं" करना उचित समझा है। ऋदूदरः=पपा० ने अवग्रह द्वारा इस के पदों का विश्लेषण नहीं किया है। यास्क (६, ४) इसका व्याख्यान "मृदूदरो मृदुरुदरेष्विति वा" करता है,

और वें० तथा सा० इसी मत का अनुसरण करते हुए इस का व्याख्यान "मृदूदरः" करते हैं। ग्रा० (कोष) का मत है कि मूलतः यह शब्द ऋदु(√अर्द्र से, तु० आर्द्र) "मधुर रस की धारा को"+दरः "खोलने वाला" (√दृ से निष्पन्न) था और पीछे सामान्यतया "अच्छी वस्तुएं देने वाला, दयालु, सौहार्दपूर्ण" अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। अधिकतर आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "दयालु" करते हैं, तथापि इस का मौलिक अर्थ सन्दिग्ध है। सुशिप्रः=इस के व्याख्यान के लिये देखिये ऋ० २, १२, ६ पर टि०। रीरधत्=√रध् (√रन्ध्) के चङ्-लुङ् अङ्ग से विमू० प्र० पु० ए० (वैं० व्या० २७३)। मनायै=मना का च० ए०। इस का व्याख्यान वें० "पुरुषान्मन्यमानायै" और सा० "हन्मीति मन्यमाना बुद्धिर्मना। तस्यै" करता है। गै० मना का अर्थ "सन्देह", ग्रा० "ईर्ष्या, क्रोध", मै० V. R. में "Jealousy" और M. H. R. में "wrath" करता है। प्रगङ्ग तथा सम्बद्ध रीरधत् प्रयोग को ध्यान में रखते हुए, यहां पर मना का "क्रोध" अर्थ करना अधिक उपयुक्त है; तु०—ऋ० १, २५, २ (रीरधः ··· मन्यवे)।

छ०— ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, द्वितीय पाद में अक्षर-पूर्ति के लिये रुद्रं का उच्चारण रुदरं करना चाहिए।

६. उन्मा॑ ममन्द वृ॒ष॒भो म॒रुत्वा॑न्	उत् । मा॒ । म॒म॒न्द॒ । वृ॒ष॒भः । म॒रुत्वा॑न् ।
त्वक्षी॑यसा॒ वय॑सा॒ नाध॑मानम् ।	त्वक्षी॑यसा । वय॑सा । नाध॑मानम् ।
घृणी॑व च्छा॒याम॑र॒पा अ॑शी॒या	घृणि॑ऽइव । छा॒याम् । अ॒र॒पाः । अ॒शी॒य॒ ।
वि॑वासेयं रु॒द्रस्य॑ सु॒म्नम् ॥	आ । वि॒वा॒से॒य॒म् । रु॒द्रस्य॑ । सु॒म्नम् ॥

अनु०— मरुतों से युक्त (मरुत्वान्) तथा वर्षा करने वाले देव ने (वृषभः) मुझे (मा), याचना करने वाले (उपासक) को (नाधमानम्), अत्यधिक शक्तिशाली (त्वक्षीयसा) अन्न के द्वारा (वयसा) आनन्दित किया है (उन् ममन्द)। मैं शारीरिक-पीडा-रहित होता हुआ (अरपाः) उसे प्राप्त करूँ (अशीय), जैसे धूप के कारण संतप्त प्राणी (घृणीव) छाया को (प्राप्त करता है)। मैं रुद्र के अनुग्रह को (सुम्नम्) जीतना चाहूँगा (आ विवासेयम्)।

टि०—**ममन्व**=√मन्द्+लिट् प्र० पु० ए०। **त्वक्षीयसा**=त्वक्षीयस् का तृ० ए०। वें० तथा सा० इस का व्याख्यान "दीप्तेन" करते हैं। ग्रा०, मो०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् **त्वक्षीयस्** का अर्थ "अत्यधिक शक्तिशाली" करते हैं और इस के समर्थन में **त्वक्षस्** का वैदिक प्रयोग तथा सजातीय—*thwakhshista* (Zend) को उदाहृत करते हैं। इस शब्द का केवल यही एक वैदिक प्रयोग मिलता है। अत एव **त्वक्षस्** के प्रयोग के आधार पर इसका अर्थ "अत्यधिक शक्तिशाली" करना उचित है। **वयसा**=**वयस्** का तृ० ए०। वें० तथा सा० इस का अर्थ "हविषा" करते हैं। परन्तु ग्रा० गै०, मै० आदि विद्वान् यहां पर **वयस्** का अर्थ "बल" करते हैं, यद्यपि अन्यत्र वे भी **वयस्** का "अन्न" अर्थ स्वीकार करते हैं। ग्रि० ने इस का अर्थ "अन्न" किया है। इस में सन्देह नहीं है कि "अन्न" के अर्थ में **वयस्** शब्द के निश्चित वैदिक प्रयोग मिलते हैं और वर्तमान प्रसंग में "अन्न" अर्थ भी लग सकता है। अतएव यहाँ पर **वयस्** का "अन्न" अर्थ अधिक उपयुक्त है; तु०—ऋ० ८, ४८, १. १५। **घृणीव**=पपा० घृणि इव। इस का व्याख्यान वें० "यथा घर्मगृहीतं भूतम्" और सा० "यथा सूर्यकिरणसंतप्तः" करता है। आधुनिक विद्वानों में इस के रूप तथा व्याख्यान के विषय में अनेक मतभेद हैं। सा० तथा वें० के मतानुसार **घृणी** (घृणिन् का) प्रथ० ए० का रूप है। ग्रा० (कोष), मो० आदि विद्वान् इसे **घृणि** का पं० ए० मानते हुए **घृणीव** के स्थान पर **घृणेरिव** पाठ सुझाते हैं। वै० प० को० में प्रकल्पित **घृणन्** प्रातिपदिक के प्रथमान्त रूप **घृणा** के साथ **इव** की सन्धि द्वारा **घृणेव** पाठ सुझाया गया है। वेलंकर आदि कतिपय अन्य विद्वान् **घृणि** को प्रकल्पित **घृण्** प्रातिपदिक का स० ए० मान कर समाधान करते हैं। इस सम्बन्ध में मै० वर्तमान संहितापाठ तथा पपा० को ही प्रामाणिक तथा असंशोधनीय मानते हुए **घृणि** रूप को स्त्री० इकारान्त घृणि प्रातिपदिक का तृ० ए० समझता है (वै० व्या० १४०. ३) और इस का अर्थ करता है "आतप के कारण या आतप में"। अन्य सभी व्याख्यानों की तुलना में मै० का व्याख्यान अधिक उपयुक्त तथा युक्तिसंगत है, क्योंकि इस व्याख्यान में संहितापाठ या पपा० में संशोधन का सुझाव न देकर उनकी परम्परा का पालन किया गया है। और यह व्याख्यान उस इकारान्त **घृणि** प्रातिपदिक के आधार पर किया गया है जिस के अनेक वैदिक प्रयोग मिलते हैं; तु०—ऋ० ६, १६, ३८; वा० सं० ३५, ८; अ० ७, ३, १; इत्यादि। घणिन्, घृणन्, घृण् आदि प्रकल्पित प्रातिपदिकों का वैदिक प्रयोग निश्चित नहीं है। ग्रि० तथा गै० **घृणि** का अर्थ "धूप में" करते हैं। **अशीय**=दूसरी ऋचा पर टि० देखिए। **आ+विवासेयम्**=√वन्+सन् विलि० उ० पु० ए० (वै० व्या० २९५)। **सुम्नम्**=पहली ऋचा पर टि० देखिए। **अरपाः**=नञ् बस० है। रपस् के लिये तीसरी ऋचा पर टि० देखिए।

छ०—ग्रा०, मै० आदि आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिए सन्धि-विच्छेद द्वारा अशीया के अन्त में जुड़े हुए आ को पाद के प्रारम्भ में लाना चाहिए और रुद्रस्य का उच्चारण रुदरस्य करना चाहिए।

७. क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्	क्वं । स्यः । ते । रुद्र । मृळयाकुः ।
हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।	हस्तः । यः । अस्ति । भेषजः । जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्या-	अपऽभर्ता । रपसः । दैव्यस्य ।
भी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥	अभि । नु । मा । वृषभ । चक्षमीथाः ॥

अनु०— हे रुद्र! तेरा (ते) वह (स्यः) दयालु (मृळयाकुः), रोग-निवारक (भेषजः) तथा शारीरिक पीड़ाओं को शान्त करने वाला (जलाषः) हाथ (हस्तः) कहां है (क्व)? हे वर्षा करने वाले देव (वृषभ), तुम देवों के प्रकोप से उत्पन्न (दैव्यस्य) शारीरिक पीड़ा को (रपसः) दूर हटाने वाले हो (अपभर्ता), मुझे (मा) पूर्णतया क्षमा कीजिये (अभि चक्षमीथाः)।

टि०—स्वंतन्त्र-स्वरित युक्त क्व से परे स्यः का उदात्त आने पर स्वर-चिह्न अङ्कित करने की रीति के लिये देखिये वै० व्या० ३६१, ६। स्यः=त्यद् पुं० का प्रथ० ए० (वै० व्या० १६६ ग)। मृळयाकुः=वें० तथा सा० इस का व्याख्यान "सुखयिता" करते हैं। परन्तु लगभग सभी आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "दयालु" करते हैं और यह अर्थ √मृड् धातु तथा इस के कृदन्तों के वैदिक प्रयोग के अनुकूल है, यद्यपि "सुखयिता" का भावार्थ भी इस से भिन्न नहीं है। भेषजः=यहां पर यह शब्द हस्तः का वि० है, अन्यथा यह नपुं० संज्ञा है। जलाषः=इस का व्याख्यान वें० "सुखकरः" और सा० "सर्वेषां सुखकरः" करता है। गै० तथा मै० इस का अर्थ "cooling" और ग्रा० तथा मो० "healing" करते हैं। निघ० १, १२ में "उदक" के नामों में और ३, ६ में "सुख" के नामों में जलाष को गिनाया गया है। वें०, स्क०, सा० आदि भारतीय विद्वान् जलाष को प्रायेण सुखवाची और कहीं-कहीं उदकवाची मानते हुए व्याख्यान करते हैं।

वैदिक प्रयोगों तथा प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए, जलाष का अर्थ "शारीरिक पीड़ाओं को शान्त करने वाला" है; तु०—ऋ० ८, २९, ५। अभि चक्षमीथाः=√क्षम् के लिट् के अङ्ग से विलि० आ० म० पु० ए० (वै० व्या० २६२ क)। रपसः=इस के व्याख्यान के लिये तीसरी ऋचा पर टि० देखिये।

छ०—ग्रा०, मै० आदि आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये प्रथम पाद के व्व का कुअ और रुद्र का रुदर उच्चारण करना चाहिए; तृतीय पाद के दैव्यस्य का दैविअस्य उच्चारण करना चाहिए; और सन्धि-विच्छेद करके अभी के अ को चतुर्थ पाद के आदि में उच्चरित करना चाहिए।

८. प्र ब॒भ्रवे॑ वृष॒भाय॑ श्वि॒ती॒चे	प्र। ब॒भ्रवे॑। वृ॒ष॒भाय॑। श्वि॒ती॒चे।
म॒हो म॒हीं सु॑ष्टु॒तिमी॑रयामि।	म॒हः। म॒हीम्। सु॒ऽस्तु॒तिम्। ई॒र॒या॒मि॒।
न॒म॒स्या क॑ल्मली॒कि॒नं॒ नमो॑भिर्	न॒म॒स्य। क॒ल्म॒ली॒कि॒न॑म्। नम॑ःऽभिः।
गृ॒णी॒मसि॑ त्वे॒षं रु॒द्रस्य॒ नाम॑॥	गृ॒णी॒मसि॑। त्वे॒षम्। रु॒द्रस्य॑। नाम॑॥

अनु०— भूरे रंग वाले (बभ्रवे), देदीप्यमान (श्वितीचे) तथा वर्षा करने वाले देव के लिये (वृषभाय) मैं महान् देव की (महः) महती (महीम्) सुन्दर स्तुति (सुष्टुतिम्) प्रेरित करता हूँ (प्र ईरयामि)। नमस्कारों के द्वारा (नमोभिः), जाज्वल्यमान देव को (कल्मलीकिनम्) प्रणाम करो (नमस्या)। हम रुद्र के तेजस्वी (त्वेषम्) नाम की स्तुति करते हैं (गृणीमसि)।

टि०— श्वितीचे=श्वित्यञ्च् का च० ए०। इस का व्याख्यान सा० "श्वैत्यमञ्चते" तथा वें० "श्वेतिमानमञ्चते" करता है और तदनुसार गे० तथा मै० ने इस का अनुवाद "*whitish*" और ग्रि० ने "fair-complexioned" किया है। यहाँ पर इस का अर्थ वास्तव में "देदीप्यमान" है, जैसा कि ग्रा० तथा मैक्समूलर ने किया है। महः=मह् का ष० ए०। नमस्या=पपा० के अनुसार, मूल पद नमस्य है और छान्दस वैशिष्ट्य के कारण संहिता में अन्तिम अकार का दीर्घ हुआ है। इस मत के अनुसार, वें०, सा०, आदि भारतीय विद्वान् इसे नमस् से बने नमस्य नामधातु का म० पु० ए० लोट् का रूप मानते हैं, परन्तु मैक्समूलर, मै० आदि अनेक आधुनिक विद्वान् इसे

उ० पु० ए० लेट् का रूप मानते हैं। **नमस्या** के अन्य वैदिक प्रयोगों (तु०—ऋ० ५, ५२, १३; ८, ४२, २) से भारतीय मत का समर्थन होता है और ग्रा० तथा गै० भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। अत एव **नमस्या** को म० पु० ए० लोट् का रूप मानना अधिक समीचीन है। इस विषय में मैं अपने वै० व्या० ३१० में दिये गये उ० पु० ए० लेट् के **नमस्या** उदाहरण का भी संशोधन करता हूं। **कल्मलीकिनम्**= इस का व्याख्यान वें० "दीप्तम्" और सा० "ज्वलतो नामधेयम् (निघ० १, १७)। ज्वलन्तम्। कलयति अपगमयति मलमिति कल्मलीकं तेजः। तद्वन्तम्" करता है। यद्यपि ग्रा०, गै०, मै०, मो०, ग्रि० इत्यादि अधिकतर आधुनिक विद्वान् प्राचीन भारतीय व्याख्यान को ही स्वीकार करते हुए इस का अर्थ "shining, flaming, radiant, fiery" करते हैं, तथापि यह व्याख्यान संदिग्ध है। **गृणीमसि**=√गॄ+लट् उ० पु० ब०। **त्वेषम्**=वें० तथा सा० इस का व्याख्यान "दीप्तम्" करते हैं और मैक्समूलर, ग्रि०, ग्रा० आदि आधुनिक विद्वान् भी लगभग ऐसा ही अर्थ करते हैं। गै० तथा मै० इस का जो "भयानक" अर्थ करते हैं उस के लिये कोई औचित्य नहीं है। त्वेष शब्द का "दीप्त" अर्थ ही अधिक समीचीन है; तु०—ऋ० १, ८५, ८ के **त्वेष-संदृशः** और १, १४३, ३ के **त्वेषाः** पर टि०। "दीप्त" के स्थान पर प्रसंगानुसार "तेजस्वी" शब्द द्वारा भी त्वेष का अनुवाद किया जा सकता है।

९. स्थि॒रेभि॑र॒ङ्गैः पु॑रु॒रूप॑ उ॒ग्रो	स्थि॒रेभिः॑। अङ्गैः॑। पु॒रु॒ऽरूपः॑। उ॒ग्रः।
ब॒भ्रुः शु॒क्रेभिः॑ पिपिशे॒ हिर॑ण्यैः।	ब॒भ्रुः। शु॒क्रेभिः॑। पि॒पि॒शे॒। हिर॑ण्यैः।
ईशा॑नाद॒स्य भुव॑नस्य॒ भूरे॒र्	ईशा॑नात्। अ॒स्य। भुव॑नस्य। भूरेः॑।
न वा उ॑ योषद्रु॒द्राद॑सु॒र्य॑म्॥	न। वै। ऊँ इति॑। यो॒ष॒त्। रु॒द्रात्। अ॒सु॒र्य॑म्॥

अनु०— स्थिर अङ्गों से युक्त (**स्थिरेभिः, अङ्गैः**), बहुत से रूपों वाले (**पुरुरूपः**), भूरे रंग वाले (**बभ्रुः**) उग्र देव ने चमकते हुए (**शुक्रेभिः**) सुवर्णभूषणों से (**हिरण्यैः**) अपने आपको अलंकृत किया है (**पिपिशे**)। इस (**अस्य**) विशाल (**भूरेः**) लोक के (**भुवनस्य**) शासक (**ईशानात्**) रुद्र से उसकी प्राणशक्ति (**असुर्यम्**) निःसन्देह (**वै**) कभी पृथक् नहीं होगी (**न योषत्**)।

टि०—पुरुरूपः=बस० के पूर्वपद में पुरु आने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या०, ३९९ क० ३)। इस समस्त पद का शाब्दिक अर्थ "बहुत से रूपों वाला" है, परन्तु सा० ने उत्तरकालीन विचारों के आधार पर इस का व्याख्यान "अष्टमूर्त्यात्मकैर्बहुभी रूपैरुपेतः" किया है। पिपिशे=√पिश् का लिट् प्र० पु० ए०। सा० इसे कर्मवाच्य का रूप मानते हुए इस का व्याख्यान "दीप्यते" करता है, जब कि वें० इसे कर्तृवाच्य मानकर "संयोजयति" व्याख्यान करता है। ग्रा०, गै०, मै०, मैक्समूलर, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् कर्तृवाच्य में पिपिशे का अर्थ "अलंकृत किया है" करते हैं और √पिश् धातु के अन्य वैदिक प्रयोगों से इस अर्थ का समर्थन होता है; तु— ऋ० ६, ४९, ३; ५, ६०, ४; ७, १०३, ६। भूरेः=सा० इसे पं० ए० का रूप तथा रुद्र का वि० मानते हुए "भर्तुः" व्याख्यान करता है। परन्तु वें० इसे षष्ठ्यन्त भुवनस्य का वि० मानते हुए "बहोः" व्याख्यान करता है। ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् भी वें० की भांति इसे भुवनस्य का वि० समझते हैं। वैदिक प्रयोग से भी इस मत का समर्थन होता है; तु०—ऋ० ७, ९५, २; १, ६१, १५; ८, ३२, १४। योषत्=√यु के अनिट्-सिज्लुङ् अङ्ग से लेट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २७७ ख)। यहां पर भविष्यत् में लेट् प्रयुक्त हुआ है (वै० व्या० ३२५)। असुर्यम्=इस का व्याख्यान वें० "असुराणां हन्तृरूपम्" और सा० "असुर्यं बलम्" करता है। अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् इस का अर्थ "divine power, divine dominion, divine nature" इत्यादि करते हैं। ऋ० १, ३५, ७ के असुरः पर टि० में हम ने असुर शब्द का अर्थ "प्राणवान्" निर्धारित किया है। असुर के साथ भाववाचक तद्धित य प्रत्यय जोड़ने से बने असुर्य का शाब्दिक अर्थ है "प्राणवत्ता" जिस का भावार्थ है "प्राणशक्ति" अर्थात् "अजेय बल"।

छ०—चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिये मै० रुद्रात् का रुदरात् उच्चारण सुझाता है। परन्तु यह सुझाव ग्राह्य नहीं है। इस की अपेक्षा असुर्यम् का असुरियम् या असुरिअम् उच्चारण सुझाना अधिक युक्तिसंगत होगा (वै० व्या० ४२०)।

१०. अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वा-	अर्हन् । बिभर्षि । सायकानि । धन्व ।
र्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।	अर्हन् । निष्कम् । यजतम् । विश्वऽरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं	अर्हन् । इदम् । दयसे । विश्वम् । अभ्वम् ।
न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥	न । वै । ओजीयः । रुद्र । त्वत् । अस्ति ॥

अनु०— योग्य होते हुए ही (**अर्हन्**) तुम धनुष (**धन्व**), बाण (**सायकानि**), तथा सब रूपों वाले (**विश्वरूपम्**) पूजनीय (**यजतम्**) सोने के हार को (**निष्कम्**) धारण करते हो (**बिभर्षि**)। योग्य होते हुए ही (**अर्हन्**) तुम (मरुतों आदि की) इस समस्त (**विश्वम्**) पीडक शक्ति को (**अभ्वम्**) समाप्त करते हो (**दयसे**)। हे रुद्र! निःसन्देह (**वै**) कोई भी तुम्हारे से (**त्वत्**) अधिक बलवान् (**ओजीयः**) नहीं है।

टि०— **बिभर्षि**=भृ का लट् म० पु० ए० (वैं० व्या० २४०)। **यजतम्**= इस के लिये ऋ० १, ३५, ३ पर टि० देखिये। **दयसे**=√दय्+लट् म० पु० ए०। इस का व्याख्यान वें० "अनुगृह्णासि" और सा० "रक्षसि। 'देङ् रक्षणे'" करता है। मै० इस में √*da* '*divide*' धातु मान कर इस का अनुवाद "thou wieldest" करता है और इसी प्रकार मैक्समूलर तथा ग्रि० इस का अनुवाद "thou cuttest......to pieces" करते हैं। ग्रा०, मो० तथा गै० आदि विद्वान् इस में √दय् धातु मानते हैं और तदनुसार ग्रा० तथा गै० इस का अर्थ "*dispose of*" करते हैं। इस प्रकार के जो अन्य वैदिक ति० प्रयोग (**दयते**, **दयताम्**, **दयस्व**, **दयन्त** इत्यादि) मिलते हैं उन के आधार पर इसे भ्वा० का √दे या √**दय्** धातु माना जा सकता है, परन्तु इसे √दा का गौण रूप मानना अनावश्यक है। वर्तमान प्रसंग में इसे √**दय्** "समाप्त करना" का रूप मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **अभ्वम्**=इस का व्याख्यान वें० "महत् भुवनम्" और सा० "अभ्वं महन्नामैतत्। अतिविस्तृतं जगत्" करता है। गै० तथा मै० **अभ्वम्** का अनुवाद "शक्ति" (force) करते हैं, ग्रि०, मैक्समूलर "*fiend*" तथा ह्विटने (अ० के अनुवाद में) और मै० (ऋ० ४, ५१, ९) "monster" अनुवाद करते हैं। स्क०, वें०, सा० आदि भारतीय विद्वान् प्रायेण **अभ्व** को "महत्" का नाम मानते हुए (निघ० ३, ३), प्रसंगानुसार किसी विशेष्य का अध्याहार करके तदनुसार इस का व्याख्यान करते हैं। सा० ने अन्यत्र **अभ्व** का अर्थ "उदक" (१, १६९, ३), "वेग" (१, २४, ६), "भय" (१, ६३, १) तथा "शत्रु" (१, ३९, ८) आदि भी किया है। **अभ्व** के वैदिक प्रयोग से स्पष्ट है कि यह शब्द "जगत्" या "भुवन" का वाचक नहीं हो सकता जैसा कि सा० तथा वें० ने व्याख्यान किया है। कुछ ऋचाओं में **अभ्व** के साथ **कृष्ण** (१, ९२, ५; १४०, ५) तथा **असित** (४, ५२, ९) विशेषणों का प्रयोग मिलता है। ऐसे स्थलों पर सा० आदि भारतीय विद्वान् और ग्रा० आदि पाश्चात्य विद्वान् भी "अन्धकार" अर्थ करते हैं। ऋ० १, १८५, २-८ में द्यावापृथिवी से प्रार्थना की गई है कि वे **अभ्व** से हमारी रक्षा करें। इसी प्रकार के अन्य वैदिक प्रयोगों (तु०—अ० ४, १७, ५; ७, २४, १; १३, ६, ४) से स्पष्ट है कि **अभ्व** कोई अप्रिय वस्तु है जिसे दूर करने तथा जिस से रक्षा करने की प्रार्थनाएं हैं। यद्यपि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने **अभ्व** को "महत्" का समानार्थक माना है और आधुनिक विद्वानों

ने विभिन्न व्याख्यान किये हैं, तथापि वैदिक प्रयोगों के आधार पर अभ्व का "विशाल अन्धकार" अर्थ बहुत से स्थलों पर उपयुक्त है, परन्तु सर्वत्र लागू नहीं होता है। कुछ प्रसंगों में "विशाल" या "महत्" अर्थ भी लग सकता है जहां पर वि० के रूप में अभ्व का प्रयोग हुआ है। अनेक बार मरुतों तथा वात के सम्बन्ध में अभ्व का प्रयोग किया गया है (ऋ० १, ३९, ८; २४, ६; १६८, ६; १६९, ३)। ऐसे प्रसंगों में अभ्व का अर्थ "प्रचण्ड वेग" प्रतीत होता है। अभ्व का सामान्य अर्थ "पीडक बल या शक्ति" प्रतीत होता है और इस शब्द की आनुमानिक व्युत्पत्ति (नञ्+√भू+अ) के अनुसार वह शक्ति "शरीर-रहित" है। यहां पर यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, चतुर्थ पाद के रुद्र का रुदर उच्चारण करके छन्द में अक्षरपूर्ति करनी चाहिए और प्रथम पाद के अन्तिम पद धन्व को सन्धि-विच्छेद द्वारा पृथक् करके द्वितीय पद के आदि में अर्हन् के अ का उच्चारण करना चाहिए।

११. स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं	स्तुहि । श्रुतम् । गर्तऽसदम् । युवानम् ।
मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम् ।	मृगम् । न । भीमम् । उपऽहत्नुम् । उग्रम् ।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानो-	मृळ । जरित्रे । रुद्र । स्तवानः ।
ऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः ॥	अन्यम् । ते । अस्मत् । नि । वपन्तु । सेनाः ॥

अनु०— प्रसिद्ध (श्रुतम्), उच्चासन पर आसीन (गर्तसदम्), युवा, भयंकर वन्य पशु की भाँति (मृगं न भीमम्) घातक (उपहत्नुम्), उग्र देव की स्तुति करो (स्तुहि)। हे रुद्र! संस्तुत किये जाते हुए (स्तवानः) तुम स्तोता पर (जरित्रे) दया करो (मृळ)। तुम्हारी सेनाएँ (सेनाः) हम से (अस्मत्) भिन्न किसी ओर को धराशायी करें (नि वपन्तु)।

टि०—गर्तसदम्=इस का व्याख्यान वें० "रथस्थम्" और सा० "गर्तो रथः। तत्र सीदन्तम्" करता है। मैक्समूलर, ग्रा०, ग्रि०, मो०, मै० आदि आधुनिक विद्वान्

भी इसी प्राचीन भारतीय व्याख्यान का अनुसरण करते हैं। परन्तु गै० ने इस का अनुवाद "उच्चासन पर आसीन" किया है। प्रसंगानुसार, गै० का अनुवाद अधिक उचित है, क्योंकि रुद्र को रथ से सम्बद्ध करने में विशेष हेतु नहीं है और **गर्त** शब्द ऋ० में "उच्चासन" के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। रुद्र के उत्तरकालीन वर्णन के अनुसार सा० ने अ० के भाष्य में **गर्तसदम्** का निम्नलिखित व्याख्यान किया है जो ऋ० के रुद्र-वर्णन से मेल नहीं खाता है—'श्मशानसंचयोऽपि गर्त उच्यते' (नि० ३, ५) इति निरुक्तोक्तेर्गर्तः शवदाहप्रदेशः। तत्र सीदतीति गर्तसदः। प्रसिद्धो गर्तो वा परिगृह्यते। तस्य अरण्ये संचाराद् गर्तसदनं युज्यते"। **मृळ**=√मृड् का लोट् म० पु० ए०। **मृगं न भीमम्**=इन पदों के व्याख्यान के लिये देखिये ऋ० १, १५४, २ पर टि०। **सेनाः**=रोट, ग्रा० तथा मै० आदि विद्वान् वा० सं० १६, ५२ के अन्तिम पाद (जो इस अन्तिम पाद के सदृश है) में **सेनाः** के स्थान पर **हेतयः** के प्रयोग के आधार पर **सेनाः** का अर्थ "missiles" करते हैं। परन्तु सा० आदि भारतीय भाष्यकारों से सहमत होते हुए गै०, ग्रि०, मैक्समूलर आदि विद्वान् इस शब्द के "सेनाएं" अर्थ को ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि वेदों में रुद्र की **हेतयः** का अनेक वार उल्लेख किया गया है, तथापि आलङ्कारिक ढंग से उन्हें रुद्र की **सेनाः** भी कहा गया है। अतएव यहां पर **सेनाः** का शाब्दिक अर्थ "सेनाएं" करने में कोई दोष नहीं है, यद्यपि **सेनाः** का भावार्थ **हेतयः** (अस्त्र) है। **स्तवानः**=√स्तु+शानच् (कर्मवाच्य) वै० व्या० ३३० घ। तु०—१, ३५, १० का **गृणानः**।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, अक्षरपूर्ति के लिये तृतीय पाद के रुद्र का रुदर उच्चारण करना चाहिये और पूर्वरूप सन्धि का विच्छेद करके चतुर्थ पाद के आदि में अन्यं के अ का उच्चारण करना चाहिए।

१२. कुमारश्चित्पितरं वन्दमानं	कुमारः। चित्। पितरम्। वन्दमानम्।
प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम्	प्रति। ननाम। रुद्र। उपऽयन्तम्।
भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे	भूरेः। दातारम्। सत्ऽपतिम्। गृणीषे।
स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे॥	स्तुतः। त्वम्। भेषजा। रासि। अस्मे इति॥

अनु०—जैसे वालक (कुमारः, चित्) उत्साहवर्धक तथा स्नेह-वाचक शब्दों से स्तुति करते हुए (वन्दमानम्) तथा समीप आते हुए

(**उपयन्तम्**) पिता के सामने झुकता है (**प्रति नानाम्**), हे रुद्र (उसी प्रकार तेरे सामने मैं पुत्रवत् झुक गया हूँ)। मैं बहुत दान के (**भूरेः**) दाता तथा सच्चे स्वामी की (**सत्पतिम्**) स्तुति करता हूँ (**गृणीषे**)। हमारे द्वारा संस्तुत होने पर (**स्तुतः**) तुम हमें (**अस्मे**) रोगनिवारक औषध (**भेषजा**) प्रदान करो (**रासि**)।

टि०—चिद्=नि० १, ४ "दधि चिदित्युपमार्थे" का अनुसरण करते हुए वें० तथा सा० **चिद्** को उपमावाचक मानते हुए क्रमशः "इव" और "यथा" अर्थ करते हैं। तै० सं० ४, २, ५, ४ के मन्त्रभाग "देवीमहं निर्ऋतिं वन्दमानः पितेव पुत्रं दसये वचोभिः" में प्रयुक्त सदृश विचार तथा शब्दावलि से भी इसी मत का समर्थन होता है। "चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने" (८, २, १०१) में पा० भी **चिद्** के उपमार्थक प्रयोग की सत्ता मानता है। ग्रि०, मै० (M. H. R.) तथा गै० आदि आधुनिक विद्वान् भी इसे "इव" के अर्थ में मानते हैं, यद्यपि ग्रा० आदि कुछ विद्वान् ऐसा अर्थ नहीं करते हैं। यहां पर **चिद्** का "इव" अर्थ ग्राह्य है; तु०—ऋ० १, ४९, ३ पर टि०। **वन्दमानम्**=इस का व्याख्यान वें० "प्रह्वीभवन्तम्" और सा० "'आयुष्मान् भव सौम्य' इति स्तुवन्तम्" करता है। आधुनिक विद्वान् प्रायेण सा० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं और वैदिक प्रयोगों के आधार पर यहां **वन्दमानम्** का अर्थ "उत्साहवर्धक ('मेरे प्यारे पुत्र' आदि) स्तुति करते हुए को" है। ऊपर उद्धृत तै० सं० का मन्त्रभाग देखिये। **प्रति नानाम**=वें० तथा सा० इसे √नम् के लिट् उ० पु० ए० का रूप मानते हुए क्रमशः "प्रणतोऽस्मि" और "प्रतिनतोऽस्मि" व्याख्यान करते हैं। परन्तु ग्रा०, अवैरी, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् वैदिक भाषा में उपलब्ध प्रयोग के आधार पर इसे √नम् से लिट् प्र० पु० ए० का रूप मानते हैं। यहां पर यही मत अधिक युक्तियुक्त है। **गृणीषे**=√गॄ+लट् उ० पु० ए०। इस का व्याख्यान वें० "स्तौमि" और सा० "स्तौमि। मिपः 'तिङां तिङो भवन्ति' इति से आदेशः" करता है। ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् भी इसे लट् उ० पु० ए० का रूप मानते हैं। तु०—वै० व्या० ३१४। **रासि**= √रा+लट् म० पु० ए०। लोट् के अर्थ में लट् का रूप है (वै० व्या० ३२७)। **अस्मे**=अस्मद् का च० ब० (वै० व्या० १६४ क)।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये द्वितीय पाद में **रुद्रोपयन्तम्** का उच्चारण **रुदरोपयन्तम्** और चतुर्थ पाद में **त्वं** का उच्चारण **तुअं** तथा **रास्यस्मे** का उच्चारण **रासि अस्मे** करना चाहिए।

१३. या वो भेषजा मरुतः शुचीनि	या । वः । भेषजा । मरुतः । शुचीनि ।
या शंतमा वृषणो या मयोभु ।	या । शम्ऽतमा । वृषणः । या । मयःऽभु ।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्	यानि । मनुः । अवृणीत । पिता । नः ।
ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि ॥	ता । शम् । च । योः । च । रुद्रस्य । वश्मि ।

अनु०— हे मरुतो ! तुम्हारे (**वः**) जो रोग-निवारक औषध (**भेषजा**) शुद्ध हैं (**शुचीनि**), हे वर्षा करने वाले देवो (**वृषणः**)! तुम्हारे जो (रोग-निवारक औषध) अत्यन्त कल्याणकारी (**शंतमा**) तथा सुखकारी हैं (**मयोभु**); जिन्हें हमारे पिता मनु ने चुना था (**अवृणीत**), मैं उन (**औषधों**) की (**ता**) और रुद्र देव के (अधीनस्थ) सुख तथा शान्ति की (**शं च योश्च**) इच्छा करता हूँ (**वश्मि**)।

टि०—वृषणः=वृषन् का सं० ब०; मरुतों के लिये प्रयुक्त हुआ है। वृषन् के व्याख्यान के लिये दे०—ऋ० १, ८५, ७ पर टि०। मयोभु=मयोभु का प्रथ० ब० (वै० व्या० १४०, २)। या=यानि। भेषजा=भेषजानि। शंतमा=शंतमानि। अवृणीत=√वृ+लङ् आ० प्र० पु० ए०। संहिता में छान्दसदीर्घत्व हुआ है। यानि के कारण इस ति० पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ङ)। ता=तानि। शम्, योस्= वेदों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग साथ-साथ मिलता है। यहां पर इन का व्याख्यान सा० "शं च योश्च यच्छमनीयानां रोगाणामुपशमनं यावनीयानां भयानां यद् यावनम् अस्मत्तः पृथक्करणं तदुभयम्" करता है। वें० ने कोई व्याख्यान नहीं किया है। सा० ने अनेक अन्य स्थलों पर भी ऐसा ही व्याख्यान किया है (तु०—ऋ० १, ९३, ७; १०६, ५; ११४, २; १८९, २; ३, १८, ४ इत्यादि) जो नि० ४, २१ "शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्" के अनुसार है। स्क०, भट्टभास्कर, म०, उ० आदि अन्य भारतीय भाष्यकार भी यास्क का अनुसारण करते हैं। ऋ० १०, १५, ४ के भाष्य में सा० इन का व्याख्यान "शं सुखं योः दुःखवियोगम्" करता है। ग्रा०, गै०, मो० आदि आधुनिक विद्वान् इन का अर्थ प्रायेण "welfare and blessing" करते हैं, जब कि मै० ने "healing and blessing" अनुवाद किया है। हम हिन्दी में "सुख तथा शान्ति" अनुवाद

कर सकते हैं, क्योंकि ये दोनों शब्द शम् तथा योस् के भावार्थ को पूर्णतया अभिव्यक्त करते हैं । वश्मि= √वश्+लट् उ० पु० ए० । मनुः पिता=दे०— ऋ० ८, ३०, २ पर टि० ।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिये रुद्रस्य का उच्चारण रुदरस्य करना चाहिए ।

१४. परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि । नः । हेतिः । रुद्रस्य । वृज्याः ।
परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् । परि । त्वेषस्य । दुःऽमतिः । मही । गात् ।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व अव । स्थिरा मघवत्ऽभ्यः । तनुष्व ।
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥ मीढ्वः । तोकाय । तनयाय । मृळ ॥

अनु०—रुद्र का अस्त्र (हेतिः) सब ओर हम से दूर रहे (नः परि वृज्याः)। दीप्त अर्थात् क्रुद्ध (रुद्र) की (त्वेषस्य) बड़ी (मही) बुरी मति (दुर्मतिः) सब ओर हम से दूर जाये (परि गात्)। (हे रुद्र !) तुम अपने तने हुए धनुषों को (स्थिरा) उदार पुरुषों के लिए (मघवद्भ्यः) ढीला कर दो (अव तनुष्व) । हे दानशील देव (मीढ्वः) ! हमारे पुत्र पर (तोकाय) तथा पौत्र पर (तनयाय) दया करो (मृळ) ।

टि०—परि णः=परि+नः । न् के णत्व की इस सन्धि के लिये दे०— वै० व्या० ६३ ख । परि+वृज्याः=√वृज्+विकरण—लुग्—लुङ् से आलि० प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६६ ङ) । त्वेषस्य=त्वेष शब्द के व्याख्यान के लिये दे०— ऋ० १, १४३, ३ पर टि० । वा० सं० १६, ५० के भाष्य में उ० तथा म० त्वेषस्य का व्याख्यान "क्रुद्धस्य" करते हैं और म० कहता है—"त्वेषति क्रोधेन ज्वलति त्वेषस्तस्य पचाद्यच् ।" यहां पर यह व्याख्यान ठीक लगता है । परि+गात्=√गा+विकरण— लुग्—लुङ् से विमू० प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६६ क) । स्थिरा=स्थिराणि, स्थिर का द्विती० ब० । इस के साथ धनूंषि का अध्याहार करके इस का व्याख्यान वें० "आततज्यानि स्थिराणि धनूंषि", सा० "स्थिराणि त्वदीयानि धनूंषि", उ० "स्थिराणि धनूंषि", और म० "दृढानि धनूंषि" करता है । अन्य ऋचाओं में भी "तने हुए धनुषों"

(आततज्यानि धन्वानि) के लिये स्थिरा पद का प्रयोग मिलता है (ऋ० ४, ४, ५; १०, ११६, ५; ८, १६, २०; ८, २०, १२; वा० सं० १३, १३; १५, ४०)। आधुनिक विद्वान् भी प्रायेण इस भावार्थ से सहमत हैं, यद्यपि शब्दार्थ का कुछ मतभेद कहीं-कहीं मिलता है। यहां पर वें० का व्याख्यान सर्वश्रेष्ठ है। अव+तनुष्व=√तन्+लोट् म० पु० ए०। उपरिनिर्दिष्ट ऋचाओं के समानार्थक प्रयोगों में तनुष्व के स्थान पर तनुहि रूप मिलता है। इस का अर्थ "ढीला करो अर्थात् तने हुए धनुषों की ज्या को ढीला कर दो"। मीढ्वस्=मीढ्वस् का सं० का रूप है और पाद के आदि में आने के कारण इस के आदि अक्षर पर उदात्त है (वै० व्या० ४१२)। वें०, सा०, उ०, म० आदि भारतीय भाष्यकार पा० ६, १, १२ पर महाभाष्य तथा काशि० के अनुसार √मिह् "सेचने" से व्युत्पत्ति करते हुए इस का व्याख्यान क्रमशः "हे वर्षितः, सेचनसमर्थ, सेक्तः, कामाभिवर्षुक" करते हैं। यद्यपि रोट, ग्रा०, ग्रि०, मो०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् √मिह् से इस की व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं, तथापि इस का व्याख्यान प्रायेण "दानशील" (bounteous) करते हैं और यह व्याख्यान वैदिक प्रयोग तथा प्रसंग के अनुकूल है। इसी प्रकार के व्याख्यान को ध्यान में रखते हुए, पा० ६, १, १२ पर महाभाष्य में √मह् "दाने" (महिर्दानकर्मा) से मीढ्वस् की व्युत्पत्ति करने वाला पक्ष भी प्रस्तुत किया गया है। मीढ्वस् की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद होने पर भी (दे०—वै० व्या० ३३२ ख), इस का "दानशील" अर्थ ग्राह्य है।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, अक्षरपूर्ति के लिये प्रथम पाद के रुद्रस्य का उच्चारण रुवरस्य करना चाहिये।

१५. एवा बभ्रो वृषभ चेकितान	एव। बभ्रो इति। वृषभ। चेकितान।
यथा देव न हृणीषे न हंसि।	यथा। देव। न। हृणीषे। न। हंसि।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि	हवनऽश्रुत्। नः। रुद्र। इह। बोधि।
बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥	बृहत्। वदेम। विदथे। सुऽवीराः॥

अनु०— हे भूरे रंग वाले (बभ्रो), वर्षा करने वाले (वृषभ), सर्वज्ञ (चेकितान) देव! (तुम हमारे लिये) ऐसे (एव) (अनुकूल बनो), जिससे (यथा) तुम न (हम पर) क्रोध करो (हृणीषे) और न (हमें) मारो (हंसि)। हे रुद्र! [तुम यहाँ पर (इह) हमारी पुकार सुनने वाले

(हवनश्रुत्) बनो (बोधि)। वीर पुत्रों से युक्त होते हुए (सुपुत्राः) हम धार्मिक उत्सव की सभा में (विदथे) उच्च स्वर से (बृहत्) बोलें (वदेम) अर्थात् हम अधिकार तथा शक्ति के साथ अपने मत को अभिव्यक्त करें।

टि०—एवा, यथा=पपा० एव। एव का व्याख्यान वें० "एवमेव" करता है और यथा के अर्थ की आकांक्षा को पूरा करने के लिये हवनश्रुत् से पूर्व तथा का अध्याहार करता है—"यथा न हृणीषे ··· तथा हवनश्रुत् ··· इह बोधि।" सा० "यथा येन प्रकारेण न हृणीषे ··· एवं हवनश्रुत्···बोधि" इत्यादि भाष्य में एव को तृतीय पाद के प्रारम्भ में रख कर उस का अर्थ "एवम्" करता है। तै० ब्रा० २, ८, ६, ९ में प्रयुक्त इस ऋचा के भाष्य में सा० "यथा न हृणीषे ··· अप्येवमेव त्वामाह्वयामीति शेषः" के द्वारा एव का अर्थ "एवमेव" करते हुए "त्वामाह्वयामि" का अध्याहार भी करता है। सा० के ऋ० भाष्य का अनुसरण करते हुए मै० एव को तृतीय पाद के आदि में रख कर यथा के अर्थ से इसके अर्थ की संगति दिखाता है। वें० की भांति गैं० ने भी एव को प्रथम पाद के आदि में रखते हुए यथा के साथ इस की संगति दिखाई है और यही मत उचित है जिस के अनुसार हम ने यहां पर अनुवाद किया है। चेकितान=√चित् (धापा० √कित्)+यङ्लुक्+शानच् (वै० व्या० ३०५)। हृणीषे=√हृ+लट् आ० म० पु० ए०। यथा के कारण इस पर उदात्त है। हंसि=√हन्+लट् म० पु० ए०। बोधि=√भू+विकरण—लुग्-लुङ् से लोट् म० पु० ए०। वें०, सा० आदि भारतीय भाष्यकार इस में √बुध् धातु मानते हैं। इस विषय में विभिन्न मतों के लिये दे०—वै० व्या० २६६ग तथा सप्तम अध्याय की टि० २६२। विदथे=इस के व्याख्यान के लिये ऋ० १, ८५ १; १४३, ७; २, १२, १५ पर टि० देखिये। वृषभ, चेकितान, बभ्रो, देव, रुद्र=पाद के आदि में न होने के कारण ये सं० सर्वानुदात्त हैं।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, तृतीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये रुद्रेह का उच्चारण रुद्रइह करना चाहिए।

ऋ० ३, ३३ (नद्यः)

ऋषिः— गाथिनो विश्वामित्रः । **देवता**— नद्यः । **छन्दः**— १-१२ त्रिष्टुप् ; १३ अनुष्टुप् ।

१. प्र पर्वतानामुशती उपस्थाद्	प्र । पर्वतानाम् । उशती इति । उपऽस्थात् ।
अश्वेइव विषिते हासमाने ।	अश्वे इवेत्यश्वेऽइव । विसिते इति विऽसिते । हासमाने इति ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे	गावाऽइव । शुभ्रे इति । मातरा । रिहाणे इति ।
विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥	विऽपाट् । शुतुद्री । पयसा । जवेते इति ।

अनु०— बन्धन से मुक्त की गईं (**विषिते**) तथा स्पर्धा से दौड़ने वालीं (**हासमाने**) दो घोड़ियों की तरह (**अश्वे इव**), और दो शुभ्र, मातृस्थानीय (**मातरा**) तथा (अपने बछड़े) को चाटती हुई (**रिहाणे**) धेनुओं की तरह (**गावा इव**), व्यास (**विपाश्**) और सतलुज (**शुतुद्री**) नदियां पर्वतों की गोद से (**उपस्थात्**), प्रबल इच्छा से पूर्ण (**उशती**) निकलती हुईं, अपने दुग्धरूपी जल के साथ (पयसा) शीघ्र गति से जा रही हैं (**प्रजवेते**) अर्थात् बह रही हैं ।

टि०—आख्यान=बृहद्देवता ४, १०५—११० तथा नि० २, २४ में इस सूक्त के सम्बन्ध में एक आख्यान मिलता है जिस के अनुसार ऋषि विश्वामित्र राजा पैजवन सुदास् का पुरोहित बना। बृहद्देवता के अनुसार, पुरोहित बना हुआ ऋषि विश्वामित्र यज्ञ करने के लिये राजा सुदास् के साथ विपाट् (आधुनिक व्यास) और शुतुद्री (आधुनिक सतलुज) नदियों के संगम पर पहुंचा और नदियों से कहा— "कल्याणकारी बनो"। नि० के अनुसार, विश्वामित्र ऋषि (पौरोहित्य के द्वारा) धन प्राप्त कर इन नदियों के संगम पर पहुंचा और अन्य लोग उस के पीछे-पीछे चल रहे थे। विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति कर उन से प्रार्थना की—"तुम कम गहरी

हो जाओ" (ताकि हम तुम्हें पार कर सकें)। इस सूक्त में नदियों के लिये कहीं द्विवचन, कहीं बहुवचन और कहीं एकवचन का प्रयोग है। सर्वानुक्रमणी तथा भाष्यकारों के अनुसार, चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी तथा दशमी ऋचा में नदियों का वाक्य होने के कारण नदियां ही इन के ऋषि हैं, जब कि शेष ऋचाओं में विश्वामित्र का वाक्य होने के कारण उन का ऋषि भी वही है। अत एव इस सूक्त में विश्वामित्र और नदियों का संवाद माना जाता है।

उशती=√वश् "इच्छा करना"+शतृ+स्त्री० ई+प्रथ० द्वि०। पपा० में प्रगृह्य के इतिकरण के लिये दे०—वै० व्या० ८८ क। गै०, मै०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "उत्सुक" (eager) करते हैं, जबकि यास्क प्रभृति भारतीय भाष्यकार "कामयमाने" व्याख्यान करते हैं जो समीचीन है। विषिते=वि+√सि (अथवा √सो+क्त) "बान्धना"+क्त; तु०—ऋ० ६, ६, ४। ग्रा०, ह्विटने आदि आधुनिक विद्वान् √सि तथा √सो को मूलतः एक ही धातु के रूप मानते हैं। हासमाने=या० (९, ३९) "हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणे वा"; वें० "हासतिः स्पर्धाकर्मा, परस्परं स्पर्धमाने, हर्षकर्मा वा, हर्षमाणे"; सा० "अन्योन्यजवेन स्पर्धमाने। यद्वा हृष्यन्त्यावश्वे इव वडवे इव त्वरया गच्छन्त्यौ परस्परं हृष्यन्त्यौ। ...हासतिः स्पर्धाकर्मा हसे हसने वा"। ऋ० में √हास् के चार प्रयोग और अ० में केवल एक प्रयोग मिलता है। उन प्रयोगों के विश्लेषण के आधार पर √हास् को हस् "हंसना" का णिजन्त नहीं माना जा सकता और √हास् का अर्थ "स्पर्धा से दौड़ना" अधिक समीचीन प्रतीत होता है जैसा कि रोट, ग्रा०, गै०, ग्रि०, आदि आधुनिक विद्वान् मानते हैं। रिहाणे=यास्क "संरिहाणे"; वें० "इतरेतरं संलिहाने"; सा० "अन्तर्णीतसन्नर्थो लिहिः। वत्सं जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ गच्छतः तद्वत् समुद्रं गन्तुं जवात् गच्छन्त्यौ"। उत्तरकालीन भाषा में √रिह् के र् का ल् बनने के कारण √लिह् बन गया (दे०—वै० व्या० २९)। वें० के "इतरेतरं संलिहाने" की अपेक्षा सा० का "वत्सं जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ ··" व्याख्यान अधिक समीचीन है; तु०—ऋचा ३। प्र जवेते=√जु+लट् प्र० पु० द्वि०। शुभ्रे, मातरा, रिहाणे ये तीनों विशेषण गायों तथा नदियों के लिये समान रूप से लागू होते हैं।

२. इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे	इन्द्रेषिते इतीन्द्रऽइषिते। प्रऽसवम्। भिक्षमाणे इति।
अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।	अच्छ। समुद्रम्। रथ्याऽइव। याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने	समाराणे इति समऽआराणे। ऊर्मिऽभिः। पिन्वमाने इति।
अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे॥	अन्या। वाम्। अन्याम्। अपि। एति। शुभ्रे इति॥

अनु०— इन्द्र के द्वारा प्रेरित की गईं (**इन्द्रेषिते**) तुम दोनों नदियां उसकी प्रेरणा की (**प्रसवम्**) याचना करती हुईं (**भिक्षमाणे**), रथ के पहियों की भाँति (**रथ्याऽइव**), शीघ्र गति से समुद्र की ओर (**अच्छ समुद्रम्**) जा रही हो (**याथः**)। हे शोभायमान नदियो (**शुभ्रे**)! तरंगों के द्वारा (**ऊर्मिभिः**) फूलती हुईं (**पिन्वमाने**) जब तुम दोनों साथ-साथ बहती रहती हो (**समाराणे**), तब तुम्हारे में से (**त्वाम्**) एक (**अन्या**) दूसरी में (**अन्यान्**) मिल जाती है (**अपि एति**) अर्थात् तुम दोनों एक दूसरी में मिल जाती हो।

टि०—**इन्द्रेषिते**=वें० तथा सा० "इन्द्रेण प्रेषिते"। यहां पर तृ० तस० में √इष् "प्रेरित करना" का क्तान्त रूप **इषित** प्रयुक्त हुआ है; तु०—ऋ० ३, ६१, ७ के **इषण्यन्** पर टि०। अतएव यहां पर इस का अर्थ "इन्द्र के द्वारा प्रेरित की गईं अर्थात् चलाई गईं" हैं। **प्रसवम्**=वें० तथा सा० "अनुज्ञाम्"। ग्रा० (कोष) **प्रसवम्** का अर्थ "(जल का) वेगवान् प्रवाह" करता है, जब कि गै० "दौड़ने के लिये (संकेत)" अर्थ करता है। वास्तव में **प्रसवम्** प्र+√सू "प्रेरित करना"+अ प्रत्यय से बना है (वै० व्या० ३५२ क) और इस का शाब्दिक अर्थ "प्रेरणा" है। वें० तथा सा० के "अनुज्ञाम्" व्याख्यान को इसी का भावार्थमात्र कह सकते हैं। प्रसङ्गानुसार पूर्ववर्ती समस्त पद **इन्द्रेषिते** में प्रयुक्त **इन्द्र** का **तस्य** सर्वनाम **प्रसवम्** के अर्थ को पूरा करता है; अर्थात् "उस इन्द्र की प्रेरणा को" अर्थ यहां पर अभिप्रेत है; तु०—ऋचा ६ में **तस्य वयं प्रसवे**। **रथ्याऽइव**=वें० "रथमार्गेण रथ इव"; सा० "यथा रथिनौ लक्ष्यं देशमभिगच्छतस्तद्वत्। ··· रथस्येमौ। तस्येदम् इत्यर्थे 'रथाद्यत्' इति यत्प्रत्ययः। तित्स्वरितः"। सा० इसे तद्धितप्रत्ययान्त **रथ्या** का रूप समझता है, जब कि ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसे ईकारान्त प्रातिपदिक **रथी** का द्विवचनान्त रूप मानते हुए (तु०—वै० व्या० १४३ ग) इन पदों का व्याख्यान "दो रथ के अश्वों की तरह" करते हैं और गै० विकल्प से टि० में "दो सारथियों की तरह" व्याख्यान भी सुझाता है। लुई रैनू प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वान् इस पद का अर्थ "दो सारथि" करते हैं। इस व्याख्यान का आधार यह है कि इस प्रकार के कतिपय अन्य प्रयोगों में सा० ने **रथ्येव** का व्याख्यान "रथिनाविव" किया है; तु०—ऋ० २, ३९, २. ३; ७, ३९, १। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० में उपलब्ध **रथ्या** पद दो प्रकार के हैं— एक आद्युदात्त है और दूसरे **रथ्या** के **या** पर स्वतन्त्र स्वरित तथा **र** के नीचे अनुदात्त है। आद्युदात्त **रथ्या** पद तद्धितान्त वि० प्रातिपदिक **रथ्य** "रथ-सम्बन्धी" का रूप है,

जब कि स्वतन्त्र स्वरित वाले रथ्या पद में अनेक प्रातिपदिकों के रूप मिलते हैं। ईकारान्त प्रातिपदिक रथी के प्रथ० द्विती० द्वि० तथा तृ० ए० में स्वतन्त्र स्वरित वाला रथ्या रूप बनता है (वै० व्या० १४३ ग)। अत एव अनेक स्थलों पर प्राचीन भाष्यकार तथा आधुनिक विद्वान् रथ्या का व्याख्यान प्रथ० द्वि० के रूप के आधार पर "रथिनौ" करते हैं। एक अन्य तद्धितान्त प्रातिपदिक रथ्य भी मिलता है जिस के अन्तिम अक्षर पर स्वतन्त्र स्वरित है जैसा कि सा० ने व्याख्यान किया है। उस का प्रथ० द्विती० द्वि० पुं० का रूप वर्तमान रथ्या के समान बनता है। इसी प्रातिपदिक का प्रथ० द्विती० ब० नपुं० का रूप भी रथ्या बनता है। आकारान्त स्त्री० रथ्या प्रातिपदिक का प्रथ० ए० तथा तृ० ए० भी वर्तमान रथ्या के समान बनता है। इस परिस्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्तमान रथ्या को कौन से प्रातिपदिक का रूप मानकर व्याख्यान किया जाए। नदियों के द्वि० के रूप को ध्यान में रखते हुए अधिकतर विद्वान् वर्तमान रथ्या को प्रथ० द्वि० का रूप मानते हैं, परन्तु वें० इसे तृ० ए० का रूप समझता है। स्वतन्त्र स्वरित वाले इस रथ्या पद के पांच अन्य उपमावाचक प्रयोग (रथ्याऽइव) ऋ० में मिलते हैं। यहां पर यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि इन सब प्रयोगों में उपमेय वस्तु की शीघ्र गति को प्रकट करने के लिये रथ्याऽइव उपमा का प्रयोग किया गया है (तु०—ऋ० २, ३९, २. ३; ७, ३९, १; ९५, १; ३, ३६, ३)। इन वेगवाचक उपमाओं में रथ्याऽइव का अर्थ तीन प्रकार से किया जा सकता है—(१) "दो सारथियों की भांति" जैसा कि सा० आदि ने किया है; (२) "रथ के दो घोड़ों की भांति" जैसा कि ग्रा० आदि ने किया है; (३) "रथ के चक्रों (पहियों) की भांति"। जहां तक वेगवाचक उपमा का सम्बन्ध है, "दो सारथियों की भांति" की तुलना में "रथ के दो घोड़ों की भांति" अर्थ अधिक समीचीन है क्योंकि रथ की गति का आधार घोड़े हैं, सारथि नहीं हैं। परन्तु "रथ के घोड़ों की भांति" की तुलना में भी "रथ के चक्रों की भांति" अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि गति के वेग को प्रकट करने के लिये ऋ० में अन्यत्र भी रथ के चक्रों की उपमा दी गई है (तु०—ऋ० १, १८०, ८; १०, ८९, २; १०, ११७, ५) और उत्तरकालीन साहित्य में भी वेग को प्रकट करने के लिये रथ के चक्रों की उपमा दी गई है। ऋ० में यह उपमा (रथ्याऽइव) एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन के उपमेयों के लिये समान रूप से प्रयुक्त की गई है; दे०—ए० के लिये ऋ० ७, ९५, १; ब० के लिये ऋ० ३, ३६, ६ तथा द्वि० के लिये वर्तमान प्रसंग तथा अन्य प्रयोग। इसलिये यह प्रापत्ति निराधार है कि द्वि० के उपमेय के लिये ब० का उपमाप्रयोग असंगत है। समाराणे=सम्+√ऋ० "जाना"+कानच् (वै० व्या० ३३२ ग)+प्रथ० द्वि० स्त्री०। पिन्वमाने=√पिन्व्+शानच् (वै० व्या० २२६, ७)।

छ०—ग्रा० आदि के मतानुसार, द्वितीय पाद में अक्षर-परिमाण की पूर्ति के लिये रथ्येव का रथिएव उच्चारण अपेक्षित है।

३. अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं — अच्छ। सिन्धुम्। मातृऽतमाम्। अयासम्।
विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म। — विऽपाशम्। उर्वीम्। सुऽभगाम्। अगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे — वत्सम्ऽइव। मातरा। संरिहाणे इति सम्ऽरिहाणे।
समानं योनिमनु संचरन्ती॥ — समानम्। योनिम्। अनु। संचरन्ती इति सम्ऽचरन्ती॥

अनु०— मैं सर्वश्रेष्ठ माता (मातृतमाम्), (सतलुज) नदी (सिन्धुम्), के पास (अच्छ) आ पहुँचा हूँ (अयासम्)। हम विशाल (उर्वीम्) तथा भाग्य-सम्पन्न (सुभगाम्) व्यास नदी (विपाशम्) के पास पहुँच गये हैं (अगन्म)। एक बछड़े को (वत्सम्) एक-साथ चाटती हुई (संरिहाणे) दो धेनुओं की भाँति (मातरा), ये दोनों नदियां एक ही (समानम्) आश्रय-स्थान (योनिम्) अर्थात् समुद्र की ओर (अनु) एक-साथ अग्रसर होती हुई (संचरन्ती) (बह रही हैं)।

टि०— वचनपरिवर्तन=ऋषि इस ऋचा के प्रथमपाद में उत्तमपुरुष का ए० और द्वितीय पाद में ब० प्रयुक्त करता है। इसी प्रकार नदियों के लिये कहीं द्वि०, कहीं ब० और कहीं ए० का प्रयोग मिलता है; दे०—वै० व्या० ९८। मातृतमाम्=वें० तथा सा० के मतानुसार, प्रथमपाद में सतलुज (शुतुद्री) नदी को ऋषि मातृतमाम्, सिन्धुम् कहता है। यह अनुमान उचित प्रतीत होता है। अयासम्=√या+अनिट्— सिज्लुङ् उ० पु० ए०। अगन्म=√गम्+विकरण-लुग्-लुङ् उ० पु० ब० (वै० व्या० २६५ ग)। योनिम्=इस के "आश्रय-स्थान" अर्थ के लिये ऋ० ४, ५०, २ पर टि० देखिये। यहां पर प्रसंगानुसार दोनों नदियों का समान आश्रय-स्थान समुद्र है (दे०—ऋचा ४), जैसा कि वें०, सा० तथा ग्रा० आदि ने व्याख्यान किया है। गै० तथा रेनू ने यहां पर योनिम् का जो "bed" अर्थ किया है वह उतना समीचीन नहीं है। वत्सम् और योनिम् के मध्य

उपमान तथा उपमेय का सम्बन्ध है। अतएव गै०, रैनू आदि कुछ विद्वानों ने चतुर्थ पाद का जो यह अर्थ किया है कि "ये दोनों नदियां परस्पर एक दूसरे को चाटती हैं जैसे दो माता गाएं एक बछड़े को चाटती हैं" वह समीचीन नहीं है। उपमा यह कि जैसे दो गायें एक ही बछड़े को चाटती हैं उसी प्रकार ये दोनों नदियाँ एक ही आश्रय-स्थान अर्थात् समुद्र की ओर अग्रसर हो रही हैं।

४. एना वयं पयसा पिन्वमाना एना। वयम्। पयसा। पिन्वमानाः।
अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः। अनु। योनिम्। देवऽकृतम्। चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः न। वर्तवे। प्रऽसवः। सर्गऽतक्तः।
किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति॥ किम्ऽयुः। विप्रः। नद्यः। जोहवीति॥

अनु०—हम इस (एना) दुग्धरूपी जल से (पयसा) फलती हुई (पिन्वमानाः) तथा देवों द्वारा निर्मित (देवकृतम्) आश्रय-स्थान (योनिम्) अर्थात् समुद्र की ओर अग्रसर होती हुई (चरन्तीः) (बह रहीं हैं)। सहसा मुक्त की गई जलधारा द्वारा वेगपूर्वक प्रेषित (सर्गतक्तः) प्रवाह (प्रसवः) रोका नहीं जा सकता (न वर्तवे)। अन्तःप्रेरणायुक्त ऋषि (विप्रः), क्या चाहता हुआ (किंयुः), (हम) नदियों को (नद्यः) बार-बार पुकारता है (जोहवीति)।

टि०—इस ऋचा में नदियां अपने लिये ब० का प्रयोग करती हुई अपने सततगमन का वर्णन करती हैं। एना=अन्तोदात्त सर्वनाम एन का तृ० ए० (वै० व्या० १६९ क); वें० "अनेन"; सा० "एनेन"। पिन्वमानाः=ऋचा २ पर टि० देखिये। वर्तवे=वें० "निवर्तयितुम्"; सा० "निवर्तनाय। ···वर्तवे। 'वृतु' वर्तने। तुमर्थे तवेन्प्रत्ययः। निस्वरः"। √वृत्+तवेन् के द्वारा सा० ने इस पद का जो व्याख्यान किया है वह उचित नहीं है क्योंकि √वृत्+तवेन् से वर्त्तवे रूप बनना चाहिए, जब कि संहिता तथा पपा० के अनुसार यह एक तकार वाला वर्तवे रूप है। अत एव ऋ० २, २५, ३ के भाष्य में सा० विकल्प से "वृणोतेरन्तर्भावितण्यर्थात् वर्ततेर्वा तुमर्थे तवेन्प्रत्ययः" व्याख्यान करता है। वास्तव में वर्तवे√वृ "रोकना"+तवेन् प्रत्यय

से बना है (वै० व्या० ३४१ ज), जैसा कि ग्रा० आदि आधुनिक विद्वान् मानते हैं। **प्रसवः** **सर्गतक्तः**=वें० "अस्माकमिन्द्रकृतः प्रसवः प्रसक्तगमनः। 'अत्यो नाज्मन्त्सर्गप्रतक्तः' (ऋ० १, ६५, ३) इति मन्त्रः"; सा० "तासामस्माकं सर्गतक्तः सर्गे गमने प्रवृत्तः प्रसवः उद्योगः"। ग्रा०, मो०, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् **प्रसवः** का अर्थ "जल-प्रवाह" और **सर्गतक्तः** का अर्थ "शीघ्र-गति-युक्त" करते हैं, जबकि गै० **प्रसवः** का अनुवाद "दौड़" और **सर्गतक्तः** का अर्थ "तीर की भांति शीघ्रगामी" करता है। ये व्याख्यान तथा अनुवाद ऋचा के तृतीय पाद के भावार्थ को अवश्य अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इन पदों के कौन-से शब्दार्थ के आधार पर यह भावार्थ निकाला जा सकता है। प्रसङ्ग को ध्यान में रखते हुए यहां पर तथा ऋचा ११ में **प्रसवः** का "प्रवाह" अर्थ उचित प्रतीत होता है, यद्यपि इस अर्थ में **प्रसवः** शब्द का प्रयोग विरल है और इसकी व्युत्पत्ति **प्र**+√**सु** "रस निकालना" से मानी जा सकती है। **सर्गतक्तः** में तृ० तस० के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। (वै० व्या० ३९८ ग)। √**सृज्** "विसर्ग" से व्युत्पन्न **सर्ग** (वै० व्या० ३५२ क) शब्द का मौलिक अर्थ है—"जो मुक्त किया गया है वह"। जलों से सम्बद्ध होने पर **सर्ग** शब्द का अर्थ है—"वह वेगयुक्त जलधारा जो सहसा मुक्त की गई है"; तु०—ऋ० १, १९०, २; ७, ८७, १; अ० ४, १५, २. ३ **वर्षस्य सर्गाः**; ऋ० ७, १०, ३, ४ **अपां प्रसर्गे**। तदनुसार सा० तथा ग्रा० आदि ने भी अनेक स्थलों पर **सर्ग** का व्याख्यान "जलधारा" किया है। **सर्गतक्तः** समास का उत्तरपद **तक्तः** √**तक्**+**क्त** से बना है। निघं० २, १४ में **तकति** गत्यर्थक धातुओं में गिनाया गया है और तदनुसार स्क०, सा० आदि भाष्यकार इस धातु का अर्थ "जाना" और ग्रा०, मो० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "to rush along" करते हैं। इस धातु की यह विशेषता है कि इस का वैदिक प्रयोग प्रायेण उन उपमाओं में उपलब्ध होता है जिन में किसी की शीघ्र गति का वर्णन किया जाता है; तु०—ऋ० ९, १६, १; ३२ ४; ६७, १५। इन से प्रतीत होता है कि √**तक्** धातु "शीघ्र गति" का वाचक है। √**तक्** धातु का सकर्मक वैदिक प्रयोग भी मिलता है जहां पर इस का अर्थ "वेगपूर्वक प्रेषित करना" प्रतीत होता है; तु—ऋ० १०, २८, ४। उसी भांति यहां पर तथा ऋ० १, ६५, ६; ६, ३२, ५, ९ ३२, ४; ६७, १५ में √**तक्** के क्तान्त रूप **तक्तः** का "वेगपूर्वक प्रेषित किया गया" अर्थ में सकर्मक प्रयोग है। **कियु**=नामधातु **किम्**+**क्यच्**+**उ** (वै० व्या० ३०७; ३६२ छ) "क्या चाहने वाला या क्या चाहता हुआ"; तु०—ऋ० १, ४९, ४ के **वसूयु** पर टि०। **नद्यः**=नदी का द्विती० ब० (वै० व्या० १४३ क)। **जोहवीति**=√**ह्वे**+**यङ्लुक्**+**लट्** प्र०पु०ए० (वै०व्या० ३०१)। **विप्रः**=यद्यपि वें० तथा सा० **विप्रः** का अर्थ "ब्राह्मण" करते हैं, निघ० ३, १५ में **विप्रः** "मेधाविन्" के नामों में गिनाया गया है और तदनुसार ग्रा०, मो०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् √**विप्** "कांपना" से **विप्र** की व्युत्पत्ति मानते हुए (वै० व्या० ३७१ क) इस का मौलिक अर्थ "अन्तःप्रेरणा से युक्त" करते हैं और

प्रसंगानुसार "मेधावी, ऋषि", प्रभृति अर्थ करते हैं। यहां पर **विप्रः** का अर्थ "अन्तःप्रेरणायुक्त ऋषि" है। **चरन्तीः=चरन्ती** (√चर्+शतृ+स्त्री०) का प्रथ० ब०।

छ०—ग्रा० प्रभृति के मतानुसार, चतुर्थ पाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये **नद्यः** का **नदिग्नः** उच्चारण अपेक्षित है (वै० व्या० ४२०)।

५. रमध्वं मे वचसे सोम्याय	रमध्वम् । मे । वचसे । सोम्याय ।
ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः ।	ऋतऽवरीः । उप । मुहूर्तम् । एवैः ।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा-	प्र । सिन्धुम् । अच्छ । बृहती । मनीषा ।
वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥	अवस्युः । अह्वे । कुशिकस्य । सूनुः ॥

अनु०—हे शाश्वत नियम का पालन करने वाली नदियो (**ऋतावरीः**) ! मेरे (**मे**) सोम-सदृश (**सोम्याय**) वचन अर्थात् स्तोत्र के लिये (**वचसे**) तुम क्षण भर के लिये (**मुहूर्तम्**) अपने प्रवाहों से (**एवैः**) रुक जाओ (**उप रमध्वम्**)। मेरी महती (**बृहती**) मननयुक्त वाणी (**मनीषा**) अर्थात् स्तुति बड़ी नदी (**सिन्धुम्**) सतलुज की ओर (**अच्छ**) जा रही है [**प्र** (**एति**)]। मैंने, सहायता के इच्छुक (**अवस्युः**), कुशिक पुत्र ने, तुम्हारा आह्वान किया है (**अह्वे**)।

टि०—इस ऋचा में ऋषि विश्वामित्र नदियों से प्रार्थना करता है। **उप+रमध्वम्**=√रम्+लोट् म० पु० ब०। पाद के आदि में आने के कारण ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख)। द्वितीय पाद में प्रयुक्त परवर्ती उपसर्ग **उप** भी **रमध्वम्** से सम्बद्ध है (वै० व्या० ३७५)। **सोम्याय**=यास्क (२, २५) "सोमसंपादिने"; सा० "उत्तीर्याहं सोमं संपादयामीत्येवं सोमसंपादिने"। इस का व्याख्यान ग्रा० "सोमयुक्त", ग्रि० "friendly (pleasant)" और गे० "सोम-सदृश" करता है। पा० ४, ४, ९१ के अनुसार, "तुल्य" अर्थ में भी **यत्** तद्धित प्रत्यय प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार यहां पर भी सोम से परे "तुल्य" अर्थ में **यत्** तद्धित प्रत्यय के प्रयोग से **सोम्य** शब्द बना है जिस का अर्थ है "सोम-सदृश"। **ऋतावरीः**=पाद के आदि में आने के कारण इस

सं० के आदि अक्षर पर उदात्त है (वै० व्या० ४१२)। इस का व्याख्यान यास्क (२, २५) "ऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनाम" और सा० "ऋतमुदकम्। तद्वत्यो हे नद्यो यूयम्" करता है। वास्तव में ऋत "शाश्वत नियम" (दे०—ऋ० १, १, ८ पर टि०) के साथ वन् तद्धित प्रत्यय (वै० व्या० १९८) से बने ऋतावन् का स्त्री० ऋतावरी (वै० व्या० १३७, २) है जिसका अर्थ है "शाश्वत नियम का पालन करने वाली" (दे०—ऋ० ३, ६१, ६ पर टि०)। एवैः=यास्क "एवैरयनैरवनैर्वा"; सा० "पंचम्यर्थे तृतीया। शीघ्रगमनेभ्यः"। √इ "जाना"+व (वै० व्या० ३७२ क) से बने एव "गमन" का एवैः रूप यहां पर प्रसंगानुसार "प्रवाहों से" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी मानते हैं। एव के अधिकतर वैदिक प्रयोग तृ० ब० में मिलते हैं। सिन्धुम्= सा० "शुतुद्रीं त्वाम्"। सा० का यह व्याख्यान समीचीन प्रतीत होता है; तु०—ऋचा ३ में सिन्धुम्। बृहती मनीषा=यास्क इन्हें तृ० ए० मानते हुए व्याख्यान करता है— "बृहत्या महत्या मनीषा मनीषया स्तुत्या" और सा०, वें० तथा ग्रि० इसी का अनुसरण करते हैं। परन्तु ग्रा०, गै० प्रभृति विद्वान् इन्हें प्रथ० ए० मानते हुए मनीषा का अर्थ "प्रार्थना" करते हैं और तृतीय पाद के उपसर्ग प्र के साथ एति क्रिया का अध्याहार करते हुए तृतीय पाद का एक स्वतन्त्र वाक्य मान कर व्याख्यान करते हैं। ऋ० ६, ४९, ४ प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा का प्रयोग भी वर्तमान पाद के समान है जिस के व्याख्यान में वें० प्र के साथ गच्छति का और सा० प्र के साथ गच्छतु का अध्याहार करते हुए बृहती मनीषा को प्रथ० ए० मानता है। यहां पर भी बृहती मनीषा को प्रथ० ए० मानना और प्र के साथ एति का अध्याहार करना समीचीन है; तु०—ऋ० ७, ९९, ६। मनीषा का अर्थ "मननयुक्त वाणी" अर्थात् "स्तुति" है; दे०—ऋ० ५, ८३, १० पर टि०। अवस्युः=दे०—ऋ० १, २५, १९ पर टि०। अह्वे=तृतीय पाद के प्र उपसर्ग को अह्वे के साथ अन्वित करते हुए यास्क "प्राभिह्वयामि" तथा सा० "प्रकर्षेणाह्वयामि" व्याख्यान करता है। जैसा कि ऊपर व्याख्यान किया जा चुका है, तृतीय पाद के उपसर्ग प्र के साथ एति का अध्याहार करके व्याख्यान करना उचित है और चतुर्थ पाद में केवल अह्वे के द्वारा वाक्यार्थ करना अधिक समीचीन है। √ह्वे से अङ्-लुङ् उ० पु० ए० आ० में अह्वे बना है (वै० व्या० २६८; २७१. ३)।

छ०—ग्रा० प्रभृति के मतानुसार, प्रथम पाद में अक्षरपूर्ति के लिये सोमयाय का सोमिआय उच्चारण अपेक्षित है और सन्धि-विच्छेद द्वारा चतुर्थपाद के आदि में अवस्युः के प्रथम अ का उच्चारण अपेक्षित है।

६. इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुर्	इन्द्रः । अस्मान् । अरदत् । वज्रऽबाहुः ।
अपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।	अप । अहन् । वृत्रम् । परिऽधिम् । नदीनाम् ।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्	देवः । अनयत् । सविता । सुऽपाणिः ।
तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥	तस्य । वयम् । प्रऽसवे । यामः । उर्वीः ॥

अनु०— जिसके हाथ में वज्र है उस इन्द्र ने हमें (अस्मान्) खोदा (अरदत्) । उस ने नदियों के जलों को रोकने वाले (परिधिम्) वृत्र को मार गिराया (अप अहन्) । सुन्दर हाथ वाले (सुपाणिः) सविता देव ने हमारा पथप्रदर्शन किया (अनयत्) । हम विशाल (उर्वीः) नदियां उसी की प्रेरणा पर (प्रसवे) जा रही हैं (यामः) अर्थात् बह रही हैं ।

टि०—इस ऋचा में नदियां उत्तर देती हैं । अस्माँ अरदद्=इस विशेष वैदिक सन्धि के लिये दे०—वै० व्या० ५२ ख । वज्रबाहुः=दे०—ऋ० २, १२, १२ पर टि० । नदीनां परिधिम्=वें० "परिधानं नदीनाम्"; सा० "नदीनां शब्दकारिणीनामपां परिधिं परितो निहितम् । उदकमन्तःकृत्वा परितो वर्तमानमित्यर्थः" । यहां पर नदी शब्द नदियों के जलों के लिये प्रयुक्त किया गया है और परि+√धा+इ (वै० व्या० ३६० ग) से बना परिधि शब्द अपने यौगिक अर्थ—"घेरा अर्थात् सब ओर से घेर कर रोकने वाला"— में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ग्रा०, गै०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् मानते हैं । अहन्=दे०— ऋ० १, ८५, ९ पर टि० । सुपाणिः=बस० के पूर्वपद में सु के कारण अन्तिम अक्षर पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० १) । प्रसवे= "प्रेरणा पर"; इसके व्याख्यान के लिये दे० ऋचा २ पर टि० । उर्वीः= उरु "विशाल" के स्त्री० (पा० ४, १, ४४) उर्वी का प्रथ० ब० (वै० व्या० १४३ क) ।

छ०—तृतीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा देवोऽनयत् का देवो अनयत् उच्चारण अपेक्षित है ।

७. प्र॒वाच्यं॑ शश्व॒धा वी॒र्यं१॒॑ तद् — प्र॒ऽवाच्य॑म् । श॒श्व॒धा । वी॒र्य॑म् । तत् ।
इन्द्र॑स्य॒ कर्म॒ यदहिं॑ वि॒वृश्च॑त् । — इन्द्र॑स्य । कर्म॑ । यत् । अहि॑म् । वि॒ऽवृ॒श्चत् ।
वि वज्रे॑ण परि॒षदो॑ जघा॒ना- — वि । वज्रे॑ण । प॒रि॒ऽसदः॑ । ज॒घा॒न॒ ।
य॒न्नापो॒ऽय॑नमि॒च्छमा॑नाः ॥ — आय॑न् । आपः॑ । अय॑नम् । इ॒च्छमा॑नाः ॥

अनु०— इन्द्र का वह वीरतापूर्ण कर्म (**वीर्यम्**) सर्वथा (**शश्वधा**) प्रशंसनीय है (**प्रवाच्यम्**) कि (**यद्**) उसने वृत्र को (**अहिम्**) छिन्न-भिन्न कर दिया (**विवृश्चत्**); उसने अपने वज्र के द्वारा, (जलों को) सब ओर से घेरने वाली (रुकावट) का (**परिषदः**) नाश कर दिया (**वि जघान**) । (तब) गमन (**अयनम्**) की इच्छा करते हुए (**इच्छमानाः**) जल (**आपः**) आगे बढ़े (**आयन्**) ।

टि०—इस ऋचा में विश्वामित्र इन्द्र के वीरतापूर्ण कर्म की स्तुति करते हुए नदियों से कहता है । **प्रवाच्यम्**=वें० "प्रकर्षेण वाच्यम्"; सा० "प्रकर्षेण वचनीयम् ।" ग्रा०, गै०, ग्रि० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ "प्रशंसनीय" करते हैं और वैदिक प्रयोग से भी इस मत का समर्थन होता है; तु०—ऋ० १, ११७, ८; १३२, ४; १५१, ३ । **शश्वधा**=वें० "सर्वथा"; सा० "सर्वदा । ···शश्वच्छब्दात्स्वार्थे धाप्रत्ययस्तकारलोपश्च द्रष्टव्यः" । ग्रा०, ग्रि०, गै०, मो० प्रभृति आधुनिक विद्वान् सा० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं । इस शब्द का केवल यही प्रयोग मिलता है । ऋ० ७, २२, ७ में प्रयुक्त विश्वधा के सादृश्य के आधार पर वेलङ्कर ने इस का अर्थ "अनेक प्रकारों से" किया है । क्योंकि शश्वत् का प्रयोग "सर्व" अर्थ में भी होता है (तु०—ऋ० १, ३६, १९; ७२, १; १३५, ७; २, १२, १० पर टि०) और धा—प्रत्यय "प्रकार"—वाचक है (तु०—पा० ५, ३, ४२), अतएव वें० द्वारा सुझाया गया "सर्वथा" अर्थ अधिक समीचीन है । **वीर्यम्**=दे०—ऋ० १, ३२, १ पर टि०; तद् के उदात्त से पूर्ववर्ती वीर्यम् के स्वतन्त्र स्वरित को अङ्कित करने की विशेष पद्धति के लिये दे०— वै० व्या० ३९१, ६ । **विवृश्चत्**=वि+√व्रश्च्+अडागमरहित लङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २२९, २) । यद् के योग से यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ङ) और सोदात्त ति० के साथ समस्त उपसर्ग वि अनुदात्त है (वै० व्या० ४१४ ख) । **परिषदः**=वें० "परितः सीदतः अनुचरानहेः"; सा० "परितः सीदतः आसीनान् प्रतिबन्धकारिणोऽसुरान्" । ग्रा० परिषदः

को वि० मानते हुए इस का व्याख्यान "सब ओर घेरे हुए" करता है। परन्तु हिल्ब्रांट रैनू तथा गै० प्रभृति विद्वान् **परिषदः** को नामपद मानते हुए इस का अर्थ "barriers" करते हैं और ग्रि० "obstructors" करता है। **परिषद्** का यौगिक अर्थ "सब ओर घेरने वाली" (रुकावट) है और यहां पर इस का प्रयोग इसी अर्थ में उपयुक्त लगता है। परन्तु **परिषदः** को द्विती० ब० की अपेक्षा ष० ए० का रूप मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि कर्मकारक में ष० का प्रयोग भी मिलता है (वै० व्या० ३८३ ख)। **आयन्**=वें० "अथागच्छन्"; सा० "यान्ति। .... 'अय गतौ' इत्यस्य लङि रूपम्। पादादित्वादनिघातः"। यद्यपि सा० इसे √अय् का रूप मानता है, तथापि यह वास्तव में √इ "जाना" का लङ् प्र० पु० ब० का रूप है (वै० व्या० २३५), जैसा कि ग्रा०, मै० आदि विद्वान् मानते हैं। पाद के आदि में आने के कारण यह सोदात्त है। **अयनम्**= वें० "स्थानम् समुद्रम्"; सा० "स्थानम्"। √इ "जाना"+अन (वै० व्या० ३५६ ग) से बने **अयनम्** का अर्थ ग्रा० तथा ग्रि० "मार्ग" और गै०, रैनू प्रभृति "निष्क्रमण-मार्ग" करते हैं। ऋ० में **अयन** का यही एक प्रयोग मिलता है। वा० सं० ३१, १८ के **अयन** शब्द का व्याख्यान उ० "गमन" और म० "आश्रय" करता है। यहां पर भी व्युत्पत्ति के अनुसार **अयन** का "गमन" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है और **आयन्** के सम्बन्ध से इस अर्थ की पुष्टि होती है।

छ०—अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा० आदि के मतानुसार प्रथम पाद में **प्रवाच्यं** का **प्रवाचिअं** तथा **वीर्यं** का **वीरिअं** उच्चारण अपेक्षित है; और **जघानायन्** के सन्धि-विच्छेद द्वारा चतुर्थ पाद के आदि में **आयन्** के **आ** का उच्चारण तथा **अपोऽयनम्** के स्थान पर **अपो अयनम्** उच्चारण अपेक्षित है।

८. एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा	एतत्। वचः। जरितः। मा। अपि। मृष्ठाः।
आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि।	आ। यत्। ते। घोषान्। उत्ऽतरा। युगानि।
उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व	उक्थेषु। कारो इति। प्रति। नः। जुषस्व।
मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते॥	मा। नः। नि। करिति कः। पुरुषऽत्रा। नमः। ते॥

अनु०—हे स्तुति करने वाले ऋषि (जरितः)! तू अपने (ते) इस वचन को मत (मा) भूल (अपि मृष्ठाः) जिसे (यत्) आने वाली (उत्तरा) पीढ़ियां (युगानि) उद्घोषित करेंगी (आ घोषान्)। हे स्तुति करने वाले

कवि (कारो) ! अपने स्तोत्रों में (उक्थेषु) हमारे प्रति अनुकूल रहो (नः प्रति जुषस्व) और पुरुषों में (पुरुषत्रा) हमें (नः) नीचा मत करो (मा नि कर्) अर्थात् तिरस्कृत मत करो। तुझे हमारा नमस्कार है (नमस्ते)।

टि०—इस ऋचा में नदियां विश्वामित्र से कहती हैं। जरितः=जरितृ "स्तोतृ" का सं० है और पादादि में न आने के कारण सर्वानुदात्त है। मा अपि मृष्ठाः=वें० "अपिमार्जनं निराकरणम्", सा० "मापि मृष्ठाः मा विस्मार्षीः। ...मृष्ठा। 'मृजूष् शुद्धौ' इत्यस्य लङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम्। अदादित्वाच्छपो लुक्"। इस प्रकार वें० तथा सा० मृष्ठाः को √मृज् का रूप मानते हैं, जबकि ग्रा०, ग्रि०, मै०, मो०, ह्विटने प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसे √मृष् "भूलना, ध्यान न देना" के विकरण-लुग्-लुङ् का विधिमूलक म० पु० ए० आ० (वै० व्या० २६६ क) मानते हैं और यही मत समीचीन है, क्योंकि अपि के साथ √मृज् का कोई प्रयोग नहीं मिलता है जबकि अपि+√मृष् "भूलना" के अनेक वैदिक प्रयोग मिलते हैं; तु०—ऋ० ६, ५४, ४ पर टि०; ७, २२, ५। आ घोषान्=वें० "आ घोषयन्ति"; सा० "उद्घोषयन् वर्तसे। ... घोषान्। 'घुषिर् संशब्दने' इत्यस्य शतरि सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वात् 'अतो गुणे' इति पररूपत्वाभावः। सवर्णदीर्घः। शतुर्लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः"। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वें० घोषान् को ति० मानता है जबकि सा० इसे शत्रन्त रूप समझता है। ग्रा०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसे √घुष्+लेट् प्र० पु० ब० का रूप मानते हैं और वैदिक प्रयोग से इस मत की पुष्टि होती है; तु०—ऋ० ५, ३७, ३; १, १३, ६, ८। मो०, गै०, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् आ घोषान् का अर्थ "सुन सकें" करते हैं जब कि ग्रा० इस का अर्थ "उद्घोषित करें" करता है। आ+√घुष् के वैदिक प्रयोगों से इसके "उद्घोषित करना" अर्थ का समर्थन होता है और वें० तथा सा० भी प्रायेण इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं; तु०— ऋ० १, ८३, ६; १५१, ४; ५, ३७, ३; ८, २५, ४। यहां पर भविष्यत्काल के अर्थ में लेट् का प्रयोग हुआ है। उत्तरा युगानि=वें० "उत्तराण्यपि युगानि। आगच्छति काल इत्यर्थः"; सा० "उत्तरेषु याज्ञिकेषु युगेषु अहःसु। ....'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया"। इस प्रकार सा० तथा वें० इन्हें द्विती० ब० के रूप मानते हैं और वें० आ घोषान् के कर्ता के रूप में "मनुष्याः" पद का अध्याहार करता है। इस के विपरीत ग्रा०, गै०, ग्रि०, रैनू प्रभृति लगभग सभी आधुनिक विद्वान् उत्तरा युगानि को आ घोषान् के कर्ता के रूप में प्रथ० ब०, मानते हैं और इन पदों का व्याख्यान "आने वाली पीढियां" करते हैं। यहां पर

युग शब्द का "पीढी" अर्थ उपयुक्त है; दे०—ऋ० १, ११५, २ पर टि०। ऋ० के अन्य प्रयोगों से इस मत की पुष्टि होती है कि यहां पर उत्तरा युगानि पद आ घोषान् के कर्ता के रूप में प्रथ० ब० हैं; तु०—ऋ० १०, १०, १०। कारो=कारु का सं०; सा० "शस्त्राणां कर्तस्त्वम्। ... कारो। करोतेः 'कृवापाजिमि' इत्यादिना उण्प्रत्ययः। आमन्त्रितत्वान्निघातः"। निघ० ३, १६ में कारुः "स्तोतृ" के नामों में गिनाया गया है। रोट, ग्रा०, ग्रि०, ह्विटने, मै०, प्रभृति आधुनिक विद्वान् √कृ "स्तुति करना"+उ से कारु की व्युत्पत्ति मानते हैं (वै० व्या० ३६२ घ; २६६, ८ ख; ३०४ ख) और इस का अर्थ "स्तोतृ, कवि" करते हैं। वैदिक प्रयोग से इस मत की पुष्टि होती है। प्रति जुषस्व=वें० "प्रतिसेवस्व, भाजयेत्यर्थः"; सा० "संवादात्मकेन तेन वाक्येन प्रतिसेवस्व"। यहां पर इन पदों का अर्थ "अनुकूल रहो" है (दे०—ऋ० ७, ५४, १ पर टि०), जैसा कि ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् वैदिक प्रयोगों के आधार पर मानते हैं। पुरुषत्रा=पुरुष+स० के अर्थ में त्रा प्रत्यय (वै० व्या० २०२ ख)। मा नि कर्=वें "मा नि कार्षीः स्तुत्या कुरु"; सा० "उक्तिप्रत्युक्तिरूपसंवादवाक्याध्यापनेन नितरां पुंवत् प्रागल्भ्यं मा कार्षीः"। परन्तु ग्रा०, गै०, ग्रि०, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् इन पदों का व्याख्यान "नीचा मत करो" (अर्थात् तिरस्कृत मत करो) करते हैं और नि+√कृ के वैदिक प्रयोगों से इस व्याख्यान की पुष्टि होती है; तु०—ऋ० ८, ७८, ५ (निकर्तवे); २, २३, १२ (नि कर्म); अ० ११, २, १३ (निचिकीर्षति)। √कृ+विकरण लुग्—लुङ् से विमू० का म० पु० ए० है (वै० व्या० २६६ क)।

९. आो षु स्व॑सारः का॒रवे॑ शृणोत — आो इति॑। सु। स्व॒सा॒रः॒। का॒रवे॑। शृ॒णो॒त॒।

य॒यौ वो॑ दू॒राद॑न॑सा॒ रथे॑न। — य॒यौ। वः॒। दू॒रात्। अन॑सा। रथे॑न।

नि षू न॑मध्वं॒ भव॑ता सुपा॒रा — नि। सु। न॒म॒ध्व॒म्। भव॑त। सु॒ऽपा॒राः॒।

अ॒धोअ॒क्षाः सि॑न्धवः स्रो॒त्याभिः॑॥ — अ॒धः॒ऽअ॒क्षाः। सि॒न्ध॒वः॒। स्रो॒त्याभिः॑॥

अनु०— हे बहिनो (स्वसारः)! स्तुति करने वाले कवि के लिये (कारवे) अर्थात् कवि पर अनुग्रह करने के लिये (उस के निवेदन को) ध्यान से सुनो (आ सु शृणोत)। मैं तुम्हारे पास (वः) बैलगाड़ी

(अनसा) तथा रथ के साथ (रथेन) बहुत दूर से (दूरात्) आया हूँ (आ ययौ)। हे नदियो (सिन्धवः) ! तुम अच्छी प्रकार नीची हो जाओ (नि सु नमध्वम्); और अपनी धाराओं सहित (स्रोत्याभिः) रथ तथा बैलगाड़ी के धुरे से नीचे रहते हुए (अधोअक्षाः) तुम सुखपूर्वक पार की जाने वाली (सुपाराः) बनो (भवत)।

टि०—इस ऋचा में विश्वामित्र नदियों से कहता है। **ओ**=आ+उ; वें० इस आ उपसर्ग को **शृणोत** के साथ अन्वित करता है। ग्रा० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इस मत को स्वीकार करते हैं और वैदिक प्रयोग से इस का समर्थन होता है; तु० ऋचा १०। मेरा मत है कि द्वितीय पाद के **ययौ** के साथ भी इस **आ** उपसर्ग को अन्वित करना चाहिए; क्योंकि वैदिक भाषा में कहीं-कहीं एक ही उपसर्ग अनेक तिङन्त पदों से अर्थतः अन्वित मिलता है। वै० प० को० में **शृणोताऽऽययौ** पाठसंशोधन सुझाया गया है। **ओ** प्रगृह्य के साथ पपा० में **इति** जोड़ा गया है (वै० व्या० ८८ क)। **आ सु शृणोत**=√श्रु+लोट् म० पु० ब० (पा० तप् प्रत्यय); अङ्ग के उ को गुण (वै० व्या० २४१-४२) (आ) **ययौ**=√या+लिट् उ० पु० ए०। पाद के आदि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख)। ग्रा०, गै०, अवैरी, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् **ययौ** को प्र० पु० ए० का रूप मानते हैं, जबकि वें०, सा० तथा वै० प० को० के अनुसार यह उ० पु० ए० का रूप है और प्रसंगानुसार यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि व्याकरण के अनुसार लिट् के प्र० पु० ए० और उ० पु० ए० के रूप समान बनते हैं (वै० व्या० २५६)। **नि सु नमध्वम्**=√नम्+लोट् आ० म० पु० ब०; अतिङन्त पद से परे आने के कारण सर्वानुदात्त। **भवत**=ति० **नमध्वम्** से परे आने के कारण सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ग)। **अधोअक्षाः स्रोत्याभिः**=वें० "स्रोतोभिः अक्षस्याधोभूता भवतेति"; सा० "स्रोत्याभिः स्रवणशीलाभिरद्भिः अधोअक्षाः रथाङ्गस्याक्षस्याधस्ताद्भवत। यदापोऽक्षस्याधस्ताद्भवन्ति तदा रथादीनि नेतुं शक्यन्ते। तस्मात् तत्परिमाणोदकाः भवतेति अर्थाभिप्रायः।" ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी वें०, सा० आदि के समान इन पदों का व्याख्यान "अपनी धाराओं सहित रथ के धुरे के नीचे रहो" करते हैं। **अधोअक्षाः** में तस० मान कर अन्तिम अक्षर पर उदात्त का समाधान किया जा सकता है (वै० व्या० ३९८ ग)।

छ०—ग्रा० प्रभृति के मतानुसार, चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिये **स्रोत्याभिः** का **स्रोतिआभिः** उच्चारण अपेक्षित है।

युग शब्द का "पीढी" अर्थ उपयुक्त है; दे०—ऋ० १, ११५, २ पर टि०। ऋ० के अन्य प्रयोगों से इस मत की पुष्टि होती है कि यहां पर उत्तरा युगानि पद आ घोषान् के कर्ता के रूप में प्रथ० ब० हैं; तु०—ऋ० १०, १०, १०। कारो=कारु का सं०; सा० "शस्त्राणां कर्तस्त्वम्। ··· कारो। करोतेः 'कृवापाजिमि' इत्यादिना उप्रत्ययः। आमन्त्रितत्वान्निघातः"। निघ० ३, १६ में कारुः "स्तोतृ" के नामों में गिनाया गया है। रोट, ग्रा०, ग्रि०, ह्विटने, मै०, प्रभृति आधुनिक विद्वान् √कृ "स्तुति करना"+उ से कारु की व्युत्पत्ति मानते हैं (वै० व्या० ३६२ घ; २९९, ८ ख; ३०४ ख) और इस का अर्थ "स्तोतृ, कवि" करते हैं। वैदिक प्रयोग से इस मत की पुष्टि होती है। प्रति जुषस्व=वें० "प्रतिसेवस्व, भाजयेत्यर्थः"; सा० "संवादात्मकेन तेन वाक्येन प्रतिसेवस्व"। यहां पर इन पदों का अर्थ "अनुकूल रहो" है (दे०—ऋ० ७, ५४, १ पर टि०), जैसा कि ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् वैदिक प्रयोगों के आधार पर मानते हैं। पुरुषत्रा=पुरुष+स० के अर्थ में त्रा प्रत्यय (वै० व्या० २०२ ख)। मा नि कर्=वें "मा नि कार्षीः स्तुत्या कुरु"; सा० "उक्तिप्रत्युक्तिरूपसंवादवाक्याध्यापनेन नितरां पुंवत् प्रागल्भ्यं मा कार्षीः"। परन्तु ग्रा०, गै०, ग्रि०, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् इन पदों का व्याख्यान "नीचा मत करो" (अर्थात् तिरस्कृत मत करो) करते हैं और नि+√कृ के वैदिक प्रयोगों से इस व्याख्यान की पुष्टि होती है; तु०—ऋ० ८, ७८, ५ (निकर्तवे); २, २३, १२ (नि कर्म); अ० ११, २, १३ (निचिकीर्षति)। √कृ+विकरण लुग्—लुङ् से विमू० का म० पु० ए० है (वै० व्या० २९९ क)।

९. आ षु स्वसारः कारवे शृणोत — आ इति। सु। स्वसारः। कारवे। शृणोत।
ययौ वो दूरादनसा रथेन। — ययौ। वः। दूरात्। अनसा। रथेन।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा — नि। सु। नमध्वम्। भवत। सुऽपाराः।
अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः॥ — अधःऽअक्षाः। सिन्धवः। स्रोत्याभिः॥

अनु०— हे बहिनो (स्वसारः)! स्तुति करने वाले कवि के लिये (कारवे) अर्थात् कवि पर अनुग्रह करने के लिये (उस के निवेदन को) ध्यान से सुनो (आ सु शृणोत)। मैं तुम्हारे पास (वः) बैलगाड़ी

(अनसा) तथा रथ के साथ (रथेन) बहुत दूर से (दूरात्) आया हूँ (आ ययौ)। हे नदियो (सिन्धवः)! तुम अच्छी प्रकार नीची हो जाओ (नि सु नमध्वम्); और अपनी धाराओं सहित (स्रोत्याभिः) रथ तथा बैलगाड़ी के धुरे से नीचे रहते हुए (अधोअक्षाः) तुम सुखपूर्वक पार की जाने वाली (सुपाराः) बनो (भवत)।

टि०—इस ऋचा में विश्वामित्र नदियों से कहता है। **ओ**=आ+उ; वें० इस आ उपसर्ग को **शृणोत** के साथ अन्वित करता है। ग्रा० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इस मत को स्वीकार करते हैं और वैदिक प्रयोग से इस का समर्थन होता है; तु० ऋचा १०। मेरा मत है कि द्वितीय पाद के **ययौ** के साथ भी इस **आ** उपसर्ग को अन्वित करना चाहिए; क्योंकि वैदिक भाषा में कहीं-कहीं एक ही उपसर्ग अनेक तिङन्त पदों से अर्थतः अन्वित मिलता है। वै० प० को० में **शृणोताऽऽययौ** पाठसंशोधन सुझाया गया है। **ओ** प्रगृह्य के साथ पपा० में **इति** जोड़ा गया है (वै० व्या० ८८ क)। **आ सु शृणोत**=√श्रु+लोट् म० पु० व० (पा० तप् प्रत्यय); अङ्ग के उ को गुण (वै० व्या० २४१-४२) (आ) **ययौ**=√या+लिट् उ० पु० ए०। पाद के आदि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख)। ग्रा०, गै०; अवैरी, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् **ययौ** को प्र० पु० ए० का रूप मानते हैं, जबकि वें०, सा० तथा वै० प० को० के अनुसार यह उ० पु० ए० का रूप है और प्रसंगानुसार यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि व्याकरण के अनुसार लिट् के प्र० पु० ए० और उ० पु० ए० के रूप समान बनते हैं (वै० व्या० २५६)। **नि सु नमध्वम्**= √नम्+लोट् आ० म० पु० ब०; अतिङन्त पद से परे आने के कारण सर्वानुदात्त। **भवत**=ति० **नमध्वम्** से परे आने के कारण सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ग)। **अधोअक्षाः स्रोत्याभिः**=वें० "स्रोतोभिः अक्षस्याधोभूता भवतेति"; सा० "**स्रोत्याभिः** स्रवणशीलाभिरद्भिः **अधोअक्षाः** रथाङ्गस्याक्षस्याधस्ताद्भवत। यदापोऽक्षस्याधस्ताद्भवन्ति तदा रथादीनि नेतुं शक्यन्ते। तस्मात् तत्परिमाणोदकाः भवतेति अर्थाभिप्रायः।" ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी वें०, सा० आदि के समान इन पदों का व्याख्यान "अपनी धाराओं सहित रथ के धुरे के नीचे रहो" करते हैं। **अधोअक्षाः** में तस० मान कर अन्तिम अक्षर पर उदात्त का समाधान किया जा सकता है (वै० व्या० ३९८ ग)।

छ०—ग्रा० प्रभृति के मतानुसार, चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिये **स्रोत्याभिः** का **स्रोतिआभिः** उच्चारण अपेक्षित है।

१०. आ ते कारो शृणवामा वचांसि	आ । ते । कारो इति । शृणवाम । वचांसि ।
ययाथ दूरादनसा रथेन ।	ययाथ । दूरात् । अनसा । रथेन ।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा	नि । ते । नंसै । पीप्यानाऽइव । योषा ।
मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥	मर्यायऽइव । कन्या । शश्वचै । ते इति ते ॥

अनु०— हे स्तुति करने वाले कवि (कारो)! हम तेरे वचनों को (वचांसि) सुनेंगी (आ शृणवाम)। तू बैलगाड़ी (अनसा) तथा रथ के साथ (रथेन) बहुत दूर से (दूरात्) आया है (आ ययाथ)। (दुग्धपूर्ण स्तनों से) फूली हुई (पीप्याना) स्त्री (योषा) की भांति मैं तेरे लिये (ते) नीचे झुक जाऊँगी (नि नंसै); मैं तेरे लिए (ते) उसी प्रकार झुकूंगी (शश्वचै) जैसे कन्या मनुष्य के लिये (मर्यायेव कन्या)।

टि०—इस ऋचा में नदियां विश्वामित्र के निवेदन को स्वीकार करती हैं। नदियां प्रथमपाद में बहुवचन और तृतीय तथा चतुर्थ में एकवचन का प्रयोग करती हैं। आ=ऋचा ६ के आ उपसर्ग की भांति यह भी शृणवाम तथा ययाथ इस दोनों ति० पदों से अर्थतः अन्वित किया जाता है। आ शृणवाम=√श्रु+लेट् उ० प० ब० (वै० व्या० २४२)। भविष्यत्काल में लेट् का प्रयोग है (वै० व्या० ३२५. १)। आ ययाथ=√या+लिट् म० पु० ए० (वै० व्या० २५६)। पाद के आदि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है। नि नंसै=यास्क (२, २७) "निनमाम ते"; सा० "नीचैर्नमाम। प्रत्येकविवक्षया अत्रैकवचनम्।......'णमु प्रह्वत्वे' इत्यस्य लेट्युत्तमे 'लेटि सिब्बहुलमिति' सिप्। 'वैतोऽन्यत्र' इत्यैकारादेशः। निघातः"। आधुनिक विद्वान् इसे अनिट्-सिज्-लुङ् के अङ्ग से बना लेट् उ० पु० ए० का रूप मानते हैं (वै० व्या० २७१ ख)। भविष्यत्काल के अर्थ में लेट् का प्रयोग है। पीप्यानाऽइव योषा=यास्क "पाययमानेव योषा पुत्रम्"; सा० "पीप्याना पुत्रं स्तनं पाययन्ती योषा माता यथा प्रह्वीभवति।......पीप्यानेव। 'पीङ् पाने' इत्यस्य अन्तर्भावितण्यर्थस्य लिटि कानचि रूपम्। चित्स्वरः"। रोट, ग्रा०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् पीप्याना को √पि या √पी (पा० √प्याय्) "फूलना" का कानजन्त रूप मानते हैं (वै० व्या० ३३२ ग)। रोट ने पीप्याना का व्याख्यान "फूले हुए स्तनों से युक्त" (युवति) किया है, जब कि गै०, रेनू प्रभृति ने "दूध से फूली हुई" (स्त्री) व्याख्यान किया है। वैदिक प्रयोग से

स्पष्ट है कि **पीप्याना** √प्याय् "फूलना" से बना हुआ कानजन्त रूप है और इस का शाब्दिक अर्थ "फूली हुई" है; तु०—ऋ० ३, १, १०, **पूर्वीरेको अधयत् पीप्यानाः** (सा०— "पीप्याना प्यायमाना वृद्धिं प्राप्ता ओषधीः); १०, १०२, ११ **पीप्याना** (सा० "वर्धमाना")। यह विशेषण यहां पर **नदी** तथा **योषा** दोनों के लिये अभिप्रेत है; तु०—ऋचा २ में **पिन्वमाने**। अनेक आधुनिक विद्वानों का मत है कि एकवचन के प्रयोग द्वारा एक नदी (सतलुज) तृतीय पाद में और दूसरी नदी (व्यास) चतुर्थ पाद में ऋषि के लिये नीचे झुकने की प्रतिज्ञा करती है। **योषा** के सम्बन्ध में **पीप्याना** का भावार्थ सम्भवतः "दुग्धपूर्ण स्तनों से फूली हुई" है, जैसा कि गै० प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वान् मानते हैं। **मर्यायऽइव कन्या शश्वचै ते**=यास्क "मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय"; सा० "दृष्टान्तान्तरम्। यथा कन्या युवतिर्मर्यायेव मनुष्याय पित्रे भ्रात्रे वा **शश्वचै** परिष्वजनाय भवति तद्वत् **ते** त्वदर्थं प्रह्वीभवामः। **ते** इति पुनरुक्तिरादरार्था।··· ···**शश्वचै**। 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' इत्यस्मात् संपदादिलक्षणे भावे क्विप्। पृषोदरादित्वादिष्ट-रूपसिद्धिरन्तोदात्तश्च"। भाष्यकारों के मत के विपरीत, रोट, ग्रा०, गै०, मै०, ह्विटने प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वान् **शश्वचै** को √श्वच् या √श्वञ्च् से बना ति० मानते हैं। परन्तु √श्वच् या √श्वञ्च् के अर्थ और **शश्वचै** की रूप-रचना के विषय में इन में अनेक मतभेद हैं। ग्रा० तथा ओ० √श्वच् या √श्वञ्च् का अर्थ "झुकना" करते हैं, ह्विटने तथा मै० इस धातु का अर्थ "फैलाना" करते हैं, मो० इस का अर्थ "to become open, open, receive with open arms" करता है; और धापा० में √श्वच् √श्वञ्च् का अर्थ "जाना" दिया गया है। मै० तथा रैनू प्रभृति विद्वान् **शश्वचै** को लिट् के अङ्ग से बना लेट् उ० पु० ए० का रूप मानते हैं, जबकि ग्रा० तथा ह्विटने इसे लुङ् के अङ्ग से बना लेट् का रूप समझते हैं (विस्तृत विवेचन के लिये दे०—वै० व्या० २५९ ग)। अतिङन्त पद से परे आने पर भी यह ति० सोदात्त क्यों है? इस सम्बन्ध में अनेक समाधान हैं जिन में से अधिक प्रचलित यह है कि एक नया वाक्य प्रारम्भ करने के कारण सोदात्त है (दे०—गै० के जर्मन अनुवाद पर टि०)। **शश्वचै** के सभी वर्तमान व्याख्यान अंशतः असंतोषजनक हैं और अभी तक पूर्णतया असन्दिग्ध व्याख्यान नहीं हो सका है। फिर भी प्रसंग को ध्यान में रखते हुए ग्रा० आदि द्वारा सुझाया गया "झुकना" अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

छ०—ग्रा० प्रभृति के मतानुसार, अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये तृतीय पाद में **पीप्याना** का **पीपिआना** और चतुर्थ पाद में **कन्या** का **कनिआ** उच्चारण अपेक्षित है (वै० व्या० ४२०)।

११. यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुर्   यत् । अङ्ग । त्वा । भरताः । सम्ऽतरेयुः ।
गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः ।   गव्यन् । ग्रामः । इषितः । इन्द्रऽजूतः ।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त   अर्षात् । अह । प्रऽसवः । सर्गऽतक्तः ।
आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम् ॥   आ । वः । वृणे । सुऽमतिम् । यज्ञियानाम् ॥

अनु०— ज्यों ही (**यद् अङ्ग**) भरतवंश के लोग (**भरताः**) तुझे (**त्वा**) एक-साथ पार कर लें (**संतरेयुः**)—अर्थात् इन्द्र द्वारा प्रेरित (**इषितः**) तथा त्वरित किया हुआ (**इन्द्रजूतः**), गायों की इच्छा करने वाला (**गव्यन्**), भरतवंशजों का संघ (**ग्रामः**) तुझे पार कर ले, तब सहसा मुक्त की गई जलधारा द्वारा वेगपूर्वक प्रेषित (**सर्गतक्तः**) तेरा प्रवाह (**प्रसवः**) वेगपूर्वक बहने लगे (**अर्षात्**)। मैं तुम्हारी (**वः**), पूजनीय (**यज्ञियानाम्**) नदियों की, कल्याणमयी मति (**सुमतिम्**) की याचना करता हूँ (**आ वृणे**)।

टि०—इस ऋचा में ऋषि विश्वामित्र नदियों से कहता है। **त्वा**=सा० "परस्परमेकतामापन्नां नदीं त्वाम्"। प्रत्येक नदी को सम्बोधित करते हुए एकवचन का प्रयोग किया गया है। **यद् अङ्ग**=सा० "अङ्गेत्यामन्त्रणे" के द्वारा **अङ्ग** को सम्बोधनवाचक निपात मानता है, परन्तु वास्तव में **अङ्ग** पूर्ववर्ती पद के अर्थ पर बल देता है और इस का अर्थ लगभग **एव** के समान है। यहां पर **यद् अङ्ग** का अर्थ है "ज्यों ही"; दे०—ऋ० १, १, ६ पर टि०। **गव्यन्**=वें० "गा इच्छन्"; सा० "गा उदकानि तरीतुमिच्छन्"। नामधातु गो+य+शतृ (वै० व्या० ३०८ घ० ४) से बने प्रथ० ए० पुं० रूप का शाब्दिक व्याख्यान "गायों की इच्छा करता हुआ" है, जैसा कि वें० तथा आधुनिक विद्वान् मानते हैं। **ग्रामः**=वें० "भरतानां संघातः"; सा० "भरतानां संघः"। स्पष्ट है कि **भरताः** तथा **ग्रामः** दोनों पद विश्वामित्र के अनुयायी भरतवंशजों को अभिव्यक्त करते हैं और ये दोनों **संतरेयुः** क्रियापद से अन्वित हैं। वास्तव में द्वितीय पाद प्रथमपाद के **भरताः** का विवरण है। **इषितः इन्द्रजूतः**=ऋचा २ के **इन्द्रेषिते** प्रयोग की भांति यहां पर **इषितः**=**इन्द्रेषितः**; तु०—ऋ० ३, ३३, ४. ६। परवर्ती **इन्द्रजूतः** समास का **इन्द्र** यहां पर अर्थतः आकृष्ट है। सा० ने **इषितः** का जो "त्वयाभ्यनुज्ञातः" व्याख्यान किया है उस के लिये कोई आधार प्रतीत नहीं होता है।

इन्द्रजूतः का उत्तरपद जूतः √जू "शीघ्र गति से जाना" (तु०—ऋचा १ में जवेते)+क्त से बना है और यहां पर √जू का प्रयोग णिजन्त अर्थ में हुआ है। अत एव इन्द्रजूतः का अर्थ है "इन्द्र द्वारा त्वरित किया गया"। क्तान्त उत्तरपद के कारण इस तस० के पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९८ ग० २)। अर्षात् अह=वें० "अनन्तरमेव गच्छतु यथापूर्वम्"। सा० अर्षात् को ग्रामः से अन्वित करते हुए व्याख्यान करता है—"ग्रामः भरतानां संघः अर्षात् संतरेत्। ... अर्षात्। 'ऋ गतौ' इत्यस्य लेटि तिपि 'सिब्बहुलमं' इति सिप्। लेट आडागमः। 'एकाचः' इतीट्प्रतिषेधः। गुणः। प्रत्ययस्य पित्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः"। वें० की भांति लगभग सभी आधुनिक विद्वान् अर्षात् को प्रसवः से अन्वित करते हैं और यही मत समीचीन है। ग्रा०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् अर्षात् को √ऋष् "वेग से बहना" का लेट् प्र० पु० ए० मानते हैं और वैदिक प्रयोग से इसी मत का समर्थन होता है। प्रसवः सर्गतक्तः=दे० ऋचा ४ पर टि०। आ वृणे=√वृ "चुनना"+लट् उ० पु० ए०। आ+√वृ का अर्थ "मांगना" है; तु०—ऋ० १, १७, १।

१२. अतारिषुर्भरता गव्यवः सम्	अतारिषुः। भरताः। गव्यवः। सम्।
अभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।	अभक्त। विप्रः। सुऽमतिम्। नदीनाम्।
प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा	प्र। पिन्वध्वम्। इषयन्तीः। सुऽराधाः।
आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्॥	आ। वक्षणाः। पृणध्वम्। यात। शीभम्॥

अनु०—गायों के इच्छुक (गव्यवः) भरतवंश के लोगों ने (भरताः) (नदियों को) एक-साथ पार कर लिया है (सम् अतारिषुः)। अन्तःप्रेरणायुक्त कवि नदियों की (नदीनाम्) कल्याणमयी मति का भागी हुआ है (सुमतिम् अभक्त)। प्रेरणा प्रदान करती हुई (इषयन्तीः) तथा शोभनदानयुक्त (सुराधाः) (हे नदियो!) तुम फूल जाओ (प्र पिन्वध्वम्) अर्थात् ऊपर तक जल से भर जाओ। तुम अपने आन्तरिक भागों को (वक्षणाः) अर्थात् अपने प्रवाह-स्थानों को पूर्णतया भर लो (आ पृणध्वम्) और शीघ्रगति से (शीभम्) आगे बढ़ो (यात)।

टि०—नदियों को पार करने के पश्चात् ऋषि विश्वामित्र इस ऋचा में नदियों का धन्यवाद करते हुए कहता है। सम् अतारिषुः=√तॄ "पार करना"+सेट्—सिज्लुङ् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २७९)। पादादि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख)। पादान्त में आने वाला उपसर्ग सम् इस ति० से अन्वित है। गव्यवः=नामधातु गो+य+उ (वै० व्या० ३६२ छ) से बने गव्यु "गायों का इच्छुक" का प्रथ० ब०। अभक्त=√भज्+अनिट्—सिज्लुङ् प्र० पु० ए० आ० (वै० व्या० २७६); पादादि में आने के कारण सोदात्त है। विप्रः=दे० ऋचा ४ पर टि०। प्र पिन्वध्वम्=√पिन्व् "फूलना" का लोट् म० पु० ब० आ०। तु०—ऋचा २ में पिन्वमाने तथा ३ में पिन्वमाना। इषयन्तीः=वें० "मनुष्याणामन्नमुत्पादयितुमिच्छन्त्यः"; सा० "कुल्यादिद्वारा अन्नं कुर्वाणाः"। यहां पर तथा अन्य अनेक स्थलों पर वें० तथा सा० शत्रन्त रूप इषयत् की व्युत्पत्ति अन्नवाचक इष् (दे०—ऋ० ३, ५९, ९ पर टि०) नामधातु से मानते हैं। परन्तु कहीं-कहीं ये भाष्यकार भी इसे √इष् "प्रेरित करना" का णिजन्त मान कर व्याख्यान करते हैं; तु०—ऋ० ६, १८, ५ इषयन्तम् (सा० "आयुधानि प्रेरयन्तम्"); ८, ५, ५ इषयन्ता शुभस्पती (सा० "यद्वा एषयन्तौ श्रेयांसि प्रापयन्तौ"); ७, ८७, ३ य इषयन्त मन्म (सा० "ये जनाः स्तोत्राणि गमयन्ति वरुणं प्रापयन्ति" तु०— ऋ० १, ७७, ४ पर स्क०)। अत एव यहां पर इषयन्तीः को भी √इष् "प्रेरित करना, भेजना" के णिजन्त का शत्रन्त स्त्री० प्रथ० ब० मानना समीचीन है, जैसा कि ग्रा०, मै० प्रभृति विद्वान् मानते हैं। सुराधाः=वें० "शोभनधनाः"; सा० "शोभनधनोपेताः"। ऋ० में राधस् शब्द "दान" के अर्थ में प्रयुक्त होता है (दे०—ऋ० २, १२, १४ पर टि०) और यह उस से बने बस० सुराधस् का प्रथ० ब० का रूप है जिसे ग्रा०, मै० प्रभृति विद्वान् सुराधसः का संक्षिप्त रूप मानते हैं (वै० व्या० १२२ क)। अत एव इस का अर्थ है "शोभन दान देने वाली" अर्थात् "दानशील" जैसा कि आधुनिक विद्वान् मानते हैं। वक्षणाः=दे०—ऋ० १, ३२, १ पर टि०। पृणध्वम्=√पृण् "भरना"+लोट् म० पु० ब० आ०; तु०—१, १६२, ५। परवर्ती तिङन्त पद यात के कर्ता के साथ सम्बद्ध होने के कारण पृणध्वम् भी सोदात्त है (पा० ८, १, ६३)। यात=√या+लोट् म० पु० ब०; ति० से परे होने के कारण सोदात्त है।

१३. उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वा-	उत्। वः। ऊर्मिः। शम्याः। हन्तु।
पो योक्त्राणि मुञ्चत।	आपः। योक्त्राणि। मुञ्चत।
मादुष्कृतौ व्येनसा-	मा। अदुःऽकृतौ। विऽएनसा।
घ्न्यौ शूनमारताम् ॥	अघ्न्यौ। शूनम्। आ। अरताम् ॥

अनु०— हे नदियो (आपः)! तुम्हारी (वः) तरंग (ऊर्मिः) रथ तथा शकट के जुए की कीलों को (शम्याः) ऊपर की ओर धकेल दे (उद् हन्तु)। तुम बैलों की रस्सियों को (योक्त्राणि) मुक्त कर दो (मुञ्चत)। निरपराध (अदुष्कृतौ), निष्पाप (व्येनसा) तथा अवध्य बैल (अघ्न्यौ) दुःख को (शूनम्) प्राप्त न हों (मा आ अरताम्)।

टि०—इस ऋचा के प्रयोजन तथा अभिप्राय के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। ऋग्विधान २, २, ३-४ के अनुसार, जो पुरुष जुते हुए रथ सहित शीघ्रता से नदी के दूसरे तट पर पहुंचना चाहता है उसे इस ऋचा का जप करना चाहिए। इसी प्रकार शांखायनगृह्यसूत्र १, १५, १९-२० विधान करता है कि नवोढा वधू पितृगृह से ससुराल जाते समय जब जुते हुए रथ सहित नदी को पार करे तब अगाध जल में इस ऋचा का जप किया जाना चाहिए। अ० १४, २, १६ में भी कुछ पाठ-भेद के साथ यह ऋचा मिलती है। कौशिकसूत्र ७७, १५ के अनुसार, वधू के ससुराल पहुंचने पर जब रथ का जलाभिषेक किया जाता है और बैलों को रथ के जुए से पृथक् किया जाता है उस समय इस ऋचा का जप किया जाता है। ऋग्विधान की विधि से संकेत लेकर गै० ने यह मत अभिव्यक्त किया है कि इस ऋचा में नदी में फंसे हुए रथ के पार करने के निमित्त प्रार्थना है और इसी प्रकार की स्थिति के हेतु सूक्त के अन्त में इस मन्त्र को जोड़ दिया गया होगा। सायणभाष्य के एक पाठ-भेद के अनुसार, विश्वामित्र ऋषि नदियों को पार करने के पश्चात् इस ऋचा का उच्चारण करता है। इसी प्रकार की कल्पना करते हुए ओ० मानता है कि जब विश्वामित्र ने नदियों को पार कर लिया तब नदियां पुनः पूर्ण जल के साथ बहने लगीं और विश्वामित्र के पीछे आने वाले शत्रु का नदियों को पार करने का प्रयास विफल रहा तथा उस का रथ डूब गया, परन्तु ऋषि की इस ऋचा के जप से उस के निर्दोष बैल बच गये। प्रसंग तथा शब्दार्थ पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस ऋचा में रथ तथा शकट के नदी पार करने के लिये प्रार्थना की गई है, और वेदाङ्गपरम्परा से भी इसी मत की पुष्टि होती है। ऋचा ९-१० में जिस रथ तथा शकट का उल्लेख है उन के नदी पार करने के लिये यह प्रार्थना प्रतीत होती है। शम्याः=वें० "शकटेषु युक्तानां गवां याः शम्यास्ताः"; सा० "युग्यकण्ठ-पार्श्वादिसंलग्ना रज्जवः"। सा० का यह व्याख्यान निश्चय ही निराधार है क्योंकि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में शम्या शब्द "जुए की कील" (अमरकोष "युगकीलकः")

का वाचक है; तु०—ऋ० १, ३५, ४ के **हिरण्यशम्यम्** पर टि० और इस पर सा० "अश्वानां स्कन्धेषु रथयोजनवेलायां नियन्तुं प्रक्षेप्यमाणाः शङ्कवः शम्याः"; शां० गृ० सू० १, १५, ६ **"शम्यागर्तेषु"**। उद् हन्तु=वें० "शम्यानां मूलमाहन्तु न तत ऊर्ध्वं गच्छतु"; सा० "रज्जवः उत् ऊर्ध्वं यथा भवन्ति तथा हन्तु गच्छतु। स तरङ्गो रज्जूनामधो गच्छतु इत्यभिप्रायः।" ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इन पदों का अर्थ करते हैं—"ऊपर की ओर धकेल दे"। इन का शाब्दिक अर्थ यही है और **भावार्थ** यह है कि नदी की तरंग जुए की कील को नीचे न जाने दे अर्थात् जुए को जल में न डूबने दो, अपितु उसे जल से ऊपर उठा दे। **आपः**=पादादि में आने के कारण सं० के आदि अक्षर पर उदात्त है (वें० व्या० ४१२)। **योक्त्राणि मुञ्चत**=वें० "यूयं गवां योक्त्राणि च विसृजत"; सा० "हे आपः यूयं **योक्त्राणि** ता रज्जूः **मुञ्चत**। यथा न स्पृशन्ति तथा यान्तु इत्यभिप्रायः"। ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी **योक्त्राणि** का "रस्सियां" अर्थ करते हुए शाब्दिक अनुवाद "रस्सियां मुक्त कर दो" करते हैं। वास्तव में **योक्त्र** वह "रस्सी" (नासिका-रज्जु या नाथा) है जिस के द्वारा बैलों को नियन्त्रित किया जाता है। यहां पर ऋषि का अभिप्राय यह है—"हे नदियो! तुम उन रस्सियों को पूरी तरह खुला छोड़ दो जिन से बैल नियन्त्रित किये जाते हैं, ताकि वे अपनी पूर्ण शक्ति से तैर सकें"। **अदुष्कृतौ, व्येनसा, अघ्न्यौ**=वें० तथा सा० के मतानुसार, ये तीनों पद व्यास तथा सतलुज नदियों के वि० हैं। परन्तु आधुनिक विद्वान् इन्हें रथ या शकट में जुते हुए बैलों के वि० मानते हैं और प्रसंग तथा वैदिक प्रयोगों से इसी मत की पुष्टि होती है। वेदों में गाय के लिये बार-बार **अघ्न्या** वि० का प्रयोग मिलता है। अ० में **व्येनसा** के स्थान पर **व्येनसौ** पाठ मिलता है। दोनों पाठों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। **शूनम् मा आ अरताम्**=वें० "वृद्धि मा आगच्छताम्"; सा० "शूनं समृद्धिं **मा आरताम्** आगच्छताम्। ··· शूनम्। श्वयतेः 'नपुंसके भावे क्तः' इति क्तः। यजादित्वात्संप्रसारणम्। 'हलः' इति दीर्घत्वम्। 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम्। 'निष्ठा च द्व्यजनात्' इत्याद्युदात्तः। **अरताम्**। 'ऋ गतौ' इत्यस्य लुङि च्लेः 'सर्ति'—इत्यङादेशः। 'ऋदृशोऽङि गुणः'। 'न माङ्योगे' इत्यडभावः। निघातः"। ग्रा०, गै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् **शूनम्** का अर्थ "शून्य, अभाव" करते हैं और वैदिक प्रयोग से इस मत की पुष्टि होती है; तु०—ऋ० १, १०५, ३; २, २७, १७; २८, ११; ७, १, ११; ८, ४५, ३६; १०, ३७, ६। कहीं-कहीं सा० ने भी लगभग इसी प्रकार का अर्थ किया है; दे०—ऋ० १, १०५, ३ **शंभुवः शूने** (सा० "सुखस्य भावयितुः पुत्रस्य अपगमने"); २, २७, १७ **शूनमापेः** (सा० "**आपेः** ज्ञातेः **शूनं** शून्यं दारिद्र्यम्। वर्णलोपश्छान्दसः यद्वा शूनं गतं प्राप्तं

दारिद्र्यम्"); ७, १, ११ शूने (सा० "शून्ये पुत्रादिरहिते गृहे"); १०, ३७, ६ शूने (सा० "प्रवृद्धाय दुःखाय")। ऋ० १, १०५, ३ के भाष्य में स्क० इस का अर्थ "दुःखं पापं वा। दुःखपापशब्दयोर्वान्यतरपर्यायः शूनशब्दः। द्वितीयार्थे चैषा सप्तमी" करता है। यद्यपि इस शून का शब्दार्थ "शून्य, अभाव" हो सकता है, तथापि यहां पर तथा अन्य अनेक वैदिक प्रयोगों में इस का भावार्थ "दुःख, संकट" है; तु०–अंहस् पर टि०। अरताम्=√ऋ "जाना" के अङ्-लुङ् से विमू० प्र० पु० द्वि० (वै० व्या० २६६)।

छ०— छन्द में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा (पपा० के समान) प्रथम पाद के अन्त में हन्तु, द्वितीय पाद के आदि में आपो, तृतीय पाद में व्येनसा के स्थान पर विएनसा, और चतुर्थ पाद के आदि में अघ्न्यौ के स्थान पर अघ्नियौ उच्चारण अपेक्षित है (वै० व्या० ४२०)।

ऋ० ४, ५० (बृहस्पतिः)

ऋषिः— वामदेवः। देवता— १–९ बृहस्पतिः, १०–११ इन्द्राबृहस्पती।
छन्दः— १-९. ११ त्रिष्टुप्, १० जगती।

१. **यस्त॒स्तम्भ॒ सह॑सा॒ वि ज्मो अन्ता॑न्**	**यः। त॒स्तम्भ॑। सह॑सा। वि। ज्मः। अन्ता॑न्।**
बृ॒ह॒स्पति॑स्त्रिषध॒स्थो रवे॑ण।	**बृ॒ह॒स्पतिः॑। त्रि॒ऽस॒ध॒स्थः। रवे॑ण।**
तं प्र॒त्नास॒ ऋष॑यो॒ दीध्या॑नाः	**तम्। प्र॒त्नासः॑। ऋष॑यः। दीध्या॑नाः।**
पु॒रो विप्रा॑ दधिरे म॒न्द्रजि॑ह्वम्॥	**पु॒रः। विप्राः॑। द॒धि॒रे॒। म॒न्द्रऽजि॑ह्वम्॥**

अनु०— तीन निवास-स्थानों वाले (**त्रिषधस्थः**) जिस बृहस्पति ने अपनी शक्ति (**सहसा**) तथा गर्जना के द्वारा (**रवेण**) पृथिवी के (**ज्मः**) अन्तों को, अर्थात् दिशाओं को, पृथक्-पृथक् स्थिर कर दिया है (**वि तस्तम्भ**)। ध्यान करते हुए (**दीध्यानाः**), अर्थात् ध्यानमग्न, प्राचीन (**प्रत्नासः**) ऋषियों तथा मनीषियों ने (**विप्राः**) हर्षप्रद वाणी वाले देव को (**मन्द्रजिह्वम्**) अपने सम्मुख (प्रतिष्ठा-पद पर) स्थापित किया (**पुरो दधिरे**)।

टि०—वि तस्तम्भ=√स्तम्भ्+लिट् प्र० पु० ए०; तु०—ऋ० ७, ८६, १ पर टि०। वि उपसर्ग धातु से परे आया है (वै० व्या० ३७५)। **ज्मः**=ज्मा का ष० ए० (वै० व्या० १३९ ख)। सा० ने **ज्मः अन्तान्** का व्याख्यान "पृथिव्याः अन्तान्। दश दिश इत्यर्थः" किया है जो समीचीन प्रतीत होता है। **बृहस्पतिः**=इस समास के दोनों पदों पर उदात्त है (वै० व्या० ३९८ ग० ६); परन्तु पपा० में अवग्रह नहीं किया गया है। **त्रिषधस्थः**=इस का व्याख्यान वें० "त्रिस्थानः", सा० "त्रिषु स्थानेषु वर्तमानः" और स्क० (नि०) "त्रिषु स्थानेषु सह स्थाता" करता है। ऋ० में **सधस्थ** शब्द

"सहस्थान, निवास-स्थान" अर्थ में आता है; तु०—ऋ० १, ११५, ४; १५४, १ पर टि०। यहां पर सधस्थ शब्द "निवास-स्थान" के अर्थ में आया है और इस वस० का अर्थ है "तीन निवास-स्थानों वाला"। वस० के पूर्वपद में त्रि आने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वैं० व्या० ३९९ क० २)। मैं० के मतानुसार, त्रिषधस्थ: तीन श्रौत अग्नियों का निर्देश करता है और यह शब्द प्रधानतया अग्नि के लिये प्रयुक्त होता है; तु०—ऋ० ५, ११, २। परन्तु यहां पर त्रिषधस्थ स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी इन तीन निवास-स्थानों का निर्देश करता है, जैसा कि ग्रि० तथा गै० और ऋ० १, १५६, ५ के वैकल्पिक भाष्य में सा० मानता है। **रवेण**=इस का व्याख्यान वें० ने "गर्जितरवेण सहित:", सा० ने "एवं तिष्ठतेत्यनेन शब्देन", और स्क० (नि०) ने "शब्देन द्युवियदवनीनां गर्जितध्वनिना पूरयितेत्यर्थ:। रवेणाज्ञापरेण शब्देन दीध्याना: सामर्थ्यातिशयसमन्वितोऽयमिति योज्यम्" करता है। मै० के मतानुसार, यह शब्द उच्चरित किये जाने वाले मन्त्रों की ध्वनि का निर्देश करता है और वल से गायों की मुक्ति के प्रसंग में प्रयुक्त होता है; दे०—ऋचा ४ तथा ५। मै० रवेण को त्रिषधस्थ: से अन्वित कर अनुवाद करता है, जबकि स्क० (नि०) तथा सा० द्वितीय अर्धर्च के वाक्य (तं प्रत्नास:°···) से अन्वित करके व्याख्यान करते हैं। वें० तथा गै० रवेण को बृहस्पति: से अन्वित करते हुए अर्थ करते हैं और यही मत समीचीन है। यहां पर रव-शब्द स्तुतिपरक नहीं है जैसा कि मै० मानता है, अपितु बृहस्पति की "गर्जना" को अभिव्यक्त करता है। ऋ० में अनेक बार वर्षा करने वाले (वृषभ) देवों के सम्बन्ध में रव शब्द का प्रयोग किया गया है; तु०—ऋ० १, ९४, १०; ७, ७९, ४। **दीध्याना:**=इस का व्याख्यान वें० तथा सा० "दीप्यमाना:" और स्क० (नि०) "अत्यर्थं ध्यायन्त:। किम् ? सामर्थ्याद् 'वर्षेदिति'" करता है। लगभग सभी आधुनिक विद्वान् दीध्याना: का अर्थ "ध्यान करते हुए" करते हैं और इसे √धी का शानजन्त रूप मानते हैं। वैदिक प्रयोग के द्वारा प्रमाणित होने के कारण यही मत समीचीन है (वै० व्या० २४०, ५)। **पुरो दधिरे**=पुरस्+√धा+लिट् आ० प्र० पु० ब०। ऋ० में पुरस्+√धा का अर्थ प्रायेण "आदरपूर्वक सम्मुख (प्रतिष्ठापद पर) स्थापित करना या नियुक्त करना" है; तु०—ऋ० १, १, १ के पुरोहितम् पर टि०। अतएव यहां पर सा० ने "पुरस्तात् स्थापितवन्त: स्तुत्यादिना" और गै० तथा मै० ने "placed at their head" अर्थ किया है।

छ०—ग्रा० तथा मै० आदि विद्वान् अक्षरपूर्ति के हेतु दीध्याना: के लिये दीधिआना: उच्चारण सुझाते हैं।

२. धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो | धुनऽइतयः । सुऽप्रकेतम् । मदन्तः ।
बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे । | बृहस्पते । अभि । ये । नः । ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं | पृषन्तम् । सृप्रम् । अदब्धम् । ऊर्वम् ।
बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ | बृहस्पते । रक्षतात् । अस्य । योनिम् ॥

अनु०— हे बृहस्पति देव ! भली भाँति स्पष्ट रूप से (**सुप्रकेतम्**) आनन्दित होते हुए (**मदन्तः**), सब कुछ हिलाते हुए गमन करने वाले (**धुनेतयः**) जिन (मरुतों ने) हमारे लिये (**नः**) बूंदें गिराते हुए (**पृषन्तम्**), फैलते हुए (**सृप्रम्**), अहिंसित (**अदब्धम्**) तथा विशाल मेघ को (**ऊर्वम्**) पूर्णतया हिला दिया है (**अभि ततस्रे**), हे बृहस्पति देव ! (उन मरुतों से ?) इस (मेघ) के आश्रय-स्थान (**योनिम्**) की रक्षा करो (**रक्षतात्**) ।

टि०—**धुनेतयः**=पपा० धुनऽइतयः=इस का व्याख्यान वें० "धूननपरगमनाः" और सा० "धुना शत्रूणां कम्पयित्री इतिर्गतिर्येषां ते" करता है। √ध्वन् से धुन (तु० धुनि) की व्युत्पत्ति मानते हुए, ग्रा०, (कोष) ने इस का अर्थ "गर्जनयुक्त गति-वाले" किया है और इस के मतानुसार "सोमाः" अभिप्रेत है। गै० तथा मै० का अनुवाद ग्रा० के व्याख्यान का अनुसरण करता है। ग्रि० इस का अनुवाद "wild in their course" करता है। वै० प० को० में इस शब्द का अर्थ "हिंसाकृत् (शत्रु)" सुझाया गया है। यहां पर वें० के मतानुसार "मेघाः" और सा० के मतानुसार "ऋत्विजः" अभिप्रेत है। मै० भी सा० के मत को स्वीकार करता है। ग्रि० के मतानुसार यहां पर "मरुतः" अभिप्रेत है। ऋ० में बृहस्पति देवता को अनेक बार वर्षाकर्म से सम्बद्ध बताया गया है और इस के साथ मरुतों के सम्बन्ध का भी उल्लेख मिलता है (तु०—ऋ० १, ४०, १)। अतएव यहां पर बस० के इस बहुवचनान्त वि० (**धुनेतयः**) से "मरुतः" अभिप्रेत हैं, क्योंकि वर्षाकर्म तथा बृहस्पति से सम्बद्ध होने के साथ-साथ इन का प्रयोग सदा ब० में होता है। **धुनेतयः** को "मरुतः" का वि० मानने पर, इस शब्द के पूर्वपद धुन की व्युत्पत्ति, वें० तथा सा० की भांति, √धू "हिलाना" से मानना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि ऋ० में अनेक बार मरुतों के सम्बन्ध में √धू के क्रियापदों का प्रयोग हुआ है (तु०—१, ३७, ६; ५, ५४, १२; ५७, ३)। अतएव यहां पर **धुनेतयः** का अर्थ है—"हिलाने के कर्म से युक्त है गमन जिन का वे" अर्थात् "जो सब

कुछ हिलाते हुए गमन करने वाले हैं वे मरुद्गरण"। **अभि ततस्रे**=इस का व्याख्यान वें० ने "अभिगच्छन्ति" और सा० ने "आत्मानमुपक्षिपन्ति स्तुवन्ति वा" किया है। और ऋ० १०, ८९, १५ के भाष्य में सा० ने इसी शब्द का अर्थ "निक्षिपन्ति" और वें० ने "अभि क्षिपन्ति" किया है। ग्रा०, मो०, मै०, आदि आधुनिक विद्वान् इसे √तंस् का लिट् अा० प्र० पु० ब० मानते हैं (वै० व्या० २५४, च)। ग्रा० (कोष) √तंस् का अर्थ "लूटना" मानता है और गै० भी लगभग इसी मत का अनुसरण करता है। परन्तु ह्विटने तथा मै० आदि विद्वान् √तंस् का सामान्य अर्थ "हिलाना" मानते हैं और यहां पर यही अर्थ प्रसंग के अनुकूल है। मै० ने **अभि** उपसर्ग के योग के कारण यहां पर इस का जो "attacked" अनुवाद किया है वह समीचीन नहीं है। प्रसंग को ध्यान में रखते हुए यहां पर **अभि ततस्रे** का अर्थ है "पूर्णतया हिला दिया है"। **सुप्रकेतम्**=वें० इस का अर्थ "शोभनप्रज्ञानम्" करता है और **नः** का "माम्" अर्थ करते हुए उस से अन्वित करता है। वाक्यार्थ में **त्वाम्** का अध्याहार करके सा० **सुप्रकेतम्** को उस का वि० मानते हुए "शोभनप्रज्ञं त्वाम्" व्याख्यान करता है। मै० इसे तृतीय पाद के अन्य पदों के समान "herd" का विशेषण मानते हुए इस का अनुवाद "conspicuous" और व्याख्यान "easy to recognize, i.e. by their lowing, cp. I, 62, 3." करता है। गै० इसे क्रियाविशेषरण मानते हुए इस का अर्थ "अच्छे पूर्वलक्षरण सहित" करता है। ग्रा० इसे वि० मानकर तीसरे पाद के पदों से अन्वित करते हुए इस का अर्थ "सुन्दर, चमकती हुई आकृति वाला" करता है। **सुप्रकेतम्** को वि० मान कर तीसरे पाद के अर्थ से अन्वित करने की अपेक्षा प्रथम पाद के समीपस्थ **मदन्तः** का **क्रिवि०** मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। उस अवस्था में **प्र**+√**कित्** तथा इस के कृदन्त **प्रकेत** के वैदिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए प्रसंगानुसार **सुप्रकेतम्** का अर्थ यहां पर "भली भांति स्पष्ट रूप से" हो सकता है। यहां पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० १, १७१, ६ में **सुप्रकेत** शब्द मरुतों के वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है। **पृषन्तम्, सृप्रम्, अदब्धम्, ऊर्वम्**=वें० इन पदों को "मेघ" के वि० मान कर क्रमशः व्याख्यान करता है—"अर्थैकवदाह। सिञ्चन्तम्। सर्पणशीलम्। अहिंसितम्। महान्तम्"। सा० इन्हें **योनिम्** ("यज्ञं यजमानं वा माम्") के वि० मानते हुए व्याख्यान करता है—"योनिर्विशेष्यते। पृषन्तं फलानि सिञ्चन्तं सृप्रं सर्पणस्वभावम् **अदब्धम्** अहिंसितम् **ऊर्वम्** उरुम्"। ग्रि० **ऊर्वम्** का अर्थ "stall" करते हुए इसे मरुतों का अन्तरिक्षस्थ स्थान मानता है। गै० का मत है कि **ऊर्व** शब्द मूलतः वह स्थान है जहां पर पणियों द्वारा चुराया गया गोसमूह रोका गया था और यह यहां पर लक्षणा द्वारा उस "अवरुद्ध गोसमूह" को अभिव्यक्त करता है। तदनुसार गै० ने इन पदों का अनुवाद—"चित्रवर्ण वाला (पृषन्तम्), विशाल (सृप्रम्), अहिंसित (अदब्धम्), अवरुद्ध गोसमूह (ऊर्वम्)" किया है। और मुख्यतया गै० का अनुसरण करते हुए मै० ने इन का अनुवाद इस प्रकार किया है—"variegated, extensive, uninjured herd." वें० की भांति ग्रा० (कोष) भी इन पदों को "मेघ" के वि० मानता है और कहता है कि जल को

धारण करने वाले मेघ को **ऊर्व** कहा गया है (तु०—ऋ० ३, १, १४)। इस व्याख्यान के अनुसार ग्रा० ने **पृषन्तम्** का अर्थ "बूंदें गिराता हुआ", **सृप्रम्** का अर्थ "फैलता हुआ", तथा अदब्धम् का अर्थ "अहिंसित" (मेघ) किया है। यहां पर ग्रा० का व्याख्यान सर्वश्रेष्ठ तथा वैदिक-प्रयोग के अनुकूल है; तु०—ऋ० १०, ९८, १। **अस्य योनिम्**=वें० ने इन पदों का व्याख्यान "**अस्य** मेघस्य। उदकनिःसरणमार्गम्" किया है, जब कि सा० "**अस्य** एषां **योनिं** कारणं यज्ञं यजमानं वा माम्" करता है। लुड्विग तथा ग्रि० **अस्य** के साथ **गणस्य** का अध्याहार करके इस का अर्थ "मरुद्गणस्य" करते हैं। गै० तथा मै० **अस्य** का प्रयोग गोसमूह (Herd) के लिये मानते हैं और **योनिम्** का अर्थ "निवासस्थान" करते हैं। तु०—मै० का अनुवाद "protect its dwelling". वें की भांति "मेघ" से सम्बद्ध करते हुए ग्रा० ने इन पदों का व्याख्यान "इस (मेघ) के आन्तरिक भाग को" किया है। ग्रा० का यह मत समीचीन है कि **अस्य** का प्रयोग पूर्ववर्ती **ऊर्व** के लिये किया गया है। वैदिक वाङ्मय में **योनि** शब्द प्रायेण "आश्रय-स्थान" के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतएव यहां पर भी इस का यही अर्थ उपयुक्त है। **बृहस्पते**= पादादि में होने के कारण इस सं० के आदि अक्षर पर उदात्त है। **रक्षतात्**=√रक्ष्+ लोट् म० पु० ए०। पाद के आदि में इस से पूर्व केवल सं० होने के कारण इस ति० पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ घ)।

छ०—तृतीय पाद में केवल दस अक्षर हैं। म० इसे द्विपदा अर्थर्व मानता है, जबकि भारतीय मत के अनुसार एक अक्षर की न्यूनता से छन्द वही रहता है (वै० व्या० ४२९ घ)।

३. **बृहस्पते या परमा परावद्** — बृहस्पते। या। परमा। पराऽवत्।
अत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः। — अतः। आ। ते। ऋतऽस्पृशः। नि। सेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा — तुभ्यम्। खाताः। अवताः। अद्रिऽदुग्धाः।
मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम्॥ — मध्वः। श्चोतन्ति। अभितः। विऽरप्शम्॥

अनु०— हे बृहस्पति देव! जो अत्यधिक (**परमा**) दूर स्थान (**परावत्**) है, वहाँ से आकर (**अतः आ**) शाश्वत नियम का निरन्तर पालन करने वाले (**ऋतस्पृशः**) देव गण तुम्हारे लिये बैठ गये हैं (**नि+सेदुः**)। पत्थरों के द्वारा दुहे गये (**अद्रिदुग्धाः**) तथा तुम्हारे लिये खोदे गये (**तुभ्यं खाताः**)

अर्थात् बनाये गये कूप के सदृश जलपूर्ण मेघ (अवताः) सब ओर से (अभितः) माधुर्य के (मध्वः) अत्यधिक बाहुल्य को (विरप्शम्) टपकाते हैं (श्चोतन्ति)।

टि०— परावत्=इस का व्याख्यान वें० "देशः" और सा० "अत्यन्तं दूरभूता वसतिः स्वर्गाख्यास्ति। यद्वा लिङ्गव्यत्ययः। परमं स्थानमस्ति" करता है। आधुनिक विद्वान् इसे "दूरस्थान" का वाचक मानते हैं और यही व्याख्यान वैदिक प्रयोग के अनुकूल है। दे०—ऋ० १, ३५, ३ पर टि०। ऋतस्पृशः=ऋतस्पृश् का प्रथ० ब०। इस का व्याख्यान वें० "यज्ञस्पृशोऽश्वाः" और सा० "यज्ञं स्पृशन्तोऽश्वाः" करते हैं। गै० इस का अनुवाद "cherishing the right custom", ग्रि० "who love the law eternal" और मै० "those that cherish the rite" करता है। ग्रा० ने इस का अर्थ "cherishing holy law" और मो० ने "connected with pious works or worship" किया है। इस पद का शाब्दिक अर्थ "शाश्वत नियम (ऋत) का स्पर्श करने वाले" और भावार्थ "शाश्वत नियम के साथ संयुक्त रहने वाले अर्थात् शाश्वत नियम का निरन्तर पालन करने वाले" है। यह शब्द ऋ० १, २, ८ में मित्रावरुणा का; ५, ६७, ४ में वरुण, मित्र तथा अर्यमा का; और ८, ७६, १२ में में वाक् का वि० है। मै० के अनुसार, यहां पर सम्भवतः "देवगण" या "प्राचीन ऋषि" अभिप्रेत हैं जबकि ग्रि० के मतानुसार, मरुतः अभिप्रेत हैं। वें० तथा सा० के मतानुसार, यहां पर बृहस्पति के "अश्व" अभिप्रेत हैं। वैदिक प्रयोग के अनुसार, यहां पर "शाश्वत नियम का निरन्तर पालन करने वाले" मित्र, वरुण आदि देवता अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। ऋ० १, ४०; ५ में इन्द्र, वरुण, मित्र, तथा अर्यमा का निवास ब्रह्मणस्पति के मन्त्र में बताया गया है। नि सेदुः=√सद्+लिट् प्र० पु० ब०। अद्रिदुग्धाः, अवताः=तृ० तस० होने के कारण अद्रिदुग्धाः के पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९८ ग० २)। अधिकतर प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों के मतानुसार, यहां पर अद्रि शब्द सोमवल्ली का रस निकालने वाले पत्थर (सिल-बट्टे) के लिये प्रयुक्त किया गया है। यह अवताः का वि० है, जिस का अर्थ वें०, सा०, ग्रा०, गै०, ग्रि० आदि विद्वान् "कूपाः" करते हैं, जब कि मै० इस का अनुवाद "springs" करता है। इन विद्वानों के मतानुसार, जिन पात्रों में सोमरस की धाराएं बह रही हैं उन्हें यहां पर रूपकालंकार द्वारा "अवताः" कहा गया है। परन्तु इस के सदृश शब्दावलि तथा विचार वाले मन्त्र (ऋ० २, २४, ४) में कहा गया है कि ब्रह्मणस्पति ने अपने बल से अश्मास्य तथा मधुधारा वाले अवत को चीर डाला। वें०, सा०, दु०, स्क० (नि०) इत्यादि भारतीय भाष्यकार इस मन्त्र के अवत शब्द का व्याख्यान "मेघ" करते हैं और यह व्याख्यान

समीचीन है; तु०— ऋ० १, ८५, १० पर टि०। यहां पर रूपकालंकार द्वारा अवताः का प्रयोग "जलपूर्ण मेघ" के अर्थ में किया गया है। अद्रिदुग्धाः का शाब्दिक अर्थ "पत्थरों के द्वारा दुहे गये" हैं। परन्तु रूपकालंकार द्वारा यहाँ पर इस का भावार्थ यह है कि जब बादलों की गड़गड़ाहट के बीच जल बरसता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो पत्थरों की पारस्परिक टक्कर के द्वारा इस का दोहन किया गया है। इसी प्रकार के अन्य मन्त्र (ऋ० ७, १०१, ४) में भी वर्षा का वर्णन है और उस का चतुर्थ पाद सर्वथा समान है। विरप्शम्=इस का व्याख्यान वें० ने "स्तुतिमन्तं त्वां प्रति" और सा० ने "विशेषेण शब्देन स्तोत्रं यथा भवति तथा" किया है। ष० ए० मध्वः से अन्वित करते हुए, रोट, ग्रा०, गै०, मो०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् विरप्शम् का अर्थ "अतिबाहुल्य" (super-abundance) करते हैं, जबकि ग्रि० "streams of sweetness" अनुवाद करता है। ऋ० ७, १०१, ४ के भाष्य में सा० ने तथा वें० ने इस का व्याख्यान "महान्तं पर्जन्यम्" किया है। इस का तद्धित रूप विरप्शिन् ऋ० में इन्द्र तथा मरुतों के वि० के रूप में प्रयुक्त होता है। निघ० ३, ३ में विरप्शी "महत्" के नामों में गिनाया गया है। वैदिक प्रयोग तथा प्रसंग के अनुसार, यहां पर विरप्श शब्द का "अतिबाहुल्य" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। मध्वः=इस का अर्थ वें० "सोमान्" और सा० "मधुररसम्" करता है। परन्तु यह मधु का ष० ए० (वै० व्या० १४०) है। तु०— ऋ० ७, १०१, ४ पर सा०। खाताः=√खन्+क्त, प्रथ० ब०।

छ०—अक्षर-पूर्ति के लिये चतुर्थ पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा श्चोतन्ति अभितो उच्चारण करना अपेक्षित है।

४. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो बृहस्पतिः। प्रथमम्। जायमानः।
महो ज्योतिषः परमे व्योमन्। महः। ज्योतिषः। परमे। विऽओमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण सप्तऽआस्यः। तुविऽजातः। रवेण।
वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि॥ वि। सप्तऽरश्मिः। अधमत्। तमांसि॥

अनु०— महान् (महः) प्रकाश के (ज्योतिषः) उच्चतम आकाश में (परमे व्योमन्) सबसे पूर्व (प्रथमम्) उत्पन्न होते हुए (जायमानः), सात मुखों वाले (सप्तास्यः), सात किरणों वाले (सप्तरश्मिः), तथा

महान् जन्म वाले (**तुविजातः**), बृहस्पति ने अन्धकारों को (**तमांसि**) गर्जना के द्वारा (**रवेण**) फूंक मार कर समाप्त कर दिया (**वि अधमत्**)।

टि०—**मह्रः ज्योतिषः**=ये पद क्रमशः मह्र और ज्योतिष् के पं० ए० या ष० ए० के रूप हैं। वें०, सा० तथा गै० इन्हें ष० ए० के रूप मानते हैं और **परमे व्योमन्** से अन्वित करते हैं जब कि ग्रि०, ग्रा० तथा मै० इन्हें पं० ए० के रूप मानते हैं। यद्यपि द्वितीय मत भी सम्भव है, तथापि प्रथम मत अधिक समीचीन तथा वैदिक प्रयोग के अनुकूल है। सा० तथा मै० के अनुसार यहां पर **मह्र ज्योतिष्** से सूर्य अभिप्रेत है। **व्योमन्**=स० ए० (वै० व्या० १३१)। **सप्तास्यः**="सात मुखों वाला", बस० है। सा० ने इस का व्याख्यान "सप्तच्छन्दोमयमुखः" किया है। ऋ० ४, ५१, ४ में **नवग्व दशग्व अंगिर** के साथ; १०, ४०, ८ में **व्रज** के साथ; और ६, १११, १ में **ऋक्वन्** के साथ इस वि० का प्रयोग किया गया है। गै० ने "सात अङ्गिरसों या स्तोताओं के मुखों के द्वारा" जो भावार्थ किया है वह भी यहां पर उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इस का वास्तविक अभिप्राय सन्दिग्ध है। **सप्तरश्मिः**=इस के व्याख्यान के लिये दे०—ऋ० २, १२, १२ पर टि०। **रवेण**=इस का व्याख्यान ऋचा १ में दे०। **तुविजातः**=इस का व्याख्यान सा० "बहुप्रकारं संभूतः" और वें० "बहुजननः" करता है। मै० ने इस का अनुवाद "high-born" किया है, जबकि गै० तथा मो० इस का अर्थ "of powerful nature" करते हैं। ग्रा० तथा ग्रि० ने इस का अर्थ "शक्तिशाली" किया है। ऋ० में यह शब्द इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, पूषा तथा मरुतों के वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है। निघ० ३, १ में **तुवि** "बहु" के नामों में गिनाया गया है। अतएव भारतीय भाष्यकार **तुवि** का "बहु" अर्थ मानते हुए व्याख्यान करते हैं। वें० ने **तुविजात** का व्याख्यान प्रायेण "बहुजनन" किया है। स्क० ने ऋ० १, २, ९ के **तुविजातौ** का अर्थ "बह्वर्थं जातौ", और म० ने वा० सं० ३४, ५४ के भाष्य में **तुविजातः** का अर्थ "बहुजातः" किया है। सा० ने **तुवि** का अर्थ "बहु" करते हुए प्रसंगानुसार विभिन्न व्याख्यान किये हैं; यथा—"बहुभावमापन्न" (१, १३१, ७) "बहुजन्मन्" (४, ११, २), "बह्वपत्यस्य" (५, २७, ३) "बह्वर्थमुत्पन्नः" (१, १९०, ८), "बहुयज्ञेषु प्रादुर्भूताः" (६, १८, ४), "बहुषु प्रदेशेषु प्रादुर्भूतः" (२, २७, १), "बहुरूपः" (१०, २६, ५), "बहूनि जातानि पृथिव्यादीनि यस्मात्सोऽयं तुविजातः" (३, ३२, ११); इत्यादि। यास्क भी **तुवि** का अर्थ "बहु" या "महत्" मान कर **तुविक्षम्** का अर्थ "बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा" करता है (नि० ६, ३३)। यद्यपि ग्रा० (कोष) ने **तुवि** के मौलिक अर्थ "शक्तिशाली, अत्यधिक, बहुत" गिनाये हैं, तथापि अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् √तु "बलवान् होना" से **तुवि** की व्युत्पत्ति मानते हुए इस का मुख्य अर्थ "बलवान्" करते हैं और उसी आधार पर इस के समासों का व्याख्यान करते हैं। ऋ० ३, ११, ६ के भाष्य में सा० √तु 'वृत्तिहिंसापूर्तिषु' से **तुवि** की व्युत्पत्ति मानता है, परन्तु अर्थ "बहु" करता है। **तुवि** का कोई भी स्वतन्त्र वैदिक प्रयोग नहीं मिलता

है और लगभग तीस वैदिक समासों के पूर्वपद में तुवि प्रयुक्त हुआ है। उन सब समासों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि तुवि शब्द का मुख्य अर्थ प्रायेण "बहु" और कहीं-कहीं "महत्" हो सकता है। वर्तमान प्रसंग में तुवि का "महत्" अर्थ करते हुए व्याख्यान किया जा सकता है—"जिस का जन्म (जात) महान् (तुवि) है वह"। द्वयच् इकारान्त वि० तुवि के पूर्वपद में आने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० ३)। वि अधमत्=ग्रा०, मै०, आदि पाश्चात्य विद्वान् इसे √धम् "to blow" का लङ् प्र० पु० ए० मानते हैं, जबकि पा० के अनुसार √ध्मा को धम आदेश हुआ है। इस धातु का मुख्य अर्थ "फूंक मारना" है और इसी से "बजाना", "ध्वनि करना", "वायु का चलना", "अग्नि को फूंक मार कर प्रज्वलित करना" इत्यादि गौण अर्थ निकलते हैं। यहां पर अधमत् का अर्थ है—"फूंक मार कर उड़ा दिया या समाप्त कर दिया"।

छ०— छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा व्योमन् का विओमन् और सप्तास्य: का सप्तआस्य: उच्चारण अपेक्षित है, जैसा कि पपा० में दिखाया गया है।

५. स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन — सः। सुऽस्तुभा। सः। ऋक्वता। गणेन।
वलं रुरोज फलिगं रवेण। — वलम्। रुरोज। फलिऽगम्। रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूद: — बृहस्पतिः। उस्रियाः। हव्यऽसूदः।
कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत्॥ — कनिक्रदत्। वावशतीः। उत्। आजत्॥

अनु०— अच्छी प्रकार स्तुति करते हुए (सुष्टुभा) तथा स्तुति-गानों से युक्त (ऋक्वता) मरुद्गण के साथ (गणेन) उस (बृहस्पति) ने जल-वर्षण में रुकावट-रूपी (वलम्) मेघ को (फलिगम्) अपनी गर्जना के द्वारा (रवेण) छिन्न-भिन्न कर दिया (रुरोज)। गर्जते हुए (कनिक्रदत्) बृहस्पति ने ध्वनि करती हुई (वावशतीः) तथा हवियों को स्वादु बनाने वाली (हव्यसूदः) गायों को (उस्रियाः) अर्थात् मेघ के जलों को बाहिर निकाल दिया (उदाजत्)।

टि०—ऋक्वता=ऋक्वत् का तृ० ए०, गणेन का वि०। इस का व्याख्यान वें० "ऋग्भिर्युक्तेन" और सा० "दीप्तिमता" करता है। भभा० ने इस का व्याख्यान "स्तुतिमता" किया है। गै० ने इस शब्द का अर्थ "ऋचाओं में निपुण" और ग्रा० ने "गाता हुआ" किया है, जबकि मै० ने "jubilant" और कीथ (तै० सं०) ने "harmonious" अनुवाद किया है। ऋच् "स्तुतिगान" के साथ वत् प्रत्यय के योग से ऋक्वत् की व्युत्पत्ति मानते हुए, इस का अर्थ "स्तुतिगानों (ऋचाओं) से युक्त" करना अधिक समीचीन है। गणेन=सा० इस के साथ "अङ्गिरसाम्" का अध्याहार करता है। तदनुसार गै० तथा मै० भी यहां पर "अङ्गिरसों का गण" मानते हैं। परन्तु हिल्ब्रांट (HVM, I, 416) के मतानुसार, "तारे" और ग्रि० के अनुसार "मरुद्गण" अभिप्रेत हैं। यदि ऋ० में गण शब्द के प्रयोग पर विचार किया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि यह शब्द प्रायेण मरुतों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस के अतिरिक्त, मरुतों के साथ बृहस्पति के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए उसे मरुत्वान् "मरुतों से युक्त" बताया गया है (ऋ० १०, ९८, १; तु०—१, ४०, १; १०, ६७, ३)। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यहां पर गण शब्द का अर्थ "मरुद्गण" करना समीचीन है। वलम्=वें० तथा सा० इस का अर्थ वल नामक असुर करते हैं, जबकि भभा० "वलं मेघम्। वृणोतेः पचाद्यच्। कपिलकादित्वाल्लत्वम्" करता है। वास्तव में वल वह "रुकावट" है जो मेघ के जल को बरसने से रोकती है; दे०—ऋ० २, १२, ३ पर टि०। फलिगम्= पपा० में फलिऽगम् मान कर अवग्रह किया गया है। इस का व्याख्यान वें० ने "मेघाकारम्", सा० ने "ञिफला विशरणे। फलिर्भेदः। तेन गच्छतीति फलिगम्" और भभा० ने "स्वच्छोदकपूर्णं बलवदुदकं वा। ··· रवेण वा फलिगं गिरिगुहादिषु प्रतिफलवन्तम्" किया है। स्क० (ऋ० १, ६२, ४; १२१, १०) इसे एक असुर मानता है और कीथ (तै० सं०) इस मत का अनुसरण करता है। यद्यपि गै० इस शब्द के अर्थ को सन्दिग्ध मानता है, तथापि तीन स्थलों पर इस का अनुवाद "डाकू" (robber) किया है। निघ० १, १० में फलिगः "मेघ" के नामों में गिनाया गया है। तदनुसार वें० तथा सा० (१, १२१, १०; ८, ३२, २५), इस का अर्थ "मेघ" करते हैं, परन्तु ऋ० १, ६२, ४ के भाष्य में सा० ने निम्नलिखित वैकल्पिक अर्थ सुझाये हैं—"फलिगम्। प्रतिफलं प्रतिबिम्बं तदस्मिन्नस्तीति फलि स्वच्छमुदकम्। तद्गच्छति आधारत्वेनेति फलिगः। यद्वा। व्रीह्यादि फलम्। तदस्मिन् सति भवतीति फलि वृष्टिजलम्। तद्गच्छतीति फलिगः। एवं भूतं बलं मेघम्।" यहां पर भी फलिग शब्द वल के साथ प्रयुक्त हुआ है। ऋ० ८, ३२, २५ में कहा गया है—"जिस (इन्द्र) ने जल के फलिग का भेदन किया और नदियों को नीचे की ओर बहने के लिये मुक्त किया।" इन सब वैदिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए, रोट, ग्रा०, मै०, ग्रि० प्रभृति आधुनिक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि फलिग किसी प्रकार का "जलाधार" (receptacle of water) हो सकता है। परन्तु ग्रा० (कोष) का मत है कि भेदन अर्थ वाली क्रिया के योग में फलिग "मेघ" को अभिव्यक्त करता है। सभी प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए

फलिग का "मेघ" अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **रुरोज**=√रुज्+लिट् प्र० पु० ए०। **कनिक्रदत्**=√क्रन्द्+यङ्लुक्+शतृ का प्रथ० ए० पुं० (वैं० व्या० ३०५)। **वावशती:**=√वाश्+यङ्लुक्+शतृ का द्विती० ब० स्त्री० (वैं० व्या० ३०५)। उद्+ग्राजत्=दे०—ऋ० २, १२, ३ पर टि०। **उस्रिया:**=इस का व्याख्यान सा० ने "भोगानामुत्स्राविणीः ··· गाः" और भभा० ने "अपः" किया है। गै०, मैं०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् सा० की भांति इस का अनुवाद "गायें" करते हैं। निघ० २, ११ में **उस्रिया** शब्द गाय के नामों में गिनाया गया है। रूपकालङ्कार द्वारा "जलों" तथा "किरणों" के लिये ऋ० में **उस्रिया** शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहां पर "मेघ के जलों" के लिये **उस्रिया:** का प्रयोग किया गया है।

६. एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे	एव। पित्रे। विश्वऽदेवाय। वृष्णे।
यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।	यज्ञैः। विधेम। नमसा। हविःऽभिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो	बृहस्पते। सुऽप्रजाः। वीरऽवन्तः।
वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥	वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्।

अनु०— इस प्रकार (**एव**) सबके पिता, सर्वदेवतारूप (**विश्वदेवाय**) तथा वर्षा करने वाले (**वृष्णे**) देव के लिये हम यज्ञों के द्वारा (**यज्ञैः**), नमस्कार के द्वारा (**नमसा**), तथा हवियों के द्वारा पूजा करें (**विधेम**)। हे बृहस्पति देव! अच्छी सन्तान से सम्पन्न (**सुप्रजाः**) तथा वीर पुत्रों से युक्त होते हुए (**वीरवन्तः**) हम धनों के (**रयीणाम्**) स्वामी (**पतयः**) बनें (**स्याम**)।

टि०—एव=एवम्। दे०—ऋ० २, ३३, १५ पर टि०। **विश्वदेवाय**=इस का व्याख्यान वें० ने "सर्वेषां देवाय" और सा० ने "सर्वदेवतारूपाय। देवानां मन्त्रप्रतिपाद्यत्वादस्य च मन्त्राभिमानित्वाद् विश्वदेवत्वम्। यद्वा। अत्र देवशब्दः स्तुत्यर्थः। सर्वैः स्तुत्याय" किया है। गै० ने इस का अनुवाद "जिस से सब देवता सम्बन्ध रखते हैं उसके लिये" और मैं० ने "that belongs to all the gods" किया है। मो० ने इस शब्द का अर्थ "all-divine" और ग्रि० ने "the steer of all the Gods" किया है। यहां पर यह बस० है और इस का अर्थ है—"विश्वे

देवा यस्मिन् स विश्वदेवः तस्मै" अर्थात् "जिस में सब देवता हैं उस के लिये" सा० का "सर्वदेवतारूपाय" व्याख्यान सर्वश्रेष्ठ है। तु०—ऋ० ५, ८२, ७; ८, ६८, २; ९, १०३, ४।

छ०—ग्रा०, मै० आदि विद्वान् चतुर्थ पाद में अक्षरपूर्ति के लिये स्याम का सिम्राम उच्चारण अपेक्षित समझते हैं।

७. स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा — सः। इत्। राजा। प्रतिऽजन्यानि। विश्वा।
शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण। — शुष्मेण। तस्थौ। अभि। वीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति — बृहस्पतिम्। यः। सुऽभृतम्। बिभर्ति।
वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्॥ — वल्गुऽयति। वन्दते। पूर्वऽभाजम्॥

अनु०— जो राजा बृहस्पति देव को (अपनी श्रद्धा में) सुपुष्ट किये हुए (सुभृतम्) धारण करता है (बिभर्ति), और उसे (सब याज्ञिक कर्मों का) सर्वप्रथम भागी (पूर्वभाजम्) मानते हुए उसकी अर्चना करता है (वल्गूयति) तथा वन्दना करता है (वन्दते), वही राजा अपने शोषक तेज से (शुष्मेण) तथा वीरता से (वीर्येण) शत्रु-सम्बन्धी (प्रतिजन्यानि) सभी (विश्वा) शक्तियों को दबा देता है (अभि तस्थौ)।

टि०— प्रतिजन्यानि=इस का व्याख्यान वें० "प्रतिजनपदप्रादुर्भूतानि बलानि" और सा० "जन्यं युद्धं प्रति बलानीत्यर्थः प्रत्यर्थिजनपदानि वा तानि" करता है। ग्रा० (कोष) इस का अर्थ "विरोधी", गै० "विरोधी लोग" और मै० "hostile forces" करता है। प्रतिजन "विरोधी, शत्रु" के साथ य तद्धित प्रत्यय जोड़ने से प्रतिजन्य बना है जिस का शाब्दिक अर्थ है—"विरोधी या शत्रु से सम्बन्ध रखने वाला"। अभि+√स्था के क्रियारूप तथा प्रसंग को ध्यान में रखते हुए यहां पर इस वि० के साथ महांसि "बलों को" विशेष्य का अध्याहार करना उचित है; जैसा कि वेलंकर ने सुझाया है; तु०— ऋ० ५, २८, ३। शुष्मेण=इस शब्द के अर्थ के लिये दे०—ऋ० २, १२, १ पर टि०। अभि तस्थौ=√स्था+लिट् प्र० पु० ए०। वर्तमान काल के अर्थ में लिट् का प्रयोग हुआ है (वै० व्या० ३१८)।

उपसर्ग धातु के पश्चात् प्रयुक्त हुआ है। सुभृतम्=वें०, सा०, आदि का अनुसरण करते हुए इसे वि० मान कर ग्रा०, मो०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् सुभृतम् का अर्थ "अच्छी प्रकार पुष्ट किया हुआ" (well-nourished) करते हैं। इस प्रकार के अन्य वैदिक प्रयोग भी मिलते हैं जिन में सुभृतम् (सुपुष्ट) को धारण करने का उल्लेख आता है; तु०—ऋ० ६, ६७, २४; वा० सं० ८, २६। इस का भावार्थ है—"यज्ञ, परिचर्या वन्दना" आदि से "अपनी श्रद्धा में सुपुष्ट किये हुए" बृहस्पति देव को जो उपासक (अपने मन में) धारण करता है, उसे उक्त फल मिलता है। वल्गूयति=√वल्गु नाधा०+लट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० ३०८ घ० ३)। पाद के आदि में आने के कारण इस ति० पर, ति० से परे आने के कारण वन्वते पर, और यः के कारण बिभर्ति पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ ख, ग, ङ)। तु०—ऐ० ब्रा० ८, २६।

छ०—ग्रा०, मै० आदि के मतानुसार द्वितीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये वीर्येण का वीरिएण उच्चारण अपेक्षित है।

८. स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वे — सः। इत्। क्षेति। सुऽधितः। ओकसि। स्वे।
तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्। — तस्मै। इळा। पिन्वते। विश्वऽदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते — तस्मै। विशः। स्वयम्। एव। नमन्ते।
यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥ — यस्मिन्। ब्रह्मा। राजनि। पूर्वः। एति॥

अनु०—जिस पुरुष के राजा होने पर (यस्मिन् राजनि) वेदमन्त्रों का ज्ञाता (ब्रह्मा) सबसे आगे चलता है (पूर्वः एति) अर्थात् सर्वप्रथम सम्मान पाता है, वह राजा सुप्रतिष्ठित (सुधितः) होता हुआ अपने (स्वे) निवास-स्थान पर (ओकसि) निवास करता है (क्षेति); उसके लिये यज्ञीय अन्न (इळा) सदा (विश्वदानीम्) समृद्ध होता है (पिन्वते); और प्रजाएँ (विशः) अपने-आप (स्वयमेव) उसके लिये झुकती हैं (नमन्ते)।

टि०—क्षेति=√क्षि "निवासे"+लट् प्र० पु० ए०। सुधितः=सु+√धा+क्त। इस का अर्थ "सुप्रतिष्ठित" है, जैसा कि अनेक विद्वान् वैदिक प्रयोग तथा प्रसंग के आधार पर मानते हैं यद्यपि वें० ने "सुप्रीतः" और सा० ने "सुष्ठु तृप्तः" व्याख्यान

किया है। इळा=इस का व्याख्यान वें० "पृथिवी" और सा० "भूमिः" करता है। इस मन्त्र के व्याख्यान में ऐ० ब्रा० ८, २६ इस का अर्थ "अन्न" करता है और गै०, मै०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् इसी अर्थ को उचित समझते हैं, क्योंकि वैदिक प्रयोग से इस अर्थ की पुष्टि होती है; तु०—ऋ० ३, ५३, १; ५४, २०, ५९; ३। आधुनिक विद्वान् इळा का अर्थ प्रायेण "यज्ञीय अन्न" करते हैं और ब्रा० में वर्णित उत्तरकालीन इडा की व्युत्पत्ति इसी शब्द से है; तु०—श० ब्रा० १, ८, १, ११ इत्यादि। ब्रह्मा=अन्तोदात्त पुं० ब्रह्मन् शब्द का प्रथ० ए०। आद्युदात्त नपुं० ब्रह्मन् शब्द "वेदमन्त्र, प्रार्थना, तत्त्व" (शाब्दिक अर्थ "विशाल") इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त होता है। अन्तोदात्त ब्रह्मन् पुं० शब्द "प्रार्थना करने वाला, वेदमन्त्र का ज्ञाता", इत्यादि अर्थों में ऋ० में प्रयुक्त होता है; तु०—ऋ० २, १२, ६। यहां पर ब्रह्मा का अर्थ ऐ० ब्रा० (८, २६), वें० आदि "पुरोहित" करते हैं और ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् तदनुसार इस का अनुवाद "priest" करते हैं। परन्तु ऋ० के काल में पौरोहित्य की प्रथा का उतना विकास नहीं हुआ था जितना कि उत्तरकालीन याज्ञिक ग्रन्थों में मिलता है। अतएव यहां पर "ब्रह्मा" का यौगिक अर्थ "वेदमन्त्रों का ज्ञाता" उचित है। यस्मिन् राजनि=इन पदों के साथ सति का अध्याहार करके अर्थ करना चाहिए।

९. अप्रतीतो जयति सं धनानि	अप्रतिऽइतः । जयति । सम् । धनानि ।
प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।	प्रतिऽजन्यानि । उत । या । सऽजन्या ।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति	अवस्यवे । यः । वरिवः । कृणोति ।
ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥	ब्रह्मणे । राजा । तम् । अवन्ति । देवाः ॥

अनु०—जो राजा सहायता के इच्छुक (अवस्यवे) ब्रह्मा (वेदमन्त्रों के ज्ञाता) के लिये (अस्त्रार्थ) वरणीय अर्थात् इष्ट कर्म (वरिवः) करता है (कृणोति); वह विरोधरहित होता हुआ (अप्रतीतः) शत्रु-सम्बन्धी (प्रतिजन्यानि) और (उत) स्वजनसम्बन्धी (सजन्या) धनों को एक-साथ जीत लेता है (सं जयति) और देवता उसकी सहायता करते हैं (तम् अवन्ति)।

टि०—सजन्या=धनानि का वि०, सजन "समान जन" (अपने लोग) के साथ तद्धित प्रत्यय य के योग से सजन्य बना है। अवस्यवे=अवस्यु का च० ए०

(ब्राह्मणे का वि०); दे०—ऋ० १, २५, १९ पर टि०। अप्रतीत: = वें० "शत्रुभिरप्रतिगत:", सा० "अन्यैरप्रतिगत:", ग्रि० "unopposed", गै० "विरोध के बिना", मै० "unresisted". ऋ० ५, ३२, ६; ६, २०, ९; ७३, ३ इत्यादि में अप्रतीत: के प्रयोग से यह पुष्ट होता है कि इस का "विरोधरहित:" अर्थ समीचीन है। सम् + जयति = उपसर्ग धातु के पश्चात् प्रयुक्त हुआ है; संजयति का अर्थ है "एक साथ जीतता है"। वरिव: = इस का व्याख्यान वें० "पूजाम्", सा० "धनम्", गै० "(संकट से) निकलने का मार्ग", मै० "prosperity" और ग्रा० "अधिक स्वतन्त्र स्थान, अर्थात् स्वतन्त्रता, सुख, शान्ति" करता है। ग्रा०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् √वृ "आच्छादित करना" से इसकी व्युत्पत्ति मानते हुए उपर्युक्त अर्थ सुझाते हैं। निघ० २, १० में वरिव: "धन" के नामों में गिनाया गया है। तदनुसार सा०, स्क०, उ०, म० आदि भारतीय भाष्यकार इस का अर्थ प्रायेण "धन" करते हैं। वें० ने इस का अर्थ कहीं पर "धन" और कहीं पर "परिचर्या" ("पूजा") किया है (तु०—ऋ० ४, २४, ६; ५०, ९; ५५, १)। एक-दो स्थान पर सा० ने भी "परिचर्या" अर्थ सुझाया है (तु०—१०, ५२, ५), परन्तु प्रायेण वह √वृ "वरण करना" से व्युत्पत्ति मानते हुए "वरणीयं धनम्" अर्थ करता है। यदि सभी वैदिक प्रयोगों पर विचार किया जाए, तो √वृ "वरण करना" से वरिवस् की व्युत्पत्ति उचित है और इस का अर्थ "धन" न मान कर "वरणीय वस्तु या कर्म" अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

छ०—ग्रा०, मै० प्रभृति विद्वानों के मतानुसार, द्वितीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रतिजन्यानि उत उच्चारण अपेक्षित है।

१०. इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते-	इन्द्रः। च। सोमम्। पिबतम्। बृहस्पते।
ऽस्मिन्यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।	अस्मिन्। यज्ञे। मन्दसाना। वृषण्वसू इति वृषण्ऽवसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवो-	आ। वाम्। विशन्तु। इन्दवः। सुऽआभुवः।
ऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्॥	अस्मे इति। रयिम्। सर्वऽवीरम्। नि। यच्छतम्॥

अनु०— हे, वर्षा करने वाली किरणों से युक्त देवताओ (वृषण्वसू), इन्द्र तथा बृहस्पति! इस यज्ञ में आनन्दित होते हुए (मन्दसाना), तुम दोनों सोमरस का पान करो (सोमं पिबतम्)। अच्छे प्रभावशाली (स्वाभुवः) सोम

के बिन्दु (**इन्दवः**) तुम दोनों में (**वाम्**) प्रविष्ट हों (**आविशन्तु**)। तुम दोनों हमें (**अस्मे**) सब वीर पुत्रों से सम्पन्न (**सर्ववीरम्**) धन (**रयिम्**) प्रदान करो (**नि यच्छतम्**)।

टि०—**मन्दमाना**=√मन्द्+कसानच् (वै० व्या० ३५८ घ)+प्रथ० द्वि०। **वृषण्वसू**=सं० होने के कारण सर्वानुदात्त है। इस का व्याख्यान वें० "वृष्यमाणधनौ" और सा० "वर्षितृधनौ यजमानेभ्यो दीयमानधनावित्यर्थः" करता है। गै० ने यहां पर सन्दिग्ध समझ कर इस का कोई अनुवाद नहीं किया है, परन्तु अन्यत्र १६ स्थलों पर "धनसम्पन्न" अनुवाद किया है। ग्रि० ने ""rainers of treasure" अनुवाद किया है। ग्रा० (कोष) ने "वृषभ के सदृश समर्थ ?" सन्दिग्ध अर्थ सुझाया है। मो० ने "possessing or bringing great wealth" और मै० तथा कीथ (तै० सं०) ने "of mighty wealth" अर्थ किया है। पा० १, ४, १८ पर "वृषण्वस्वश्वयोः" वार्तिक द्वारा पूर्वपद **वृषन्** को भत्व करके इस के न् के णत्व तथा लोपाभाव को सिद्ध किया गया है। सि० कौ० में इस के उदाहरण **वृषण्वसुः** का व्याख्यान "वृषन् वर्षकं (पाभे० वर्षुकं) वसु यस्य स वृषण्वसुः" किया गया है। प्राचीन भारतीय भाष्यकार भी इस शब्द के व्याख्यान के विषय में सन्देहरहित नहीं हैं और अनेक प्रकार के व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं। स्क० (ऋ० १, १११, १) "वृष्टिधनौ वर्षितारौ वा धनानाम् धनानां दातारावित्यर्थः" करता है और वें० अन्यत्र (ऋ० २, ४१, ८) "प्रदीयमानधनौ" करता है। सा० "धनस्य वर्षितारौ" (२, ४१, ८) "वर्षकधनौ" (५, ७४, १) "वर्षधनौ वर्षितारौ वा वसूनाम्" (५, ७५, ४) "प्रदत्तधनौ" (५, ७५, ६) "वर्षणधनौ" (८, ५, २४, २७, ३६; ७३, १०; १०, ९३, ५), "वर्षणशीलधनवन्तौ" (८, २२, ८; २६, १, २, ५, १५; ८५, ७), "वर्षणशीलधनौ" (८, २२, ६), तथा "सेचनसमर्थेन दृढतरेण धनेन बलेन वा युक्तौ" (१, १११, १) करता है। मै० तथा कीथ का व्याख्यान सा० के अन्तिम व्याख्यान पर आधारित है। वा० सं० ११, १३ के भाष्य में उ० तथा म० "वृषा सेक्ता गर्दभो वसु धनं ययोस्तौ वृषण्वसू" व्याख्यान करते हैं और म० एक अन्य वैकल्पिक व्याख्यान भी करता है—"यद्वा यागनिष्पादनद्वारा वृषं फलाभिवर्षुकं वसु धनं ययोस्तौ।" वा० सं० २०, ८२ के भाष्य में उ० "वर्षणं वृष्टिर्वसु धनं ययोस्तौ तथोक्तौ। यद्वा वृष्टिद्वारेण आवासयितारौ" तथा म० "वृषा वृष्टिरेव वसु धनं ययोस्तौ। यद्वा वृष्ट्या वासयतो लोकं स्थापयतस्तौ" व्याख्यान करता है। ऋ० में इस शब्द के १८ प्रयोग मिलते हैं जो सभी द्वि० के हैं (अन्य संहिताओं में उपलब्ध प्रयोग भी केवल द्वि० के हैं)। उन में से १७ प्रयोग सं० के हैं और एक प्रयोग द्विती० द्वि० है। वर्तमान ऋचा का सं० इन्द्र तथा बृहस्पति के लिये और शेष **अश्विनौ** के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। १०, ९३, ५ के सं० को ग्रा० **सूर्यामासा** का वि० मानता है, जब कि सा० **अश्विनौ** के लिये प्रयुक्त समझता है। सा० का मत अधिक समीचीन है। सभी सं० रूप सर्वानुदात्त हैं, जब कि द्विती०

द्वि० के रूप के आदि अक्षर पर उदात्त है। इस रूप का स्वर सा०, सि० कौ० तथा मै० आदि के इस मत का समर्थन करता है कि यह बस० है। मेरा अभिमत है कि यदि उत्तर पद वसु का अर्थ √वस् "चमकना" से सिद्ध व्युत्पति के आधार पर "प्रकाश या किरण" किया जाय, तो इस बस० का अर्थ "वर्षा करने वाली (वृषन्) किरणों (वसु) से युक्त" होगा, जो अन्य व्याख्यानों की अपेक्षा अधिक समीचीन है। निघ० १, ५ तथा निरुक्त १२, ४१ आदि भी वसु के "किरण" अर्थ का समर्थन करते हैं और रोट, ग्रा०, मो० आदि आधुनिक विद्वान् भी वसु का "bright" अर्थ मानते हैं। स्वाभुवः=स्वाभू का प्रथ० ब०। इस का व्याख्यान वें० "शोभनभवनाः" और सा० "सुष्ठु सर्वतो भवन्तः। कृत्स्नशरीरव्यापनसमर्था इत्यर्थः" करता है। मै० ने इस का अनुवाद "invigorating", ग्रि० ने "abundant" और गै० ने "प्रभावशाली" किया है। ग्रा० (कोष) ने इस शब्द का अर्थ "शोभन प्रकार से समीप उपस्थित, प्रसन्नतापूर्वक सहायता करने वाला" किया है। सा० ने विभिन्न स्थलों पर इस शब्द के विभिन्न व्याख्यान किये हैं और यही स्थिति आभू के व्याख्यान के सम्बन्ध में है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० में अनेक बार ये दोनों शब्द (आभू, स्वाभू) रयि तथा इन्दु के वि० के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन सब के प्रयोग तथा प्रसंग पर विचार करने से गै० द्वारा सुझाया गया "प्रभावशाली" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है और सा० आदि ने भी कहीं-कहीं ऐसा अर्थ सुझाया है; तु०—ऋ० १, १५१, २; ७, ३०, ४; १०, १२२, ३; १, ६४, १।

छ०— इस ऋचा का छन्द जगती है। अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय तथा चतुर्थ पाद के आदि में क्रमशः अस्मिन् और अस्मे के आदि अकार का उच्चारण अपेक्षित है और तृतीय पाद में विशन्तु इन्दवः सुआभुवो उच्चारण सुझाया गया है।

११. बृह॑स्पत इन्द्र॒ वर्ध॑तं नः	बृह॑स्पते। इन्द्र॒। वर्ध॑तम्। नः।
सचा॒ सा वां॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे।	सचा॑। सा। वाम्। सु॒ऽम॒तिः। भूतु॒। अ॒स्मे इति॑।
अ॒वि॒ष्टं धियो॑ जिगृ॒तं पुर॑ंधीर्	अ॒वि॒ष्टम्। धियः॑। जि॒गृ॒तम्। पुर॑म्ऽधीः।
ज॒ज॒स्तम॒र्यो व॒नुषा॒मरा॑तीः॥	ज॒ज॒स्तम्। अ॒र्यः। व॒नुषा॑म्। अरा॑तीः॥

अनु०— हे बृहस्पति तथा इन्द्र देवताओ! हमें समृद्ध करो (वर्धतं नः)। तुम दोनों की (त्वाम्) वह प्रसिद्ध (सा) अनुग्रह-बुद्धि (सुमतिः)

हमारे साथ (**अस्मे सचा**) रहे (**भूतु**)। तुम दोनों हमारी प्रज्ञाओं (**धियः**) की सहायता करो (**अविष्टम्**), उदारताओं को (**पुरंधीः**) जागृत करो (**जिगृतम्**), शत्रु की (**अर्यः**) तथा प्रतिस्पर्धा करने वाले लोगों की (**वनुषाम्**) दुर्भावनाओं को (**अरातीः**) क्षीण करो (**जजस्तम्**)।

टि०— **सचा** "साथ" अव्यय के योग में स० का प्रयोग भी मिलता है (वै० व्या० ३८४ घ)। यहाँ पर इसके योग में **अस्मे** स० ब० प्रयोग है। **भूतु**=√भू के विकरण-लुग्-लुङ् अङ्ग से लोट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६६ ग)। **वाम्**=युष्मद् के ष० द्वि० का निघातादेश (वै० व्या० १६४ ख)। **अविष्टम्**=√अव् के सेट्—सिज्लुङ् अङ्ग से लोट् म० पु० द्वि० (वै० व्या० २८० ग)। पाद के आदि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है। **जिगृतम्**=√गृ के चङ्-लुङ् अङ्ग से लोट् म० पु० द्वि०। वाक्य के आदि में (ति० से परे) आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ ग)। **पुरंधीः**=पुरंधि का द्विती० ब०। इसका व्याख्यान वें० "प्रज्ञाः", सा० "पुरं शरीरं धीयते स्थाप्यते याभिः मतिभिः ताः स्तुतीः", मै० "rewards" और गै० "उदारताएँ" करता है। यहाँ पर इसका "उदारताएँ" अर्थ समीचीन है; दे०— ऋ० ३, ६१, १ पर टि०। **धियः**=धी का द्विती० ब०। इसके व्याख्यान के लिये दे०— ऋ० १, १, ७; १४३, ६ पर टि०। **जजस्तम्**= √जस् "क्षीण करना" के लिट् के अङ्ग से लोट् म० पु० द्वि० (वै० व्या० २६१ क)। **अर्यः अरातीः**=द्विती० ब० (अरातीः) "शत्रून्" का वि०) मानते हुए सा० **अर्यः** का व्याख्यान "गन्त्रीः" और वें० (अरातीः का अर्थ "अप्रयच्छन्तीः" करते हुए) "शत्रुभूताः" करता है। सा० की भांति ग्रा० (कोष) भी इसे **अरातीः** "दुर्भावनाओं" का वि० समझ कर **अर्यः** को अरि का द्विती० ब० मानता है और इसका अर्थ "नास्तिक" (godless) करता है। परन्तु गै०, ग्रि० तथा मै० **अर्यः** को **अरि** "शत्रु" का ष० ए० मानते हैं और यही मत अधिक समीचीन है; दे०— ऋ० २, १२, ४ पर टि०। **अरातीः** का अर्थ यहाँ पर "दुर्भावनाएँ" है, **अराति** का द्विती० ब०; दे०— ऋ० ७, ८३, ३ पर टि०। **वर्धतम्**=सं० से परे आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ घ)। **इन्द्र**=सामान्य नियम (वै० व्या० ४१२. १) के विरुद्ध सं० से परे आने पर भी यह सं० सर्वानुदात्त है। **वनुषाम्**=दे०— ऋ० ७, ८३, ५ पर टि०।

छ०— ग्रा०, मै० आदि के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये प्रथम पाद के इन्द्र का इन्दर, और द्वितीय पाद में सन्धि विच्छेद द्वारा **भूतु अस्मे** उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ. ४, ५१ (उषाः)

ऋषिः— वामदेवः । देवता—उषाः । छन्दः—त्रिष्टुप् ।

१. इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज् इदम् । ऊँ इति । त्यत् । पुरुऽतमम् । पुरस्तात् ।
ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात् । ज्योतिः । तमसः । वयुनऽवत् । अस्थात् ।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर् नूनम् । दिवः । दुहितरः । विऽभातीः ।
गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ॥ गातुम् । कृणवन् । उषसः । जनाय ॥

अनु०— अब (इदम्) वह (त्यत्) बहुत अधिक विशाल (पुरुतमम्) तथा स्वरूप को प्रकट करने वाले विशेष चिह्नों से युक्त (वयुनावत्) प्रकाश (ज्योतिः) हमारे सम्मुख (पुरस्तात्) अर्थात् पूर्व दिशा में अन्धकार से (तमसः) ऊपर उठा है (अस्थात्) । विशेषतया चमकती हुई (विभातीः) द्युलोक की पुत्रियां (दिवो दुहितरः), उषाएं (उषसः), अब (नूनम्) लोगों के लिये (जनाय) मार्ग (गातुम्) बनायें (कृणवन्) ।

टि०— त्यत् =त्यद् का प्र० ए० (वै० व्या० १६६ ग) । पुरुतमम्=वें० "बहुतमम्", सा० "अत्यन्तप्रभूतम्" । ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति विद्वान् इस शब्द का अर्थ प्रायेण "बहुत अधिक बार होने वाला" (most frequent) करते हैं और पुरु के साथ तमप् प्रत्यय द्वारा इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं। पपा० का अनुसरण करते हुए, वें०, सा०, आदि भाष्यकार प्रायेण पुरु+तमप् से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं और इसका अर्थ प्रायेण "बहुतम, प्रभूततम", इत्यादि करते हैं, परन्तु कहीं-कहीं पुरु+√तम से भी इसकी व्युत्पत्ति दिखाते हैं (तु०— ऋ० ३, ३९, ७; ६, २१, १)। कीथ (तै० सं०) ने इसका अनुवाद "most manifold" किया है। ऋ० में यह शब्द उषस्, अग्नि, रथ, अश्विनौ, कारु, स्तोम, वचस् आदि के

वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि स्वर-सम्बन्धी साधारण नियम (वै० व्या० ४१५ क) के प्रतिकूल इस शब्द का स्वर **तमप्** प्रत्यय पर होने के कारण स्क०, वें०, सा०, प्रभृति भाष्यकार अनेक स्थलों पर इसके उत्तरपद **तम** की व्युत्पत्ति √**तम्** धातु से दिखाते हैं, तथापि वैदिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए **पुरुतम** में अतिशयवाचक **तमप्** प्रत्यय मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **पुरुतम** शब्द का शाब्दिक अर्थ "बहुत अधिक" है, परन्तु प्रसंगानुसार आवश्यक वि० जोड़ कर व्याख्यान करना होगा। उदाहरण के लिये यहाँ पर इसके साथ "विशाल" जोड़कर, "वहुत अधिक विशाल" ज्योतिः व्याख्यान करना चाहिए। **तमसः**=**तमस्** का पं० ए०। **अस्थात्**=√स्था+विकरण—लुग्—लुङ् प्र० पु० ए०। यहाँ पर इसका अर्थ "उद्+अस्थात्" (ऋ० १, १२३, १) के समान है, जैसा कि सा० ने व्याख्यान किया है। **वयुनावत्**=वें० "प्रज्ञानवत्", सा० "वेतेः कान्तिकर्मण इदम्। प्रकृष्टकान्तिमत्। अथवा वयुनमिति प्रज्ञानाम। प्रज्ञोपेतम्। सर्वस्य प्रज्ञापकमित्यर्थः"। ऋ० ६, २१, ३ के भाष्य में सा० **वयुनवत्** का अर्थ "प्रकाशवत्" और वें० "प्रज्ञानवत्" करता है। ग्रा० तथा मो० इस शब्द का अर्थ "bright, clear" करते हैं और ग्रि० इसका अनुवाद "splendid" करता है। गे० इस का अनुवाद "काल-निर्धारण करता हुआ" करता है और टि० में सुझाव देता है कि विकल्प से "मार्ग तैयार करता हुआ" अर्थ भी किया जा सकता है। मै० (V. R.) कहता है कि सम्भवतः इसका अर्थ "मार्ग को स्पष्ट करता हुआ" है। इस पद का अर्थ मुख्यतया **वयुन** के व्याख्यान पर आश्रित है, जिसके सम्बन्ध में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। निघ० ३, ९ में **वयुनम्** "प्रज्ञा" के नामों में गिनाया गया है। यास्क (५, १४) √वी से व्युत्पत्ति दिखाते हुए **वयुन** का अर्थ "कान्तिर्वा। प्रज्ञा वा" करता है। निरुक्त ९, १५ में यास्क **वयुनानि** का व्याख्यान "प्रज्ञानानि" करता है। इसी परम्परा के अनुसार, स्क०, वें०, सा०, उ०, म० आदि भाष्यकार **वयुन** का व्याख्यान प्रायेण "प्रज्ञान" करते हैं। परन्तु इस व्याख्यान से असन्तुष्ट होकर कहीं-कहीं भिन्न व्याख्यान भी करते हैं; यथा— वें०, सा० तथा म० "मार्ग" (ऋ० २, १९, ८; ३४, ४; ३, २९, ३; ६, ७, ५; ८, ६६, ८; वा० सं० ५, ३६); वें० तथा सा० "प्रज्ञासाधन"; सा० "ज्ञातव्य पदार्थ" (ऋ० १, ७२, ७; ६, १५, १०; ७५, १४; ७, १००, ५; १०, ११४, ३; १२२, २), "प्रकाश" (ऋ० २, १९, ३), "गन्तृ" (ऋ० २, ३४, ४), "कान्त" (ऋ० १०, ४४, ७); म० "ज्ञानोपाय" (वा० सं० १२, १५) और म० तथा शंकर "कर्म" (वा० सं० ४०, १६; ईशोप०) व्याख्यान भी करते हैं। सा० ने "अभिप्राय" (तै० ब्रा० ३, ६, १२, १; तै० आ० ४, २, १) तथा "कमनीय बर्हिः" (तै० ब्रा० ३, ७, ६, ५) अर्थ भी सुझाये हैं। सा० √अज् के वी आदेश (पा० २, ४, ५६) के साथ **उनन्** उणादिप्रत्यय के योग से **वयुन** की व्युत्पत्ति मानता है। ग्रा० (कोष) √वे "बुनना" से वयुन की व्युत्पत्ति मानते हुए कहता है कि इस शब्द का मौलिक अर्थ "जाल" (web) है, परन्तु आलंकारिक प्रयोग द्वारा

यह शब्द "निपुण कर्म, याज्ञिक कर्म, प्रकाश, नियम" आदि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। ह्विटने तथा मो० प्रभृति कतिपय आधुनिक विद्वान् √वी "प्रीतिपूर्वक सेवन करना" से वयुन की व्युत्पत्ति मानते हैं। पिशल तथा कीथ (तै० सं०) वयुन के "मार्ग" अर्थ का अनुसरण करते हैं, जबकि एग्लिग (श० ब्रा०) "कर्म" अर्थ को ग्राह्य मानता है। गै० ने ऋ० के जर्मन अनुवाद में वयुन के "काल", "कालक्रम", "मार्ग", दिशा, "नियम" इत्यादि अर्थ किये हैं। वयुन शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कोई भी निश्चित मत प्रस्तुत करना कठिन है और √वी या √वे से इसका निर्वचन मानना अनुमानमात्र है। "प्रज्ञान", "मार्ग", "काल", तथा "कर्म" इत्यादि जो अर्थ अब तक सुझाये गये हैं उनमें से कोई भी अर्थ सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। इस विषय में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अनेक प्रकार के प्रयोगों के अतिरिक्त, क्षिति, जन, अहन्, पृथिवी, अग्नि, उषस् इत्यादि के सम्बन्ध में भी वयुन का प्रयोग मिलता है। इन सब वैदिक प्रयोगों के विश्लेषण से वयुन का जो प्रधान अर्थ निकलता है, वह है— "स्वरूप को प्रकट करने वाला विशेष चिन्ह या लक्षण"; तु०— ऋ० १, ७२, ७; ९२, ६; १६२, १८; २, १९, ३. ८; २४, ५; ६, ७, ५; १५, १०; ७, ७५, ४; १००, ५; १०, ८६, ८; ११४, ३ इत्यादि। वर्तमान प्रसंग में वयुनवत् का अर्थ है— "स्वरूप को प्रकट करने वाले विशेष चिन्हों से युक्त"। कृणवन् = √कृ + लेट् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २४२)। इदम् = यहाँ पर यह पद "अब" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (दे० — ग्रा०, मो०)।

२. अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्	अस्थुः। ऊँ इति। चित्राः। उषसः। पुरस्तात्।
मिताइव स्वरवोऽध्वरेषु।	मिताःऽइव। स्वरवः। अध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारो-	वि। ऊँ इति। व्रजस्य। तमसः। द्वारा।
च्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः॥	उच्छन्तीः। अव्रन्। शुचयः। पावकाः॥

अनु०— देदीप्यमान (चित्राः) उषाएँ, याज्ञिक क्रियाकलापों में (अध्वरेषु) खड़े किये गये (मिताः) यूपों की भान्ति (स्वरवः, इव), हमारे सम्मुख (पुरस्तात्) खड़ी हैं (अस्थुः)। चमकती हुई (उच्छन्तीः), शुभ्र (शुचयः) तथा पावन करने वालीं (पावकाः) उषाओं ने अन्धकार के (तमसः) बाड़े के (व्रजस्य) दोनों द्वार (द्वारा) खोल दिये हैं (वि अव्रन्)।

टि०— मिताः = √मा "नापना"+क्त (वै० व्या० ३३३ घ)। यहाँ पर **मिताः** का अर्थ है "नाप के अनुसार खड़े किये गये"। **अस्थुः**=पाद के आदि में आने के कारण ति० सोदात्त है। दे०— ऋ० १, ११५, ३ पर टि०। व्यू=वि+ऊ की क्षैप्रसन्धि से बने क्षैप्र-नामक स्वतन्त्र स्वरित के लिये दे०— वै० व्या० ३८६. ३।

तमसः व्रजस्य द्वारा="अन्धकार के बाड़े के दो द्वार"। यहाँ पर रूपकालंकार द्वारा ऋषि यह कल्पना करता है कि उषा के आगमन पर, मानो, अन्धकार भाग रहा है, जैसे उषाओं ने उस बाड़े के द्वार खोल दिये हैं जिसमें अब तक अन्धकार रुका खड़ा था; तु०— ऋ० ३, ५, १। वें० तथा सा० द्वारा को ब० का रूप मानकर इसका व्याख्यान "द्वाराणि" करते हैं। परन्तु ग्रा०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसे द्वि० का रूप मानते हैं और यही मत वैदिक प्रयोग के अनुकूल है (वै० व्या० ११८)।

वि+अव्रन्=√वृ+विकरण—लुग्—लुङ् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २६५)। **उच्छन्तीः** = √वस् "चमकना" (वै० व्या० २२६. १) + शतृ + स्त्री० ब०। दे०— ऋ० १, ४६, ४ पर टि०।

छ०— अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा, द्वितीय पाद में स्वरवो अध्वरेषु, तृतीय पाद में वि ऊ·········दुआरा (द्वारा के लिये), तथा चतुर्थ पाद के आदि में उच्छन्तीर् उच्चारण अपेक्षित है। ग्रा०, मै० आदि के मतानुसार पावकाः के स्थान पर पवाकाः उच्चारण छन्द के विचार से अपेक्षित है (वै० व्या० ४२०. ५), परन्तु भारतीय मत इसका समर्थन नहीं करता है।

३. **उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान्**	**उच्छन्तीः। अद्य। चितयन्त। भोजान्।**
राधोदेयायोषसो मघोनीः।	**राधःऽदेयाय। उषसः। मघोनीः।**
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्व-	**अचित्रे। अन्तरिति। पणयः। ससन्तु।**
बुध्यमानास्तमसो विमध्ये॥	**अबुध्यमानाः। तमसः। विऽमध्ये॥**

अनु०— चमकती हुई (उच्छन्तीः) तथा दानशील (मघोनीः) उषाएँ आज उदार लोगों को (भोजान्) उपहार-दान के लिये (राधोदेयाय) जगाएं

(चितयन्त)। कञ्जूस लोग (पणयः) अन्धकार के बीच (तमसो विमध्ये) न जागते हुए (अबुध्यमानाः) घोर अन्धकार में (अचित्रे अन्तः) सोये रहें (ससन्तु)।

टि०— चितयन्त= √चित्+णि+विमू० प्र० पु० ब० आ० (वै० व्या० २९१)। वें० द्वारा किया गया "बोधयन्तु" व्याख्यान सा० के "प्रज्ञापयन्ति" व्याख्यान से साधीयस् है। तु०— ऋ० १, १२४, १०। अचित्रे= जैसा कि वें० ने इसका व्याख्यान "चित्ररहिते। अप्रज्ञायमानसर्वपदार्थे" किया है, इसका वास्तविक अर्थ "घोर अन्धकार में" है जिसमें सब कुछ अस्पष्ट है। और इसी विचार पर बल देने के लिये चतुर्थ पाद में पुनः तमसो विमध्ये का प्रयोग किया गया है।

छ०— अक्षर-पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद में राधोदेयाय उषसो, तृतीय पाद के अन्त में ससन्तु, तथा चतुर्थ पाद के आदि में अबुध्यमानास् उच्चारण अपेक्षित है।

४. कुवित्स देवीः सनयो नवो वा	कुवित्। सः। देवीः। सनयः। नवः। वा।
यामो बभूयादुषसो वो अद्य।	यामः। बभूयात्। उषसः। वः। अद्य।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे	येन। नवऽग्वे। अङ्गिरे। दशऽग्वे।
सप्तास्ये रेवती रेवदूष॥	सप्तऽआस्ये। रेवतीः। रेवत्। ऊष॥

अनु०— हे उषा देवियो (उषसः, देवीः)! क्या (कुवित्) तुम्हारा (वः) वह पुरातन (सनयः) या नूतन (नवः) रथ (यामः) आज (अद्य) उसी प्रकार होगा (बभूयात्)? जिसके द्वारा, हे धनसम्पन्न देवियो (रेवतीः)! तुम (अतीत में) नवग्व, अङ्गिर तथा सप्तास्य (सात मुखों वाले?) दशग्व पर वैभवपूर्वक (रेवत्) चमकी थीं (ऊष)।

टि०— यामः= सा० ने इसका व्याख्यान "गमनसाधनः, रथः" किया है और ग्रि० तथा ग्रा० (कोष) इसे स्वीकार करता है। परन्तु गै० "यात्रा" अनुवाद

करते हुए टि० में "यात्रा या मार्ग" व्याख्यान करता है, जबकि मै० इसका अनुवाद "course" (मार्ग) करता है। उषा के प्रसंग में याम के प्रयोगों पर विचार करते हुए, सा० का व्याख्यान अधिक समीचीन है। बभूयात्=√भू के लिड्वर्ग के अङ्ग से विलि० प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६२ क)। कुवित् के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ च)। ऊष=√वस् "चमकना" लिट्+म० पु० ब० (वै० व्या० २५४ घ)। येन के कारण यह ति० सोदात्त है। उषस:, देवी:, रेवती:=ये सं० सर्वानुदात्त हैं (वै० व्या० ४१२)।

सप्तास्ये=दे०— ऋ० ४, ५०, ४ पर टि०। रेवत्=यह यहाँ पर क्रिवि० है और सा० ने इसका व्याख्यान "धनवत् यथा भवति तथा" किया है जो समीचीन है।

छ०— चतुर्थ पाद के आदि में सप्तआस्ये उच्चारण अपेक्षित है।

५. यूयं हि दे॑वीर्ऋ॑तयुग्भि॒रश्वैः॑	यू॒यम् । हि । दे॒वीः॒ । ऋ॒त॒ऽयुक्ऽभिः॑ । अश्वैः॑ ।
परिप्रया॒थ भुव॑नानि स॒द्यः ।	प॒रि॒ऽप्र॒या॒थ । भुव॑नानि । स॒द्यः ।
प्र॒बो॒धय॑न्तीरुषसः स॒सन्तं॑	प्र॒ऽबो॒धय॑न्तीः । उ॒ष॒सः॒ । स॒सन्त॑म् ।
द्वि॒पाच्चतु॑ष्पाच्च॒रथा॑य जी॒वम् ॥	द्वि॒ऽपात् । चतुः॑ऽपात् । च॒रथा॑य । जी॒वम् ॥

अनु०— हे उषा देवियो (उषस:, देवी:), सोये हुए (ससन्तम्) द्विपाद् तथा चतुष्पाद् जीवलोक को (जीवम्) चलने के लिये (चरथाय) जगाती हुई (प्रबोधयन्ती:), तुम शाश्वत नियम के अनुसार जोते जाने वाले (ऋतयुग्भि:) अश्वों के द्वारा (अश्वै:) तत्काल (सद्य:) सब लोकों में (भुवनानि) पहुँच जाती हो (परिप्रयाथ)।

टि०— परिप्रयाथ=हि के कारण ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ च) और इसके साथ समस्त उपसर्ग अनुदात्त हैं (वही, ४१४ ख)। भुवनानि=वें०; सा० आदि भाष्यकारों का मत स्वीकार करते हुए ग्रि० तथा मै० ने इसका अनुवाद "worlds" किया है, जबकि ग्रा० तथा गै० इसका अर्थ यहाँ पर "सत्त्व" (beings)

करते हैं। यहाँ पर सा० आदि का मत अधिक समीचीन है; दे०— ऋ० १, १४३, ४ पर टि०। सद्यः=ग्रा०, गै०, मै० आदि विद्वान् व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ "एक दिन में" करते हैं, परन्तु यहाँ पर इस पद का अर्थ "तत्काल" है, जैसा कि भाष्यकार मानते हैं; तु०— ऋ० ७, ७५, ४। जीवम्=जातिवाचक होते हुए यह ए० यहाँ पर "जीवलोक" का वाचक है। ऋतयुग्भिः=दे० ऋ० ७, ७१, ३ पर टि०।

६. क्व॑ स्विदासां कत॒मा पु॑रा॒णी — क्व॑। स्वि॒त्। आ॒सा॒म्। क॒त॒मा। पु॒रा॒णी।
य॒या॑ वि॒धाना॑ विद॒धुर्ऋ॒भूणा॑म्। — य॒या॑। वि॒ऽधाना॑। वि॒ऽद॒धुः। ऋ॒भूणा॑म्।
शु॒भं॑ यच्छु॒भ्रा उ॒षस॒श्चर॑न्ति — शु॒भम्। यत्। शु॒भ्राः। उ॒षसः॑। चर॑न्ति।
न वि ज्ञा॑यन्ते स॒दृशी॑रजु॒र्याः॥ — न। वि। ज्ञा॒य॒न्ते॒। स॒ऽदृशीः॑। अ॒जु॒र्याः॥

अनु०— इन उषाओं में से (आसाम्) पुरातन (पुराणी) उषा कहाँ है (क्व) और कौन सी है (कतमा), जिससे (यया) (देवताओं ने) ऋभुओं के पूर्वापर क्रमों को (विधाना) निश्चित किया (विदधुः); क्योंकि (यद्) शुभ्र उषाएँ (शुभ्राः) उसी देदीप्यमान मार्ग पर (शुभम्) चलती हैं (चरन्ति), और कभी बूढ़ी न होने वालीं (अजुर्याः), एक जैसी (सदृशाः) उषाएँ, एक-दूसरी से भिन्न प्रतीत नहीं होती हैं (न वि ज्ञायन्ते)।

टि०— विधाना = विधान का द्विती० ब०। इसका व्याख्यान वें० "विधातव्यानि तेजांसि" और सा० "चमसादिनिर्माणानि" करता है। ग्रा० (कोष) इसका अर्थ "क्रम, विभाजन" करता है, जबकि गै० तथा मै० आदि सा० का अनुसरण करते हुए "विधातव्य कार्य" (tasks) अनुवाद करते हैं और अपने मत के समर्थन में ऋ० १, १६१, २ का निर्देश करते हैं। ग्रि० इसका अनुवाद "regulations" करता है और इसका भावार्थ "seasons of the year" करता है। ऋ० में विधान शब्द के केवल दो प्रयोग हैं और दूसरा प्रयोग ऋ० १०, १३८, ६ में मिलता है। प्रसंग पर विचार करने से ग्रा० द्वारा सुझाया गया अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। वि+दधुः=√धा+लिट् प्र० पु० ब०; यया के कारण सोदात्त है। यद्=यद्यपि

सा० इसका व्याख्यान "याः" और वें०, गै०, मै०, ग्रि० आदि "यदा" करते हैं, यहाँ पर यह "यतः" (क्योंकि) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

छं०— ग्रा०, मै० आदि के मतानुसार, क्व का कुग्र उच्चारण अपेक्षित है।

७. ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुर् — ताः। घ। ताः। भद्राः। उषसः। पुरा। आसुः।
अभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः। — अभिष्टिऽद्युम्नाः। ऋतजातऽसत्याः।
यास्वीजानः शशमान उक्थैः — यासु। ईजानः। शशमानः। उक्थैः।
स्तुवञ्छंसन् द्रविणं सद्य आप ॥ — स्तुवन्। शंसन्। द्रविणम्। सद्यः। आप ॥

अनु०—सहायता के निमित्त द्युति वालीं (अभिष्टिद्युम्नाः) तथा शाश्वत नियम के अनुसार उत्पन्न सत्य अर्थात् सत्ता वालीं (ऋतजातसत्याः) वे (ताः) कल्याणकारिणी (भद्राः) उषाएं निश्चय ही (घ) पहले (पुरा) (प्रकट) हुई थीं (आसुः); जिन में स्तोत्रों से (उक्थैः) यज्ञ करते हुए (ईजानः), स्तुति करते हुए (स्तुवन्) तथा इच्छा करते हुए (शंसन्) उपासक ने (शशमानः) तत्काल (सद्यः) धन (द्रविणम्) प्राप्त किया (आप)।

टि०—पुरा आसुः=√अस् "होना"+लिट् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २५३)। पुरा के साथ लिट् के प्रयोग के लिये दे०—वै० व्या० ३१८। अभिष्टि-द्युम्नाः="सहायता के निमित्त जिन की द्युति है वे"। बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। अभिष्टि के व्याख्यान के लिये दे०—ऋ० ३, ५९, ८ के अभिष्टिशवसे पर टि० और द्युम्न के व्याख्यान के लिये=ऋ० ३, ५९, ६ पर टि०। ऋतजातसत्याः=इसका व्याख्यान वें० "यज्ञार्थं जातसत्यभूतसर्वपदार्थाः" और सा० "ऋतार्थं यज्ञार्थं जाताश्च ताः सत्याः सत्यफलाश्च" करता है। गै० ने इस का अनुवाद "उचित समय पर उत्पन्न तथा विश्वसनीय", ग्रि० ने "true with the truth that springs from holy order" और मै० ने "punctually true" अनुवाद तथा "true as produced by established order" व्याख्यान किया है। मो० ने इस का अर्थ "appearing at the proper time and true or constant" किया है। वास्तव में यह बस० है जैसा कि पूर्वपद के उदात्त से स्पष्ट है। अतएव इस का अर्थ है— "जिन का सत्य

(सत्ता) शाश्वत नियम से उत्पन्न हुआ है वे" (ऋतेन जातं सत्यं यासां ताः)। ईजानः=√यज्+कानच् (वै० व्या० ३३२ ग)। शशमानः=दे०—ऋ० १, ८५, १२; २, १२, १४ पर टि०। आप=√आप्+लिट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २५३, १)। शंसन्=√शंस्+शतृ प्रथ० ए० पुं०। यद्यपि सा०, गै०, ग्रा०, ग्रि०, मै० आदि विद्वान् इस का अर्थ "प्रशंसा करता हुआ" करते हैं, यहां पर इस का अर्थ आशंसन् के समान "इच्छा करता हुआ" है।

८. ता आ च॑रन्ति सम॒ना पु॒रस्ता॑त् ताः। आ। च॒र॒न्ति॒। स॒म॒ना। पु॒रस्ता॑त्।
स॒मा॒नत॑ः सम॒ना प॑प्रथा॒नाः। स॒मा॒नत॑ः। स॒म॒ना। प॒प्र॒था॒नाः।
ऋ॒तस्य॑ दे॒वीः सद॑सो बुधा॒ना ऋ॒तस्य॑। दे॒वीः। सद॑सः। बु॒धा॒नाः।
गवां॑ न सर्गा॑ उ॒षसो॑ जरन्ते॥ गवा॑म्। न। सर्गा॑ः। उ॒षसः॑। ज॒र॒न्ते॒॥

अनु०—समान अर्थात् एक ही स्थान से (समानतः) एक-साथ (समना) फैलती हुई (पप्रथानाः), वे उषाएं हमारे सम्मुख अर्थात् पूर्व दिशा में (पुरस्तात्) एक-साथ (समना) पहुंचती हैं (आ चरन्ति)। शाश्वत नियम के (ऋतस्य) सदन से (सदसः) जागती हुई (बुधानाः) उषा देवियां (देवीः, उषसः), मुक्त किये गये गो-समूहों की भांति (गवां न सर्गाः), चलती हैं (जरन्ते)।

टि०—समना=इस का व्याख्यान वें० "समानमेव" और सा० "सर्वतः" करता है। ऋचा ९ के भाष्य में वें० "समाने काले" और सा० "समानाः एकधेत्यर्थः" व्याख्यान करता है। अन्यत्र वें० तथा सा० ने विभिन्न प्रकार के व्याख्यान किये हैं। इस विषय में ग्रा० (कोष) का मत है कि समना मूलतः समन वि० के स्त्री० का तृ० ए० का रूप है और क्रिवि० के रूप में प्रयुक्त होता है; तदनुसार यहां पर तथा अगली ऋचा में इस का अर्थ "एक-साथ, एक समय में" है। मो० तथा कीथ (तै० सं०) इसी मत का अनुसरण करते हैं और यही मत समीचीन है। परन्तु गै० तथा मै० दोनों "equally" अनुवाद करते हैं और मै० V. R. के शब्द-कोष में इस का व्याख्यान "in the same way" करता है। ग्रा० का व्याख्यान ग्राह्य है। ग्रि० प्रथम पाद के समना का अनुवाद "all at once" और द्वितीय पाद के समना का अनुवाद "in the self-same manner" करता है। ऋतस्य सदसः=सदस् "सदन" का पं० ए०। बुधानाः=वें०

"जानत्यः", सा० "बोधयन्त्यः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्"। वास्तव में इस का सम्बन्ध "सदसः" से है और यह अकर्मक धातु का रूप है "जागती हुई"; तु०—अबोधि (ऋ० १, ९२, ११; १२३, २; ७, ८०, २)। गवां न सर्गाः=वें० "गवाम्। इव। सर्गाः", सा० "उदकानां सृष्टय इव"। गै० ने "गायों के समूहों की भांति" अनुवाद किया है, जबकि मै० "like herds of kine let loose" "अनुवाद करता है जो व्युत्पत्ति तथा प्रसंग के अनुसार है। ग्रा०, मो० आदि ने भी ऐसा ही अर्थ सुझाया है। ऋ० ४, ५२, ५ के भाष्य में वें० इन पदों का व्याख्यान "विसृष्टा इव गावः" करता है। मै० का व्याख्यान ग्राह्य है। सर्गाः का अभिप्राय ऐसे "समूहों" से है जिन्हें बाहिर जाने के लिये "मुक्त" किया गया है; दे०—ऋ० ३, ३३, ४ पर टि०। जरन्ते=वें० तथा सा० "स्तूयन्ते"। गै० तथा मै० "जागती हैं" अनुवाद करते हैं और मै० टि० में कहता है "are awake=are active, are on the move." परन्तु ग्रा० √जर् को √चर् का विकार मानते हुए जरन्ते का अर्थ "समीप आती हैं" करता है और मो० तथा ग्रि० इसी का अनुसरण करते हैं। इसे कर्मवाच्य की अपेक्षा कर्तृवाच्य का क्रियारूप मानना अधिक समीचीन है। इस का अर्थ सन्दिग्ध अवश्य है, तथापि ग्रा० का व्याख्यान अधिक सम्भाव्य है। प्रसंगानुसार यहाँ पर "चलती हैं" अर्थ उपयुक्त है।

९.	ता इन्न्वे॒३॒व स॒मना॑ समा॒नीर्	ताः। इत्। नु। ए॒व। स॒मना॑। स॒मा॒नीः।
	अमी॑तवर्णा उ॒षस॑श्चरन्ति।	अमी॑तऽवर्णाः। उ॒षसः॑। च॒र॒न्ति॒।
	गूह॑न्ती॒रभ्व॒मसि॑तं॒ रुश॑द्भिः	गूह॑न्तीः। अभ्व॑म्। असि॑तम्। रुश॑त्ऽभिः।
	शु॒क्रास्त॒नूभि॒ः शुच॑यो रुचा॒नाः॥	शु॒क्राः। त॒नूभिः॑। शुच॑यः। रु॒चा॒नाः॥

अनु०—कृष्ण वर्ण के (असितम्) पीडक बल (अभ्वम्) अर्थात् विशाल अन्धकार को अपने श्वेत (रुशद्भिः) शरीरों से (तनूभिः) अर्थात् किरणों से छिपाती हुई (गूहन्तीः), शुभ्र (शुक्राः), पवित्र (शुचयः), चमकती हुई (रुचानाः), तथा अपरिवर्तित वर्णयुक्त (अमीतवर्णाः) वे (ताः) समान (समानीः) उषाएं अब भी (इत् नु एव) एक-साथ (समना) चलती हैं (चरन्ति)।

टि०—अमीतवर्णाः=वें० "अम्लानवर्णाः", सा० "अहिंसितवर्णा अपरिमितवर्णा वा"। ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इस का व्याख्यान "अपरिवर्तित-वर्ण-युक्त" करते हैं और √मी + क्त द्वारा बने मीत के साथ नञ् बस० मानते हैं। परन्तु उस अवस्था में इस का स्वर अनियमित रहता है, क्योंकि नञ् बस० का उदात्त उत्तरपद पर रहना चाहिए (वै० व्या० ३९९ क० १)। अभ्वम्=इस के व्याख्यान के लिये दे०—ऋ० २, ३३, १० पर टि०। रुशद्भिः=रुशत् "चमकता हुआ (श्वेत)" (दे०—ऋ० १, ११५, ५ पर टि०)+तृ० ब० तनूभिः का वि० है। इन्वे॒३॑व=इस स्वतन्त्र स्वरित के चिह्नांकन के लिये दे० वै० व्या० ३६१, ६।

छ०—प्रथमपाद में अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा इन्नु एव उच्चारण अपेक्षित है।

१०. र॒यिं दि॒वो दु॑हितरो विभा॒तीः — र॒यिम्। दि॒वः। दु॒हि॒त॒रः। वि॒ऽभा॒तीः।
प्र॒जाव॑न्तं यच्छता॒स्मासु॑ देवीः। — प्र॒जाऽव॑न्तम्। य॒च्छ॒त॒। अ॒स्मासु॑। दे॒वीः।
स्यो॒नादा व॑: प्रति॒बुध्य॑मानाः — स्यो॒नात्। आ। व॒:। प्र॒ति॒ऽबुध्य॑मानाः।
सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम॥ — सु॒ऽवीर्य॑स्य। पत॑यः। स्या॒म॥

अनु०—हे द्युलोक की (दिवः) पुत्रियो (दुहितरः), उषा देवियो (देवीः), तुम चमकती हुई (विभातीः) तथा अपने (वः) सुखप्रद आसन से (स्योनात्) इस ओर जागती हुई (आ प्रतिबुध्यमानाः), हमें (अस्मासु) सन्तानयुक्त (प्रजावन्तम्) सम्पत्ति (रयिम्) प्रदान करो (यच्छत)। हम अच्छे वीरपुत्रयुक्त धन के (सुवीर्यस्य) स्वामी (पतयः) बनें (स्याम)।

टि०—दिवः दुहितरः=सं० पद दुहितरः से सम्बद्ध होने के कारण ष० पद दिवः का स्वर भी सर्वानुदात्त है (वै० व्या० ४१२, ३)। स्योनात् आ वः प्रतिबुध्यमानाः =वें "सुखात् स्थानात् यूयम् प्रतिबुध्यमानाः भवथ। सुखहेतोर्वा युष्मान् सर्वतः प्रतिबोधयन्तः"; सा० "स्योनात् सुखात् निमित्तभूतात् वः युष्मान् प्रतिबुध्यमानाः प्रतिबोधयन्तो वयम्"। ग्रि०, गै० तथा मै० प्रतिबोधयन्तः को अध्याहृत "वयम्" से सम्बद्ध करते हुए इस का अर्थ "(हम) जागते हुए" करते हैं। मै० ने स्योनात् का अर्थ

"from our soft couch" और गें० ने "सुखप्रद (आसन) से" किया है। वास्तव में वें० का प्रथम व्याख्यान उचित है। तदनुसार इस पाद के सभी पद उषाओं से सम्बद्ध हैं और वः ष० ब० का रूप है। ग्रि०, गें०, मैं० आदि के अनुसार अध्याहृत "वयम्" के साथ इन सब पदों को सम्बद्ध करने से वः का व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं होता है।

छ०—ग्रा०, मैं० आदि के मतानुसार, अक्षरपूर्ति के लिये स्योनादा का सिओनादा, सुवीर्यस्य का सुवीरिअस्य तथा स्याम का सिआम उच्चारण अपेक्षित है।

११. तद्वो॑ दिवो दुहितरो विभातीर्	तत् । वः । दिवः । दुहितरः । विऽभातीः ।
उप॑ ब्रुव उषसो यज्ञके॑तुः ।	उप॑ । ब्रुवे । उषसः । यज्ञऽके॑तुः ।
वयं स्या॑म यशसो जने॑षु	वयम् । स्याम । यशसः । जने॑षु ।
तद् द्यौश्च॑ धत्तां पृथिवी च॑ देवी ॥	तत् । द्यौः । च । धत्ताम् । पृथिवी । च । देवी ॥

अनु०—हे द्युलोक की (दिवः) पुत्रियो (दुहितरः), उषाओ (उषसः), मैं यज्ञरूपी पताका वाला उपासक (यज्ञकेतुः) तुम (वः) चमकती हुई (विभातीः) उषाओं से यह (तद्) प्रार्थना करता हूं (उप ब्रुवे) (कि) हम (वयम्) लोगों में (जनेषु) यशस्वी (यशसः) हों (स्याम)। द्युलोक (द्यौः) तथा पृथिवी देवी (पृथिवी) हमें यह वर (तद्) प्रदान करें (धत्ताम्)।

विशेषः—ऋषि प्रथम अर्धर्च में ए० में और द्वितीय में ब० में प्रार्थना करता है।

टि०—यज्ञकेतुः=बस०, अहम् का वि०। वः=युष्मान्, विभातीः से अन्वित। यशसः=अन्तोदात्त यशस् शब्द वि० "यशस्वी" है; दे०—ऋ० १, १, ३ पर टि०। धत्ताम्=√धा+लोट् प्र० पु० द्वि० (वै० व्या० २४०, ३)। च के कारण यह तिं० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ च)।

छ०—ग्रा०, मैं० आदि के मतानुसार, स्याम का सिआम उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ. ६, ५४ (पूषा)

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । देवता—पूषा । छन्दः—गायत्री ।

१. सं पूषन् विदुषा नय	सम् । पूषन् । विदुषा । नय ।
यो अञ्जसानुशासति ।	यः । अञ्जसा । अनुऽशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥	यः । एव । इदम् । इति । ब्रवत् ॥

अनु०—हे पूषा देवता (पूषन्) ! तुम हमें ज्ञानवान् पुरुष से (विदुषा) मिलाओ (सं नय) जो सीधा (अञ्जसा) उस ओर पथ-प्रदर्शन करे (अनुशासति) (जहां हमारा खोया हुआ धन है) और जो निश्चयपूर्वक कहे (ब्रवत्) इदम् इति "यह है" । ^

टि०—अनुशासति=अनु+√शास्+लेट् प्र० पु० ए० । इसी प्रकार ऋचा २ का अभिशासति रूप बनता है । ब्रवत्=√ब्रू+लेट् प्र० पु० ए० ।

२. समु पूष्णा गमेमहि	सम् । ऊँ इति । पूष्णा । गमेमहि ।
यो गृहाँ अभिशासति ।	यः । गृहान् । अभिऽशासति ।
इम एवेति च ब्रवत् ॥	इमे । एव । इति । च । ब्रवत् ।

अनु०—हम पूषा देवता के साथ (पूष्णा) संगति करें (सं गमेमहि) अर्थात् पूषा से संयुक्त हों जो (मार्ग भूल जाने पर) घरों की ओर हमारा पथ-प्रदर्शन करे (अभिशासति) तथा कहे (ब्रवत्) "ये ही हैं" (इमे एव इति)

टि०—सम्+गमेमहि=√गम्+अङ्लुङ् के अङ्ग से विलि० उ० पु० ब० (वै० व्या० २६६ घ) । अभिशासति=दे०—ऋचा १ में अनुशासति पर टि० ।

३. पूष्णश्चक्रं न रिष्यति	पूष्णः । चक्रम् । न । रिष्यति ।
न कोशोऽव पद्यते ।	न । कोशः । अव । पद्यते ।
नो अस्य व्यथते पविः ॥	नो इति । अस्य । व्यथते । पविः ॥

अनु०—पूषा के (**पूष्णः**) रथ का चक्र क्षतिग्रस्त नहीं होता है (**न रिष्यति**); इस के रथ का आसन (**कोशः**) नहीं गिरता है (**न अव पद्यते**); और न इसकी रथनेमि (**पविः**) अपने स्थान से विचलित होती है (**व्यथते**)।

टि०—**चक्रम्, कोशः, पविः**=ये तीनों शब्द पूषा के रथ के तीन महत्त्वपूर्ण अवयवों को अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि वें० तथा सा० **चक्रम्** का अर्थ "आयुधम्" करते हैं, तथापि यह शब्द "रथ के पहिये" का वाचक है जैसा कि स्क० तथा आधुनिक विद्वान् मानते हैं और प्रसंग से स्पष्ट है। सा० **कोशः** का अर्थ "अस्य चक्रस्य कोशः" और स्क० "दधिदृतिः" करता है। यद्यपि ऋ० ५, ८३, ८ में **कोश** शब्द "डोल" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (दे०—टि०), यहां पर प्रसंगानुसार ऐसा अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होता है। रोट, ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा पी० इस का अर्थ "the box of a carriage" करते हैं, जब कि मै० ने इस का अनुवाद "the well (of his car)" किया है। रोट प्रभृति का व्याख्यान सम्भव है, परन्तु मै० का अनुवाद श्लाघ्य नहीं है। ऋ० ८, २०, ८ तथा ८, २२, ९ में "**रथे कोशे हिरण्यये**" प्रयोग मिलता है जिस से स्पष्ट है कि रथ के अवयव-विशेष के लिये **कोश** शब्द प्रयुक्त होता था। ऋ० ८, २०, ८ के भाष्य में सा० ने "रथे कोशे कोशवद्वेष्टिते मध्यदेशे" और ८, २२, ९ के भाष्य में "कोशे आयुधादीनां कोशस्थाने रमणशीले रथे" व्याख्यान किया है। ऋ० ८, २२, ९ "**आ हि रुहतमश्विना रथे कोशे हिरण्यये**" में अश्विनौ से प्रार्थना की गई है कि वे "रथ में कोश पर आरूढ़ हों"। इस से प्रतीत होता है कि रथ में बैठने के लिये एक विशेष प्रकार का (गहरा ?) आसन होता था जिसे **कोश** कहते थे। वें० तथा सा० **पविः** को "आयुध" की धारा मानते हैं, जब कि स्क० इस का व्याख्यान "रथचक्रधारा" करता है। ग्रा०, गै०, पी०, मै०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् **पविः** का अर्थ "रथनेमिः" (tire or felly of a wheel) करते हैं और ऋ० १, ३४, २; ८८, २; १३९, ३; १८०, १ तथा ५, ५२, ९ के प्रयोगों से इस मत की पुष्टि होती है। ऋ० १, १३९, ३ तथा १८०, १ के भाष्य में सा० भी **पवि** का अर्थ "नेमि" करता है। यही मत समीचीन है। **न व्यथते**=स्क० "न विनश्यति", सा० "न कुण्ठीभवति", ग्रा०, मो०, मै० "does not waver"; पी० "is not shattered"; ग्रि० तथा गै० "ढीली नहीं होती है"। ऋ० ३, ५४, ८; ५, ३७, ४; ५४, ७; १०, १०७, ८ में √व्यथ् के जो प्रयोग मिलते हैं उन से स्पष्ट है कि ऋ० में √व्यथ् का अर्थ "अपने स्थान से विचलित होना या डगमगाना" है। धापा० में "व्यथ भयसंचलनयोः" अर्थ दिये गये हैं जिन में से "संचलन" अर्थ ऋ० में घटता है।

छ०—द्वितीय पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा **कोशो अव** उच्चारण अपेक्षित है।

४.	यो अस्मै हविषाविधन्	यः । अस्मै । हविषा । अविधत् ।
	न तं पूषापि मृष्यते ।	न । तम् । पूषा । अपि । मृष्यते ।
	प्रथमो विन्दते वसु ॥	प्रथमः । विन्दते । वसु ।

अनु०—जिस मनुष्य ने हविर्दान से (हविषा) इसकी पूजा की है (अविधत्), उसे पूषा देवता नहीं भूलता है (न अपि मृष्यते)। ऐसा मनुष्य सर्वप्रथम धन (वसु) प्राप्त करता है (विन्दते)।

टि०—न अपि मृष्यते=स्क० "मृष्यति क्षमार्थः, मृष तितिक्षायामिति । न क्षमते । नोपेक्षत इत्यर्थः" ; वें० "स्वेन दत्तधनम् आढ्यं दृष्ट्वा स्वयमेवाभ्यसूयति" ; सा० "अपिशब्द ईषदर्थे । ईषदपि न हिनस्ति"। ग्रा०, मो०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् यहां पर अपि को उपसर्ग मानते हैं और अपि+√मृष् का अर्थ "to forget, to neglect" मानते हैं। ऋ० ७, २२ ५; ३, ३३, ८ इत्यादि में उपलब्ध प्रयोगों से इस मत की पुष्टि होती है। ऋ० ७, २८, २१ के न ते भोजस्य सख्यं मृषन्त का भाष्य सा० भी "भोजस्य भोजकस्य पालकस्य ते तव सख्यं सख्युः कर्म स्तोत्रं यजनं वा न मृषन्त न विस्मरन्ति" करता है। यहां पर अपि+मृष्यते का अर्थ है "भूलता है" ; तु०—ऋ० ३, ३३, ८ पर टि०।

५.	पूषा गा अन्वेतु नः	पूषा । गाः । अनु । एतु । नः ।
	पूषा रक्षत्वर्वतः ।	पूषा । रक्षतु । अर्वतः ।
	पूषा वाजं सनोतु नः ।	पूषा । वाजम् । सनोतु । नः ॥

अनु०—पूषा देवता हमारी (नः) गायों के (गाः) पीछे-पीछे चले (अन्वेतु) अर्थात् सदा उनका ध्यान रखे ताकि वे गुम न हों, और हमारे घोड़ों की (अर्वतः) रक्षा करे। पूषा देवता हमारे लिये (नः) अन्न (वाजम्) प्राप्त करे (सनोतु)।

छ०—सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रथमपाद में अनु एतु तथा द्वितीय पाद में रक्षतु अर्वतः उच्चारण अपेक्षित है।

६.	पूषन्ननु प्र गा इहि	पूषन् । अनु । प्र । गाः । इहि ।
	यजमानस्य सुन्वतः ।	यजमानस्य । सुन्वतः ।
	अस्माकं स्तुवतामुत ॥	अस्माकम् । स्तुवताम् । उत ॥

अनु०—हे पूषा देवता (पूषन्) ! तुम्हारे लिये सोम का रस निकालते हुए (सुन्वतः) यजमान की गायों के (गाः) पीछे-पीछे उनकी रक्षार्थ चलो (अनु प्र इहि), और (उत) तुम्हारी स्तुति करते हुए (स्तुवताम्) हम लोगों की (गायों के पीछे-पीछे भी चलो)।

७.	माकिर्नेशन्माकीं रिषन्	माकिः । नेशत् । माकीम् । रिषत् ।
	माकीं सं शारि केवटे ।	माकीम् । सम् । शारि । केवटे ।
	अथारिष्टाभिरा गहि ।	अथ । अरिष्टाभिः । आ । गहि ॥

अनु०—कोई गाय गुम न हो (माकिः, नेशत्); कोई गाय क्षति-ग्रस्त न हो (माकीम्, रिषत्); गढे में (केवटे) गिर कर कोई घायल न हो (माकीम्, सं शारि)। और (अथ) तुम हमारी सकुशल गायों के साथ (अरिष्टाभिः) आओ (आ गहि)।

तु०—अ० ४, १२, ७; १२, ४, ३।

टि०—माकिः, माकीम्=सा० "माकिर्माकीमित्येतौ प्रतिषेधमात्रे वर्तेते"। जैसा कि सा० ने स्पष्ट किया है, ये दोनों अव्यय निषेधवाचक हैं और विमू० के रूपों के साथ इन का प्रयोग मिलता है। माकिः तथा माकीम् का शाब्दिक अर्थ "कोई नहीं" (स्क०, वें० "मा काचित्") है। नेशत्=√नश्+चङ्लुङ् से विमू० प्र० पु० ए० (वै० व्या० २७३)। रिषत्=√रिष् अङ्लुङ् से विमू० प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६९)। शारि=√शॄ+लुङ् से विमू० (कवा०) प्र० पु० ए० (वै० व्या० ३१३)। केवटे=निघ० ३, २३ के अनुसार, स्क०, वें० तथा सा० इसका व्याख्यान "कूपे" करते हैं। परन्तु ग्रा०, ग्रि०, गे०, मो०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ (तु०—अवट) "गढ़ा" करते हैं और प्रसंगानुसार यही अर्थ समीचीन है। गहि=दे०—ऋ० १, १९, १ पर टि०।

८.	शृण्वन्तं पूषणं वयम् ।	शृण्वन्तम् । पूषणम् । वयम् ।
	इर्यमनष्टवेदसम् ।	इर्यम् । अनष्टऽवेदसम् ।
	ईशानं राय ईमहे ॥	ईशानम् । रायः । ईमहे ॥

अनु०—जो पूषा देवता हमारी प्रार्थना को सुनता है तथा सावधान है (इर्यम्), जिस का धन कभी गुम नहीं होता है (अनष्टवेदसम्), और जो धन का (रायः) स्वामी है (ईशानम्), उस (पूषा देवता) से हम (धन तथा उसकी सुरक्षा की) याचना करते हैं (ईमहे)।

टि०—इर्यम्=वें० "प्रेरकम्"; सा० "दारिद्रयस्य प्रेरकम्"; स्क० "अपठितमपि ईश्वरनामैतत्। अर्यशब्दस्य वा ईश्वरनाम्नः छान्दसम् आदेः इत्वम्"। ऋ० ७, १३, ३ तथा ८, ४१, ४ में इर्य शब्द गोपाः के विशेषण के रूप में, ५, ५८, ४ में राजानम् के साथ और १०, १००, ४ में अश्विनौ के लिये प्रयुक्त किया गया है। वें०, सा० आदि भाष्यकार कहीं पर इस का अर्थ "प्रेरक", कहीं पर "स्वामी या ईश्वर" और कहीं पर "इरा अन्नम्। तत्र भवौ। अन्नवन्तौ आद्यौ" करते हैं। ग्रा० तथा मो० अपने कोषों में इर्य के लिये "active, powerful" अर्थ सुझाते हैं। ह्विटने (अ०) ने इस का अनुवाद "active"; कीथ (तै० सं०) ने "busy"; और गे०, पी० तथा मै० ने "watchful" और ग्रि० ने "strong" किया है। इर्य की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, परन्तु इस के प्रयोगों के प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए, इस का "सावधान" अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है। अनष्टवेदसम्=स्क०, वें० "अनष्टसाधनम्"। सा० तथा आधुनिक विद्वान् भी इस व्याख्यान को स्वीकार करते हैं। बस० है। ईशानम्, रायः, ईमहे= वें० तथा सा० रायः को द्विती० ब० तथा ईमहे का कर्म ("धनं याचामहे") मानते हैं, जबकि स्क० तथा ग्रि०, ग्रा०, पी०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् रायः को रै का ष० ए० तथा ईशानम् का कर्म मानते हैं और यही मत समीचीन है (वै० व्या० ३८३ ख)। ईमहे=वें०, स्क०, सा० आदि भाष्यकार इस का व्याख्यान 'याचामहे" करते हैं, क्योंकि निघ० ३, १९ में ईमहे "याच्ञाकर्माणः" धातु-रूपों में गिनाया गया है। ग्रि०, गे० तथा पी० भी ऐसा ही अर्थ करते हैं, जबकि मै० इसे √ई "जाना" का रूप मानते हुए इस का अनुवाद "approach" करता है। इस धातु के वैदिक प्रयोगों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि "जाना" तथा "याचना करना" इन दोनों अर्थों में इसका प्रयोग मिलता है। यहां पर यह "याचना करना" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

९. पूषन्तव व्रते वयं	पूषन्। तव। व्रते। वयम्।
न रिष्येम कदा चन।	न। रिष्येम। कदा। चन।
स्तोतारस्त इह स्मसि॥	स्तोतारः। ते। इह। स्मसि॥

अनु०—हे पूषा देवता (पूषन्)! तेरे नियम में (व्रते) रहते हुए हम कभी क्षतिग्रस्त न हों (न रिष्येम)। हम यहाँ पर (इह) तुम्हारी स्तुति करने वाले (स्तोतारः) हैं (स्मसि)।

टि०—स्मसि = √अस् "होना" + लट् उ० पु० ब० (वै० व्या० २१२, २२५)।

१०. परि पूषा परस्ताद्	परि। पूषा। परस्तात्।
हस्तं दधातु दक्षिणम्।	हस्तम्। दधातु। दक्षिणम्।
पुनर्नो नष्टमाजतु॥	पुनः। नः। नष्टम्। आ। अजतु॥

अनु०—पूषा अपने दाएँ हाथ को दूर-दूर तक (**परस्तात्**) सब ओर स्थापित करे (**परिदधातु**) और हमारे (**नः**) गुम हुए पशुधन को (**नष्टम्**) पुनः इस ओर हाँके (**आ अजतु**)।

टि०—आ अजतु=सा० ने "आगच्छतु" व्याख्यान किया है जो उचित नहीं है। वें० ने "प्रेरयतु" तथा स्क० ने "आक्षिपतु। आनयत्वित्यर्थः" अर्थ किया है। √अज् का अर्थ "हाँकना" है।

छ०—ग्रा०, मै० आदि के मतानुसार छन्द के प्रथम पाद में अक्षरपूर्ति के लिये परस्ताद् का परस्तअद् उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ. ७, ४६ (आपः)

ऋषिः—वसिष्ठः । देवता—आपः । छन्दः—त्रिष्टुप् ।

१. समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्	समुद्रऽज्येष्ठाः । सलिलस्य । मध्यात् ।
पुनाना यन्त्यनिविशमानाः ।	पुनानाः । यन्ति । अनिऽविशमानाः ।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद	इन्द्रः । याः । वज्री । वृषभः । रराद ।
ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥	ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥

अनु०—जिन जलों में समुद्र प्रधान है (समुद्रज्येष्ठाः), अन्तरिक्षस्थ जलौघ के (सलिलस्य) मध्य से निकल कर जो जल पवित्र करते हुए (पुनानाः) तथा विश्राम न करते हुए (अनिविशमानाः) बहते रहते हैं (यन्ति), वर्षा करने वाले (वृषभः) तथा वज्रधारी (वज्री) इन्द्र ने जिन्हें (याः) खोद कर बहाया है (रराद); वे (ताः) दिव्य (देवीः) जल (आपः) यहां पर मेरी सहायता करें (अवन्तु) ।

भावार्थ—यहां पर आपः "नदियों के जलों" के लिये प्रयुक्त किया गया है ।

टि०—समुद्रज्येष्ठाः=वें० "समुद्रप्रथमाः", सा० "समुद्रोऽर्णवो ज्येष्ठः प्रशस्यतमो यासामपां ताः" । यह पद आपः का वि० है और बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९) । इसका पूर्वपद समुद्र "पार्थिव समुद्र" का वाचक है । सलिलस्य मध्यात्=वें० "अन्तरिक्षस्य मध्यात्" ; सा० "अन्तरिक्षनामैतत् । अन्तरिक्षस्य मध्यात् माध्यमिकात् स्थानात्" । रोट, गै०, मै० प्रभृति के मतानुसार, अन्तरिक्ष में विद्यमान (वायु में आर्द्रता का निमित्त) जलौघ अभिप्रेत है; तु०—ऋ० १०, ९८, ५, ६ (उत्तर समुद्र); ऋचा २ के 'दिव्या आपः' ; दे०—ऋ० १, १९, ७ के समुद्र पर टि० ।

अनिविशमानाः="कभी विश्राम न करती हुई"; आपः का वि०; तु०—ऋ० १, ३२, १०—अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम् । रराद=√रद् "खोदना" का लिट् प्र० पु० ए० ; याः के कारण सोदात्त है । वृषभः=दे० ऋ० २, १२, १२ पर टि० ।

छ०—द्वितीय पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा यन्ति अनिविशमानाः उच्चारण अपेक्षित है ।

२. या आपो॑ दि॒व्या उ॒त वा॒ स्रव॑न्ति	याः । आपः॑ । दि॒व्याः । उ॒त । वा॒ । स्रव॑न्ति ।
ख॒नित्रि॑मा उ॒त वा॒ याः स्व॑यं॒जाः ।	ख॒नित्रि॑माः । उ॒त । वा॒ । याः । स्व॒यम्ऽजाः ।
स॒मु॒द्रार्था॒ याः शुच॑यः पाव॒कास्	स॒मु॒द्रऽअ॑र्थाः । याः । शुच॑यः । पा॒व॒काः ।
ता आपो॑ दे॒वीरि॒ह माम॑वन्तु ॥	ताः । आपः॑ । दे॒वीः । इ॒ह । माम् । अ॒व॒न्तु ॥

अनु०—जो जल अन्तरिक्ष-सम्बन्धी हैं (दिव्याः) अर्थात् अन्तरिक्ष से बरसते हैं, या (उत वा) जो जल (नदी, नालों में) बहते हैं (स्रवन्ति), जो जल खुदाई के द्वारा निकाले जाते हैं (खनित्रिमाः) अर्थात् कूपों के जल, या (उत वा) जो जल स्वयम् निकलते हैं (स्वयंजाः) अर्थात् झरनों के जल, जिन चमकते हुए (शुचयः) तथा पावन (पावकाः) जलों का गन्तव्य स्थान समुद्र है (समुद्रार्थाः) अर्थात् समुद्र तक पहुँचने वाली नदियों के जल ; वे दिव्य जल (देवीः आपः) यहां पर मेरी सहायता करें । (इह माम् अवन्तु)

टि०—दिव्याः=वें० "अन्तरिक्ष्याः" ; सा० "अन्तरिक्षभवाः" । यद्यपि गै० आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इस का "द्युलोक-संबन्धी" शाब्दिक अर्थ किया है, यहां पर वें० तथा सा० का व्याख्यान समीचीन है और द्युलोक से संनिहित "अन्तरिक्ष" के लिये यहां पर दिव् का प्रयोग किया गया है । यहां पर वर्षा के जल अभिप्रेत हैं । खनित्रिमाः=वें० "कूप्याः" ; सा० "खननेन निवृत्ताः" । परन्तु मुइर की भांति मै० ने इस का व्याख्यान "Waters that flow in artificial channels" (नहरों में बहने वाले जल) किया है । यहां पर वें० का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है । स्वयंजाः=वें० "स्वयं-जाताः निम्नेषु देशेषु"; सा० "स्वयमेव प्रादुर्भवन्त्यः" । मै० ने इस का व्याख्यान

"Waters that come from springs" किया है जो सर्वथा समीचीन है। समुद्रार्थाः= वें० "समुद्रो गन्तव्यो यासां ताः समुद्रार्थाः नादेयाः"; सा० "समुद्र एवार्थो गन्तव्यो यासां ताः"। यह व्याख्यान समीचीन तथा सर्वसम्मत है। बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। शुचयः=सा० "दीप्तियुक्ताः"। दे०—ऋ० १, १४३, ६ पर टि०।

छ०—ग्रा०, मै० आदि पाश्चात्य विद्वान् पावकास् के स्थान पर पवाकास् उच्चारण सुझाते हैं (वैं० व्या० ४२०)।

३. यासां राजा वरुणो याति मध्ये	यासाम्। राजा। वरुणः। याति। मध्ये।
सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।	सत्यानृते इति। अवऽपश्यन्। जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्	मधुऽश्चुतः। शुचयः। याः। पावकाः।
ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥	ताः। आपः। देवीः। इह। माम्। अवन्तु॥

अनु०—लोगों के (जनानाम्) सत्य और झूठ को (सत्यानृते) ऊपर से देखता हुआ (अवपश्यन्) राजा वरुण जिन जलों के बीच में (यासां मध्ये) गमन करता है (याति), जो जल माधुर्य को टपकाने वाले (मधुश्चुतः), चमकते हुए (शुचयः) तथा पावन (पावकाः) हैं, वे दिव्य जल यहां पर मेरी सहायता करें।

टि०—यासां राजा=सा० यासाम् को राजा से अन्वित करते हुए "यासामपां राजा स्वामी मध्ये मध्यमलोके याति गच्छति" व्याख्यान करता है, जबकि ग्रा०, गै०, पी०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् यासाम् को मध्ये से अन्वित करते हुए राजा को वरुणः का स्वतन्त्र वि० मानते हैं। ऋचा ४ के यासु राजा प्रयोग से तथा अन्य वैदिक प्रयोगों से इस मत का समर्थन होता है; तु०—ऋ० १, २४, ७. ८. १२. १३; १५६, ४ इत्यादि। सत्यानृते=द्वन्द्वसमास (वैं० व्या० १८० क); प्रगृह्य होने के कारण पपा० में इतिकरण (वैं० व्या० ८८ क)। शुचयः=दे०—ऋचा २ पर टि०।

छ०—पावकास् के उच्चारण के लिये दे०—ऋचा २ के अन्त में छ०।

४. यासु राजा वरुणो यासु सोमो	यासु । राजा । वरुणः । यासु । सोमः ।
विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति ।	विश्वे । देवाः । यासु । ऊर्जम् । मदन्ति ।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्	वैश्वानरः । यासु । अग्निः । प्रऽविष्टः ।
ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥	ताः । आपः । देवीः । इह । माम् । अवन्तु ॥

अनु०—जिन जलों में राजा वरुण तथा सोम (विद्यमान हैं), जिन जलों में सब देवता बलदायक रस (**ऊर्जम्**) का आनन्द लेते हैं (**मदन्ति**), जिन जलों में वैश्वानर अग्नि समाया हुआ है (**प्रविष्टः**); वे दिव्य जल यहाँ पर मेरी सहायता करें।

टि०—यासु००, ऊर्जम्, मदन्ति=सा० मदन्ति क्रियापद को केवल विश्वे देवाः से अन्वित करता है और वरुणः तथा सोमः के साथ "वर्तते" का अध्याहार कर वाक्य-रचना करता है। परन्तु गै०, ग्रि०, पी०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् वरुणः तथा सोमः को भी मदन्ति से अन्वित करते हैं। सा० की वाक्यरचना अधिक समीचीन तथा वैदिक प्रयोग के अनुकूल है। ऊर्जम् पद मदन्ति का कर्म है। सा० ने ऊर्जम् का व्याख्यान "अन्नम्" किया है, जब कि ग्रा०, गै० तथा पी० "strength" और मै० "exhilarating strength" अर्थ करता है। ऊर्ज् शब्द "बल" तथा "बलदायक रस" इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहां पर "बलदायक रस" के अर्थ में ऊर्ज् का प्रयोग हुआ है।

छ०—सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद में यासु ऊर्ज और तृतीय पाद में यासु अग्निः उच्चारण छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये अपेक्षित है।

ऋ. ७, ६१ (मित्रावरुणा)

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—त्रिष्टुप्।

१. उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं	उत्। वाम्। चक्षुः। वरुणा। सुऽप्रतीकम्।
देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्।	देवयोः। एति। सूर्यः। ततन्वान्।
अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे	अभि। यः। विश्वा। भुवनानि। चष्टे।
स मन्युं मर्त्येष्वा चिकेत॥	सः। मन्युम्। मर्त्येषु। आ। चिकेत॥

अनु०—हे मित्र तथा वरुण (वरुणा)! तुम दोनों देवों का (वां देवयोः) सुन्दर (सुप्रतीकम्) नेत्र (चक्षुः), यह सूर्य, अपना तेज फैलाता हुआ (ततन्वान्) उदित हो रहा है (उद् एति); जो सब (विश्वा) प्राणियों को (भुवनानि) भली भांति देखता है (अभि चष्टे)। वह मरणधर्मा मनुष्यों में (मर्त्येषु) उनके अभिप्राय को (मन्युम्) पूर्णतया जानता है (आ चिकेत)।

टि०—वां चक्षुः=तु०—ऋ० १, ११५, १; ६, ५१, १; ७, ६३. १; १०, ३७, १। वरुण=पपा० में इसे आकारान्त दिखा कर मित्रावरुणा के लिये सं० द्वि० माना गया है। इसी प्रकार ऋचा ७ के देव को पपा० में आकारान्त दिखाया गया है। सुप्रतीकम्=सा० "शोभनरूपम्"; वें० "सुखम्"। सा० की भांति ग्रा०, गै०, मो०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी इस का अर्थ "सुन्दर रूप वाला" करते हैं और यह अर्थ समीचीन है। चक्षुः के वि० इस बस० के पूर्वपद में सु के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३६६ क)। ततन्वान्= √तन् + क्वसु से बने ततन्वस् (वै० व्या० ३३२ क) का प्रथ० ए०। सुप्रतीकम् को ततन्वान् का कर्म मानते हुए वें० इस का व्याख्यान "सुखमन्तरिक्षे विस्तारयन्" करता है, जब कि सा० "तेजो विस्तारयन्" व्याख्यान करता है जो अधिक समीचीन है तथा आधुनिक विद्वानों को ग्राह्य है। अभि चष्टे=दे०—ऋ० ३, ५९, १ पर टि०। मन्युम्=वें० "मनः", सा० "स्तोत्रं कर्म वा"। ग्रा० इस का अर्थ "औत्सुक्य, विशेषतया धार्मिक औत्सुक्य" करता है और ग्रि० तथा मै०

(M. H. R.) इसी मत का अनुसरण करते हैं। परन्तु ग्रै०, मै० (V. R.) प्रभृति इसका अर्थ "अभिप्राय" (intention) करते हैं, जो प्रसंग तथा वैदिक प्रयोग के अनुसार यहां पर उपयुक्त है और वें० का व्याख्यान भी लगभग इसी भाव को व्यक्त करता है। आ चिकेत= √चित् (धापा० √कित्) + लिट् प्र० पु० ए०; वर्तमान काल के अर्थ में लिट् का प्रयोग (वै० व्या० ३१८)।

छ०—ग्रा०, मै० आदि के मतानुसार, छन्द में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये द्वितीय पाद में सूर्यस् का सूरिअस् और चतुर्थ पाद में सन्धिविच्छेद द्वारा मर्त्येष्वा का मर्तिएषुआ उच्चारण अपेक्षित है।

२. प्र वां स मित्रावरुणावृतावा	प्र। वाम्। सः। मित्रावरुणौ। ऋतऽवा।
विप्रो मन्मानि दीर्घश्रुदियर्ति।	विप्रः। मन्मानि। दीर्घऽश्रुत्। इयर्ति।
यस्य ब्रह्माणि सुक्रतू अवाथ	यस्य। ब्रह्माणि। सुक्रतू इति सुऽक्रतू। अवाथः।
आ यत्क्रत्वा न शरदः पृणैथे॥	आ। यत्। क्रत्वा। न। शरदः। पृणैथे इति॥

अनु०—हे मित्र तथा वरुण देवताओ (मित्रावरुणा)! वह नियम का पालन करने वाला (ऋतावा), सुप्रसिद्ध (दीर्घश्रुत्) तथा अन्तःप्रेरणायुक्त ऋषि (विप्रः) अपने विचारों अर्थात् स्तोत्रों को (मन्मानि) तुम्हारे प्रति (वाम्) प्रेरित करता है (प्र इयर्ति)। हे शोभन प्रज्ञा वाले देवताओ (सुक्रतू)! तुम उस ऋषि की प्रार्थनाओं (ब्रह्माणि) की सहायता करोगे (अवाथः) तथा आगामी वर्षों में (शरदः) तुम उस प्रार्थना को, मानो प्रज्ञा से (क्रत्वा न), परिपूर्ण कर दोगे (आ पृणैथे)।

टि०—ऋतावा=ऋतावन् (ऋत+तद्धित प्रत्यय वन्) "शाश्वत नियम का पालन करने वाला" का प्रथ० ए०; दे० ऋ० ३, ३३, ५; ६१, ६ के ऋतावरी पर टि०। विप्रः=दे०—ऋ० ३, ३३, ४ पर टि०। मन्मानि=मन्मन् "विचार अर्थात् स्तोत्र" का द्विती० ब०; दे०—ऋ० १, १५४, ३ पर टि०। प्र इयर्ति=√ऋ+लट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २३९, १); सा० "प्रेरयति"; ग्रि० "directeth", मै० "sends", यहां पर इयर्ति का प्रयोग इस धातु के णिजन्त अर्थ में हुआ है। दीर्घश्रुत्=वें०

"बहुश्रुतः"; सा० "चिरकालं श्रोता"। ग्रि०, ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "दूर तक सुना गया अर्थात् सुप्रसिद्ध" करते हैं। वैदिक प्रयोगों से इसी अर्थ की पुष्टि होती है और सा० ने भी अन्यत्र यही अर्थ किया है; दे०—ऋ० ७, ७६, ७; ८, २५, १७ पर सा०। **ब्रह्माणि**=आद्युदात्त नपुं० **ब्रह्मन्** का द्विती० ब० (वै० व्या० १२९)। ब्रह्मन् का शाब्दिक अर्थ "प्रार्थना, वेदमन्त्र" है। वें०, सा०, ग्रि० तथा गै० इस का व्याख्यान "स्तोत्राणि" और ग्रा० तथा मै० "प्रार्थना" करते हैं। **सुक्रतू**=सुक्रतु का प्रथ० द्वि० सं०, दे०—ऋ १, २५, १० पर टि०। **अवाथः**=√अव्+ लेट् म० पु० द्वि०। **यस्य** के योग से ति० सोदात्त है। **आ पृणैथे**=√पृण् "भरना"+ लेट् म० पु० द्वि०। **यत्** के योग से ति० सोदात्त है। इन रूपों में भविष्यत्काल में लेट् का प्रयोग है। **यत् क्रत्वा न शरदः**=वें० "यानि च स्तोत्राणि कृष्यादिना कर्मणा शरदः इव ओषधीभिः कामैः आ पूरयथः", सा० "यत् कर्म शरदः बहून् संवत्सरान् आ पृणैथे आपूरयेथे स उदियर्ति"। आधुनिक विद्वानों में भी इसके व्याख्यान के विषय में मतभेद है। ग्रि०, ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् चतुर्थ पाद के **यत्** का अर्थ "ताकि" (that, i. e., so that) और **शरदः** का अर्थ "वर्ष" अर्थात् "ऋषि के जीवनकाल के वर्ष" करते हैं। परन्तु ये विद्वान् **क्रत्वा न** के विभिन्न व्याख्यान करते हैं (क्रत्वा=क्रतु का तृ० ए०)। ग्रा० (कोष) यहाँ पर **क्रतु** का अर्थ "प्रेरणा" (inspiration) करता है, जब कि ऋ० ४, २८, ३; ६, १२, ४; १०, ९५, ९ के तुलनात्मक प्रयोग के आधार पर **क्रतु** का "संकल्प" अर्थ करते हुए गै० चतुर्थ पाद का अनुवाद इस प्रकार करता है— "ताकि तुम इस (ऋषि) के वर्षों को पूर्ण करो, जैसा कि उस का संकल्प है"। मै० **क्रतु** का "प्रज्ञा" अर्थ मान कर इस पाद का अनुवाद इस प्रकार करता है—"that ye may fill his autumns as it were with wisdom" और साथ ही टि० में कहता है—"The meaning of *d* is not quite certain, but is probably, 'that ye who are wise may make him full of wisdom all his life'." ग्रि० **क्रत्वा** का अर्थ "with power" करता है और इस पाद का शेष अनुवाद मै० के अनुवाद से मिलता-जुलता है। इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि **यत्** क्रिवि० नहीं है, अपितु तृतीय पाद के नपुं० **ब्रह्मन्** के लिये प्रयुक्त सर्वनामपद है और **पृणैथे** क्रिया का कर्म है। यद्यपि तृतीय पाद का **ब्रह्माणि** बहुवचन में है, तथापि **यत्** एकवचन का प्रयोग है, क्योंकि इस प्रकार एक ही वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में वचनपरिवर्तन के वैदिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, तु०—ऋ० ३, ३३, १-१०; १, २५, १-५; २, ३३, ५-७। **शरदः** यहां पर **पृणैथे** का कर्म नहीं है, जैसा कि ग्रि०, गै०, मै० आदि विद्वान् मानते हैं, अपितु कालनैरन्तर्य को प्रकट करने के लिये यहां पर **शरदः** में द्विती० का प्रयोग हुआ है (वै० व्या० ३७९ ङ) जिसका अर्थ है "आने वाली शरद् ऋतुओं में अर्थात् वर्षों में निरन्तर"। **ऋषि** तथा **ब्रह्मन्** के प्रसंग को ध्यान में रखते हुए यहां पर **क्रतु** का "प्रज्ञा" अर्थ समीचीन है; दे०—ऋ० १, १९, २ पर टि०।

३. प्रोरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः	प्र । उरोः । मित्रावरुणा । पृथिव्याः ।
प्र दिव ऋष्वाद्बृहतः सुदानू ।	प्र । दिवः । ऋष्वात् । बृहतः । सुदानू इति सुऽदानू ।
स्पशों दधाथे ओषधीषु विक्ष्व्	स्पशः । दधाथे इति । ओषधीषु । विक्षु ।
ऋधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥	ऋधक् । यतः । अनिऽमिषम् । रक्षमाणा ॥

अनु०—हे शोभनदानयुक्त (सुदानू) मित्र तथा वरुण! विशाल अन्तरिक्ष से (उरोः), पृथिवी से (पृथिव्याः) तथा उच्च (ऋष्वात्) एवं महान् (बृहतः) द्युलोक से (दिवः) तुम पौदों में (औषधीषु) तथा प्रजाओं में (विक्षु) अपने गुप्तचरों को (स्पशः) स्थापित करते हो (प्र दधाथे) ; तुम पृथक्-पृथक् (ऋधक्) गति करते हुए (यतः) मनुष्यों की, आँख झपके बिना (अनिमिषम्) अर्थात् निरन्तर, रक्षा करते रहते हो (रक्षमाणा) ।

टि०—प्र दधाथे=वें० "प्रकर्षेण दधाथे" ; इसी प्रकार ग्रा०, मो० तथा मै० भी दधाथे को प्र उपसर्ग के साथ अन्वित करते हुए व्याख्यान करते हैं। ग्रा० इसे लट् का रूप मान कर इसका अर्थ "तुम दोनों स्थापित करते हो" करता है, जब कि मै० इसे लिट् का रूप (वै० व्या० २५६) मानते हुए इसका अनुवाद "ye have placed" करता है। ग्रि० भी लिट् का रूप मानते हुए" "Ye ... have ... set" अनुवाद करता है । सा० दधाथे को √धा का लट् का रूप (वै० व्या० २३८-४०) मानते हुए इसका व्याख्यान "धारयेथे" करता है, परन्तु इसे प्र उपसर्ग के साथ अन्वित नहीं करता है; अपि तु वह ऋ० १, ६१, ९ के प्र रिरिचे प्रयोग के आधार पर प्र के साथ रिरिचाथे का अध्याहार करके व्याख्यान करता है—"पृथिव्याः अपि प्ररिरिचाथे ··· दिवो द्युलोकादपि प्र रिरिचाथे ···"। गै० भी सा० की भांति (ऋ० १, ६१, ९; १०९, ६ के प्रयोगों के आधार पर) प्र के साथ रिरिचाथे का अध्याहार करते हुए, प्रथम तथा द्वितीय पाद का अनुवाद इस प्रकार करता है—"हे शोभनदान वाले मित्र तथा वरुण देवताओ ! तुम विशाल (अन्तरिक्ष) से, पृथिवी से तथा अतीव उच्च द्युलोक से परे तक (पहुंचे हुए हो)" । प्रसंग तथा वैदिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए प्र के साथ रिरिचाथे का अध्याहार करने की अपेक्षा इसे इसी ऋचा के दधाथे क्रियापद से अन्वित करना अधिक समीचीन है । यहां पर दधाथे को लट् का रूप मानना उचित है । उरोः पृथिव्याः=वें० तथा सा० "विस्तीर्णायाः पृथिव्याः" । भाष्यकारों का अनुसरण करते

हुए ग्रि० तथा मै० भी उरो: को पृथिव्या: का वि० मान कर अनुवाद करते हैं। परन्तु ग्रा० तथा गै० उरो: को नपुं० का पं० ए० का रूप मानते हुए इसके साथ अन्तरिक्षात् का अध्याहार करके "विशाल (अन्तरिक्ष) से" व्याख्यान करते हैं, क्योंकि ऋ० में उरु प्रायेण अन्तरिक्ष के वि० के रूप में प्रयुक्त होता है, जब कि पृथिवी इत्यादि स्त्री० विशेष्यों के साथ इस वि० का उर्वी रूप प्रयुक्त होता है। और ऋ० में अन्यत्र भी विशेष्य के बिना अकेला उरु शब्द "विशाल अन्तरिक्ष" को अभिव्यक्त करता है; तु०-ऋ० १०, १२७, २ इत्यादि। अत एव यहां पर ग्रा० आदि का मत वैदिक प्रयोग से पुष्ट होता है।

ऋष्वात्="उच्च से"; दे०—ऋ० १, २५, ६ पर टि०। सुदानू=वें० "सुदानौ"; सा० "शोभनदानौ"। गै०, ग्रि० तथा मै० भी इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए इसे सु+दानु "दान" से बना हुआ बस० मानते हैं, परन्तु ग्रा० इसे सु+दानु "ओस, जल-धारा" से बना हुआ बस० मान कर इसका शब्दार्थ "जलधारा-सम्पन्न, अच्छी प्रकार जल बरसाने वाले" करता है। यद्यपि मरुतों के वि० के रूप में ग्रा० का अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है (तु०-ऋ० १, ८५, १०), यहां पर "शोभनदानयुक्त" अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। स्पश:=वें० "तेजांसि"; सा० "रूपम्"। अन्यत्र वें० तथा सा० आदि इस शब्द का अर्थ "रश्मि" करते हैं, जब कि ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् सर्वत्र इसका अर्थ "गुप्तचर" करते हैं; दे०-ऋ० १, २५, १३ पर टि०। यद्यपि स्पश् का शाब्दिक अर्थ "गुप्तचर" है; तथापि इसका भावार्थ "किरण" ही है, क्योंकि "किरणें" ही देवों के "गुप्तचर" हैं; तु०-ऋ० ७, ५६, २२; ७०, ३। विक्षु=विश्+स० व०; वें० "मनुष्येषु"; सा० "प्रजासु निमित्तभूतासु प्रजासु चेति वा"। यद्यपि ग्रि०, ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति विद्वान् इसका अर्थ "निवास-स्थानों में" करते हैं, तथापि सा० का अर्थ अधिक उपयुक्त तथा प्रसंगानुकूल है; दे०-ऋ० १, ३५, ५ पर टि०। ऋधक्=वें० "पृथक्-पृथक्"; लगभग सभी आधुनिक विद्वान् इसे क्रिवि० मानते हुए इसका "पृथक्" अर्थ करते हैं, जो समीचीन है। परन्तु सा० इसका अर्थ "सत्येन" करता है। यत:=√इ "जाना"+शतृ द्विती० ब०। ग्रा०, ग्रि० तथा मै० इसे स्पश: का वि० मानते हैं, जब कि वें० तथा सा० इसे रक्षमाणा का कर्म मानते हुए व्याख्यान करते हैं—वें० "स्तुतिभि: अभिगच्छतो मनुष्यान् अनिमेषं रक्षमाणौ"; सा० "ऋधग् यत: सत्येन यतो विवेकात् सत्येन गच्छतो जनाननिमिषमव्यवधानेन सर्वदा रक्षमाणा पालयन्तौ"। गै० भी वें० आदि के मत का अनुसरण करता है और यही मत समीचीन है, क्योंकि यत: को स्पश: का वि० मानने पर सकर्मक क्रियापद रक्षमाणा अकर्मक रह जाता है।

छ०—छन्द में अक्षर परिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रथम पाद में प्र उरोर् तथा तृतीय पाद में विक्षु उच्चारण अपेक्षित है, जबकि चतुर्थपाद में पूर्वरूप-सन्धि द्वारा यतोऽनिमिषं उच्चारण अपेक्षित है।

४. शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शंस । मित्रस्य । वरुणस्य । धाम ।

शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा । शुष्मः । रोदसी इति । बद्बधे । महिऽत्वा ।

अयन्मासा अयज्वनामवीराः अयन् । मासाः । अयज्वनाम् । अवीराः ।

प्र यज्ञमन्मा वृजनं तिराते ।। प्र । यज्ञऽमन्मा । वृजनम् । तिराते ।।

अनु०—मित्र तथा वरुण के तेज (धाम) की स्तुति करो (शंस)। उनके शोषक तेज ने (शुष्मः) पृथिवी तथा द्युलोक को (रोदसी) अपने महत्त्व से (महित्वा) बांध दिया है (बद्बधे) अर्थात् नियमपूर्वक स्थापित कर दिया है। यज्ञ न करने वाले लोगों के (अयज्वनाम्) महीने (मासाः) पुत्ररहित होते हुए (अवीराः) चले जाएं (अयन्)। यजनशील पुरुष (यज्ञमन्मा) अपने परिवार को (वृजनम्) बढ़ाए (प्र तिराते)।

टि०—शंस=वें० तथा सा० इसे लोट् म० पु० ए० का रूप मानते हुए "स्तुहि" व्याख्यान करते हैं। ग्रि० की भांति गै० इसे लेट् उ० पु० ए० का रूप मानते हुए अनुवाद करता है—"मैं स्तुति करूंगा"। V. R. में मै०, ग्रि० तथा गै० की भांति, इसे लेट् उ० पु० ए० का रूप मानता है, परन्तु M. H. R. में इसे लोट् म० पु० ए० का रूप मान कर अनुवाद करता है। पपा० आदि के अनुसार इसे लोट् म० पु० ए० का रूप मानना समीचीन है। धाम=वें० "तेजः", सा० "तेजः स्थानम्"। रोट तथा ग्रा० इस का अर्थ "निवासस्थान", ग्रि० "बल", गै० "कर्म या बल" और मैक्समूलर, बर्गेन तथा मै० "नियम" करते हैं। परन्तु वें० द्वारा सुझाया गया "तेजः" अर्थ अधिक समीचीन है; दे०—ऋ० १, ८५, ११ पर टि०। शुष्मः=वें० तथा सा० "बलम्", ग्रि० "strength" और ग्रा०, मै० आदि विद्वान् इस का अर्थ "force" करते हैं। इस का शाब्दिक अर्थ "शोषक तेज" है; दे०—ऋ० २, १२, १. १३; ४, ५०, ७ पर टि०। बद्बधे=वें० "बाधते"; सा० "बध्नाति पृथक् स्थापयति इयं पृथिवी इयं द्यौः इति पृथक् करोति। 'द्यावापृथिवी सहास्ताम्' (तै० ब्रा० १, १, ३, २) इति श्रुतेः"।

ऋ० में इस रूप के केवल तीन प्रयोग मिलते हैं। ऋ० १, ८०, १३ दिवि ते बद्बधे शवः में प्रयुक्त बद्बधे का व्याख्यान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं—स्क० "वध बन्धने। आबबन्ध। दिवं यावत् प्रख्याततां गतमित्यर्थः"; वें० "तव अन्तरिक्षे बद्धमासीत् बलम्"; सा० "बद्धमनुस्यूतं व्याप्तमासीत्। ...'बध बन्धने'। कर्मणि लिटि व्यत्ययेन हलादिशेषाभावः" और ऋ० १, ८१, ५ के बद्बधे रोचना दिवि में प्रयुक्त बद्बधे के भाष्य इस प्रकार हैं—स्क० "बध्नाति"; वें० "बबन्ध दिवि नक्षत्राणि"; सा० "बबन्ध स्थापितवान् । ... 'बध बन्धने'। लिटि व्यत्ययेन हलादिशेषाभावः"। वें० के उपर्युक्त एकमात्र भाष्य को छोड़कर वें०, स्क० तथा सा० इसे √बध् "बांधना" का लिट् का रूप मानते हैं, जब कि ग्रा०, मो०, ग्रि०, ह्विटने, मै० प्रभृति विद्वान् इसे √बाध् का यङ्लुगन्त लट् मानते हुए व्याख्यान करते हैं (वै० व्या० ३०१)। जिन ऋचाओं में बद्बधे का प्रयोग मिलता है उन के प्रसंग तथा भावार्थ पर विचार करने से भाष्यकारों के इस मत का समर्थन होता है कि बद्बधे √बध् "बांधना" का लिट् का रूप है और व्याकरण की दृष्टि से इस की रूप-रचना में अत्यल्प नियमोल्लंघन है, जब कि √बाध् का यङ्लुगन्त लट् रूप सिद्ध करने में अधिक नियमोल्लंघन है। अत एव √बध् "बांधना" का लिट् मानते हुए बद्बधे का अर्थ है "बांध दिया है अर्थात् नियमपूर्वक स्थापित कर दिया है"। महित्वा=महित्व "महत्व" का तृ० ए० (वै० व्या० १३८ क० ६); दे०—ऋ० १, ८५, ७ पर टि०। अयन्=वें० "गच्छन्तु"; सा० "यन्तु गच्छन्तु"; √इ+लेट् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २३५)। अयज्वनाम्=इस नञ्तत्पुरुष समास के उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९८ ग० ९)। अवीराः=नञ् बस० (मासाः का वि०) होने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० १)। यज्ञमन्मा=वें० "यज्ञबुद्धिः", सा० "यज्ञार्थं मतिमान्यज्वा"। ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "यज्ञ का इच्छुक" करते हैं। वास्तव में यह बस० है जिसका शाब्दिक अर्थ है—"यज्ञ के लिये जिसका मनन या विचार (मन्मन्) है वह" अर्थात् "यजनशील"। वृजनम्=वें०, सा० "बलम्"। निघं० २, ९ में भी वृजनम् "बल" के नामों में गिनाया गया है। ग्रा० यहां पर इसका अर्थ "एक गांव या स्थान का समाज या ज्ञातिवर्ग" करता है। ग्रि० इसका अनुवाद "his home" और गै० "अपने अनुयायी" करता है। मै० ने V. R. में इसका अनुवाद "his circle" और M. H. R. में "homestead" किया है। अनेक वैदिक प्रयोगों पर विचार करने से वृजन शब्द का "परिवार" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है; तु०-ऋ० ७, ६७, ९। प्र+तिराते=√तॄ+लेट् प्र० पु० ए०। प्र+√तॄ "बढ़ाना" अर्थ में प्रयुक्त होता है; तु०-ऋ० १, २५, १२।

५. अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां	अमूरा । विश्वा । वृषणौ । इमाः । वाम् ।
न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम् ।	न । यासु । चित्रम् । ददृशे । न । यक्षम् ।
द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां	द्रुहः । सचन्ते । अनृता । जनानाम् ।
न वां निण्यान्यचिते अभूवन् ॥	न । वाम् । निण्यानि । अचिते । अभूवन् ॥

अनु०—हे अज्ञानरहित (**अमूरा**) तथा वर्षा करनें वाले (**वृषणौ**) दोनों देवताओ (**विश्वा**) ! ये (**इमाः**) (स्तुतिरूपी वाणियां) तुम दोनों के लिये (**वाम्**) हैं, जिनमें (**यासु**) न वाह्य दीप्ति (**चित्रम्**) अर्थात् कृत्रिम दिखावा और न चमत्कार (**यक्षम्**) दिखाई पड़ता है (**ददृशे**)। बुरा करनें वाली शक्तियां (**द्रुहः**) लोगों के (**जनानाम्**) असत्यों (**अनृता**) से संयुक्त होती हैं (**सचन्ते**)। कोई भी छिपी हुई वस्तुएं (**निण्यानि**) तुम्हारे लिये (**वाम्**) अज्ञात (**अचिते**) नहीं रही हैं (**न अभूवन्**) अर्थात् तुम सर्वज्ञ हो।

टि०—इस ऋचा के शब्दार्थ तथा भावार्थ के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं और किसी भी व्याख्यान को पूर्णतया असन्दिग्ध नहीं माना जा सकता। **वृषणौ**=**वृषन्** "वर्षा करने वाला" (दे०—ऋ० १, ८५, ७ पर टि०) का प्रथ० द्वि०, सं० पद पादादि में न आने के कारण सर्वानुदात्त है। **अमूरा**=वें० इसे **अमूर** का प्रथ० ब० नपुं० मान कर इसका व्याख्यान "अमूढानि" करता है। ग्रा०, लैन्मैन, ओल्डन्वर्ग तथा बर्गेन पदपाठ के विरुद्ध इस पद का **अमूराः** (प्रथ० ब० स्त्री०) संशोधित पाठ लेते हुए इसे तृतीय पाद के **द्रुहः** पद का वि० मान कर "चतुर" व्याख्यान करते हैं। परन्तु सा० इसे **वृषणौ** की भांति **मित्रावरुणा** का सं० (प्रथ० द्वि०) मानते हुए इसका व्याख्यान "हे अमूरा अमूढौ" करता है और गै० तथा मै० इसी व्याख्यान का अनुसरण करते हैं। अन्यत्र **अमूर** शब्द **अग्नि** देव के सं० के रूप में प्रयुक्त हुआ है; तु०-ऋ० ४, ४, १२; ८, ७४, ७; १०, ४, ४। अत एव सा० का व्याख्यान समीचीन प्रतीत होता है। **विश्वा**=वें० इसे **अमूरा** के सदृश प्रथ० ब० नपुं० मानते हुए इसका व्याख्यान "इमानि विश्वानि भूतानि" करता है। ग्रा०, लैन्मैन; ओल्डन्बर्ग तथा बर्गेन पदपाठ के विरुद्ध इसका संशोधित पाठ **विश्वाः** (प्रथ० ब० स्त्री०) लेते हुए **अमूरा** के सदृश इसे **द्रुहः** का वि० मान कर "सब" व्याख्यान करते हैं। वै० प० को० में

भी इस संशोधन को स्वीकार किया गया है। परन्तु सा० इसे मित्रावरुणा के लिये प्रयुक्त सं० मान कर "हे विश्वा व्याप्तौ" व्याख्यान करता है। सा० का अनुसरण करते हुए गै० भी इसे मित्रावरुणा के लिये प्रयुक्त प्रथ० द्वि० मान कर इसका अर्थ "दोनों" करता है और अपने समर्थन में ऋ० ४, ५६, ४; ५, ७३, ४ का निर्देश करता है। ग्रा० आदि के समान V. R. में मै० संशोधित पाठ विश्वा: लेकर इसे इमाः से अन्वित करते हुए व्याख्यान करता है, परन्तु M. H. R. में वह गै० की भांति इसका अनुवाद "ye both" करता है। गै० का व्याख्यान अधिक समीचीन है। इमा:, यासु=वें० इन पदों के साथ दिश् के रूपों का अध्याहार करते हुए "इमा: च दिश:, यासु दिक्षु" व्याख्यान करता है। ग्रा०, गै०, ओल्डन्वर्ग आदि विद्वान् इन दोनों सर्वनामों को द्रुहः से अन्वित करते हुए व्याख्यान करते हैं। सा० इनके साथ स्तुति का अध्याहार करते हुए "इमा: इमानि स्तुतिवचांसि क्रियन्ते । यासु स्तुतिषु..." व्याख्यान करता है। मै० ने सा० के मत का अनुसरण किया है। वेलंकर ने ऋ० २, २७, १; ७, ४५, ४ के आधार पर इमा: के साथ गिरः का अध्याहार सुझाया है जो अधिक समीचीन है। चित्रम्, यक्षम्=वें० ने इन पदों का व्याख्यान क्रमशः "नानारूपम् अद्भुतं च" किया है, जब कि सा० चित्रम् का अर्थ "आश्चर्यम्" और यक्षम् का अर्थ "पूजा" करता है। ग्रा० "चित्रम्" का अर्थ "दीप्ति" और यक्षम् का अर्थ "ईषद्-द्युति" (shimmer) करता है। गै० इन पदों का अनुवाद क्रमशः "चिह्न" तथा "आश्चर्य" करता है और इन्हें अनिष्ट घटना से पूर्व प्रकट होने वाले अद्भुत लक्षणों का वाचक समझता है। मै० ने V. R. में इन पदों का अनुवाद क्रमशः "marvel" तथा "mystery" और M. H. R. में "deceit" तथा "magic" किया है। जैसा कि हम ने पहले स्पष्ट किया है, प्रथम पाद में इमा: के साथ गिरः का अध्याहार अपेक्षित है जिसके लिये द्वितीय पाद में यासु सर्वनाम प्रयुक्त है। तदनुसार ये दोनों पद स्तुतिरूपी वाणी से सम्बद्ध हैं, जिसकी सत्यता, सरलता तथा स्वाभाविकता को स्पष्ट करने के लिये ऋषि कहता है कि इन स्तुतियों में चित्रम् अर्थात् आन्तरिक वास्तविकता को छिपाने वाली बाह्य "दीप्ति" (चमक-दमक) नहीं है और यक्षम् अर्थात् "चमत्कार" भी कुछ नहीं है। ददृशे=√दृश्+लिट् कवा० प्र० पु० ए०। द्रुहः सचन्ते अनृता जनानाम्=वें० "जनानां द्रोग्धारः पापानि सेवन्ते"; सा० "जनानाम् अनृता अस्तुत्यविषयाणि स्तोत्राणि द्रुहः द्रोग्धार: सचन्ते सेवन्ते। न महान्तः।" ग्रा० द्रुहः का अर्थ "हानिकारक राक्षस" करता है, जबकि गै० के मतानुसार "पापियों के विरुद्ध मित्र तथा वरुण की चालाकियां द्रुहः हैं"। मै० V. R. में द्रुहः का अनुवाद "avengers" तथा व्याख्यान "the spies of Varuṇa" करता है और M. H R. में "avenging spies" अनुवाद करता है। ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् अनृता को जनानाम् से अन्वित करते हुए इसे, सा० आदि की भांति, सचन्ते का कर्म मानते हैं, जबकि वें० तथा सा० द्रुहः को जनानाम् से अन्वित करते हैं। अनृता को जनानाम् से अन्वित

करना समीचीन है । द्रुहः को मित्र तथा वरुण की "चालाकियां" या "गुप्तचर" मानना अनुचित है, क्योंकि देवता लोग द्रुह् को अपने उपासकों से दूर हटाते हैं । वास्तव में द्रुहः का अर्थ "बुरा करने वाली शक्तियां" हैं जिन्हें अन्यत्र "देवहीन" (अदेवीः, ऋ० ३, ३१, १९) तथा "इन्द्रहीन" (अनिन्द्राः, ऋ० १, १३३, १; ४, २३, ७) कहा गया है । निण्यानि=वें० "अन्तर्हितानि कानिचित् पापानि"; सा० "अन्तर्हितानि रहस्यानि अपि स्तोत्राणि" । ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "रहस्य" करते हैं । परन्तु निण्य का शाब्दिक अर्थ "अन्तर्हित" है (तु०-ऋ० १, ३२, १० पर टि०) और यहां पर इसका अर्थ "अन्तर्हित वस्तुएं" है । अचिते=नञ्+√चित् "जानना"+तुमर्थक ए (वै० व्या० ३४१ क) । अभूवन्=√भू+विकरण-लुग्-लुङ् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २६५क) ।

छ०—चतुर्थपाद में अक्षर-परिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा निण्यानि अचिते उच्चारण अपेक्षित है ।

६. समु वां यज्ञं महयं नमोभिर्	सम् । ऊँ इति । वाम् । यज्ञम् । महयम् । नमःऽभिः ।
हुवे वां मित्रावरुणा सबाधः ।	हुवे । वाम् । मित्रावरुणा । सऽबाधः ।
प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि	प्र । वाम् । मन्मानि । ऋचसे । नवानि ।
कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ॥	कृतानि । ब्रह्म । जुजुषन् । इमानि ॥

अनु०—मैं अपने नमस्कारों द्वारा (नमोभिः) तुम दोनों के लिये (वाम्) यज्ञ को पूर्णतया प्रशस्त करूँ (सम् महयम्) । हे मित्र तथा वरुण ! बाधाओं से घिरा हुआ (सबाधः) मैं तुम दोनों को (वाम्) पुकारता हूँ (हुवे) । मेरे नूतन (नवानि) विचार अर्थात् स्तोत्र (मन्मानि) तुम दोनों की (वाम्) स्तुति करने के लिये (ऋचसे) हैं । मेरे द्वारा की गईं (कृतानि) ये (इमानि) प्रार्थनाएं (ब्रह्म) तुम्हें (वाम्) प्रसन्न करें (प्र जुजुषन्) ।

टि०—सम् महयम्=√मह्+णिच्+विमू० उ० पु० ए० (वै० व्या० २९१) । वें० तथा सा० इसका व्याख्यान "सम्पूजयामि" करते हैं, जबकि मै० "I will consecrate" अनुवाद करता है । गै० तथा ग्रि० "महान् करूँ" और ग्रा० "शोभनीय

बनाऊँ" अर्थ करता है। यहां पर √मह् का प्रयोग "महान् बनाना" के अर्थ में हुआ है। अत एव "सम् महयम्" का अर्थ है—"पूर्णतया प्रशस्त करूँ"। हुवे=√ह्वे+लट् उ० पु० ए० आ०। पादादि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है। सबाधः=वें० "बाधासहितः"; सा० "बाधायुक्तः"। निघं० ३, १८ में सबाधः पद "ऋत्विज्" के नामों में गिनाया गया है। तदनुसार ग्रि० इसका अनुवाद "as priest" करता है। गै० तथा मो० सबाधः का अर्थ "urgently" और ग्रा० तथा मै० "with zeal" करते हैं। यहां पर वें० तथा सा० का अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है, यद्यपि यह अर्थ पूर्णतया असन्दिग्ध नहीं है। मन्मानि=दे०-ऋचा २ पर टि०। ऋचसे=√ऋच् "स्तुति करना"+तुमर्थक असे प्रत्यय (वै० व्या० ३४१ङ)। ब्रह्म=ब्रह्मन् नपुं० का प्रथ० ब० (वै० व्या० १३१ग); दे०-ऋचा २ पर टि०। प्र जुजुषन्=√जुष् के लिङ्ग से लेट् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २५९ख)।

छ०—तृतीय पाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धिविच्छेद द्वारा मन्मानि ऋचसे उच्चारण अपेक्षित है।

७. इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां 6.50.92
यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

इयम्। देवा। पुरःऽहितिः। युवऽभ्याम्। यज्ञेषु। मित्रावरुणा। अकारि। विश्वानि। दुःऽगा। पिपृतम्। तिरः। नः। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः॥

अनु०—हे मित्र तथा वरुण देवताओ (देवा)! यज्ञों में (यज्ञेषु) तुम दोनों के लिये (युवभ्याम्) यह (इयम्) आदरपूर्वक आसन-स्थापना (पुरोहितिः) की गई है (अकारि)। तुम हमें (नः) सब (विश्वानि) संकटों से (दुर्गा) पार ले जाओ (तिरः पिपृतम्)। (हे देवो!) तुम कल्याणों के द्वारा (स्वस्तिभिः) सदा हमारी रक्षा करो (नः पात)।

टि०—देव=पपा० देवा; ऋचा १ के वरुण की भांति यह पद भी दोनों देवों (मित्र तथा वरुण) को सम्बोधित करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। पुरोहितिः=वें० "पुरोनिधानयोग्या स्तुतिः"; सा० "पुरस्क्रिया पूजा स्तुतिलक्षणा"। इसका अनुवाद

गै० "पौरोहित्य", ग्रि० "priestly task", और मै० V. R. में "priestly service" तथा M. H. R. में "service" करता है। इसी प्रकार ग्रा० इसका अर्थ "service or the work of a priest" करता है। परन्तु वास्तव में यहाँ पर **पुरोहितिः** शब्द उत्तरकालीन रूढ अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जैसा कि ग्रा०, गै०, मै०, ग्रि० प्रभृति समझते हैं, अपितु अपने मौलिक तथा यौगिक "आदरपूर्वक पुरतः आसन-स्थापना अर्थात् आसन-प्रदान" अर्थ में हुआ है, जैसा कि सा० का भावार्थ है; दे०-ऋ० १,१, १ के **पुरोहितम्** पर टि०। **युवभ्याम्**=युवाभ्याम् (युष्मद् का च० द्वि०)। **अकारि**=√कृ+कवा० लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० ३१३)। **पिपृतम्**=√पृ "पार ले जाना"+लोट् म० पु० द्वि०; दे०-ऋ० १, ११५, ६ पर टि०। **यूयं पात**···दे०-ऋ० ७, ५४, ३। अन्तिम पाद में सभी देवों को सम्बोधित किया गया है, केवल मित्र तथा वरुण को नहीं।

छ०—चतुर्थ पाद में अक्षरपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा०, मै० प्रभृति के मतानुसार **स्वस्तिभिः** के स्थान पर **सुअस्तिभिः** उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ. ७, ७१ (अश्विनौ)

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्।

१. अप॒ स्वसु॑रु॒षसो॒ नग्जि॑हीते	अप॑। स्वसुः। उ॒षसः॑। नक्। जि॒ही॒ते॒।
रि॒णक्ति॑ कृ॒ष्णीर॑रु॒षाय॒ पन्था॑म्।	रि॒णक्ति॑। कृ॒ष्णीः। अ॒रु॒षाय॑। पन्था॑म्।
अश्वा॑मघा॒ गोम॑घा वां हु॒वेम॒	अश्व॑ऽमघा। गोऽम॑घा। वा॒म्। हु॒वेम॒।
दिवा॒ नक्तं॒ शरु॑म॒स्मद्यु॑योतम्॥	दिवा॑। नक्त॑म्। शरु॑म्। अ॒स्मत्। यु॒यो॒त॒म्॥

अनु०—रात्रि (नक्) अपनी बहिन (स्वसुः) उषा से (उषसः) दूर जाती है (अप जिहीते)। काली रात्रि (कृष्णीः) रक्त वर्ण वाले (सूर्य) के लिये (अरुषाय) मार्ग (पन्थाम्) खाली करती है (रिणक्ति)। हे अश्व-रूपी दान वाले (अश्वमघा) तथा गोरूपी दान वाले (गोमघा) अश्विनो! हम तुम दोनों का (वाम्) आह्वान करें (हुवेम); दिन-रात (दिवा नक्तम्) हिंसक अस्त्र अर्थात् वज्र को (शरुम्) हम से (अस्मद्) दूर रखो (युयोतम्)।

टि०—स्वसुः, उषसः=ये दोनों पं० ए० के रूप हैं और यहां पर उषा को रात्रि की बहिन कहा गया है; तु०-ऋ० १, ११३, १; १२४, ८। नक्=नश् का प्रथ० ए० (वै० व्या० १२०); इस शब्द का केवल यही एक प्रयोग मिलता है; तु०-चतुर्थपाद का पद नक्तम्। अप जिहीते=√हा "दूर जाना"+लट् प्र० पु० ए० आ० (वै० व्या० २३९, २)। कृष्णीः=कृष्णी "काली" का प्रथ० ए० (वै० व्या० १४३क-विशेष); अन्यत्र (तु०-ऋ० १, ११३, २) रात्रि को कृष्णा कहा गया है। रिणक्ति=√रिच् "खाली करना"+लट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २४७); पादादि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ख)। अरुषाय=वें० "आरोचमानाय

आदित्याय"; सा० "आरोचमानाय अह्ने सूर्याय वा"। इसका शाब्दिक अर्थ "रक्त वर्ण वाले के लिये" है और यह विशेषण है (तु०-ऋ० १, ८५, ८ पर टि०), परन्तु इसका विशेष्य क्या है ? ग्रा० के मतानुसार यहां पर "दिवस" अभिप्रेत है, जब कि ग्रि०, गै० तथा मै० इसका अर्थ "सूर्य" मानते हैं और यहां पर यही अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है; तु०-ऋ० ६, ४९, ३। पन्थाम्=पन्था का द्विती० ए० (वै० व्या० १३९ग)। अश्वामघा, गोमघा=ये दोनों बस० हैं और पादादि में आने के कारण सं० सोदात्त हैं (वै० व्या० ४१२)। हुवेम = √ह्वे + विलि० उ० पु० व०। शरुन्=दे०-ऋ० २, १२, १० पर टि०। युयोतम्=√यु "पृथक् करना"+लोट् म० पु० द्वि० (२४०; अपवाद ४)।

२. उपायातं दाशुषे मर्त्याय	उप॒ऽआयातम् । दाशुषे । मर्त्याय ।
रथेन वाममश्विना वहन्ता।	रथेन । वामम् । अश्विना । वहन्ता ।
युयुतमस्मदनिराममीवां	युयुतम् । अस्मत् । अनिराम् । अमीवाम् ।
दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः ॥	दिवा । नक्तम् । माध्वी इति । त्रासीथाम् । नः ।

अनु०—हे अश्विनो (अश्विनौ)! अपने रथ के द्वारा (रथेन) प्रिय वस्तु (वामम्) लाते हुए (वहन्ता) उपासक (दाशुषे) पुरुष के लिये (मर्त्याय) तुम इधर आओ (उपायातम्)। अन्नाभाव (अनिराम्) तथा रोग को (अमीवाम्) हम से (अस्मद्) दूर रखो (युयुतम्)। हे माधर्युयुक्त देवो (माध्वी)! दिन-रात (दिवा नक्तम्) हमारी रक्षा करो (त्रासीथाम् नः)।

टि०—उपायातम्=उप+आ + √या "जाना" + लोट् म० पु० द्वि०; स्वर के लिये दे०-वै० व्या० ४१४ग। दाशुषे=दाश्वस् का च० ए०; दे०-ऋ० १, १, ६ पर टि०। वामम्=वें० "धनम्", सा० "वननीयं धनम्"; ग्रि०, ग्रा०, गै० तथा मै० आदि विद्वान् भी इसका अर्थ "धन" करते हैं। परन्तु वास्तव में इसका अर्थ यहां पर

"प्रिय वस्तु" है; दे०-ऋ० ६, ५३, २ पर टि०। युयुतम्=ऋचा १ का **युयोतम्**। **अनिराम्=इरा** "अन्न" (दे०-ऋ० ५, ८३, ४ पर टि०) का अभाव; नञ्तत्पुरुष-समास। इसका व्याख्यान सा० "इरान्नम्। तदभावं दारिद्रयमित्यर्थः" और वें० "अनतिः प्राणनकर्मा। श्वासकारिण्यशक्तिरनिरा" करता है, जबकि ग्रा०, मो० तथा मै० इसका अर्थ "दुर्बलता" करते हैं और ग्रि० "penury" तथा गै० "सूखापन" करता है। सा० तथा वें० ने भी अन्यत्र इसका अर्थ "अन्नाभाव" किया है (तु०-ऋ० ८, ६०, २०; १०, ३७, ४) और यही अर्थ अधिक समीचीन है। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वेदों में अनेक बार **अमीवा** के साथ-साथ **अनिरा** का प्रयोग मिलता है। **माध्वी**=वें० "हे वसुमन्तौ", सा० "हे मधुमन्तौ"। ग्रा०, ग्रि०, गै० तथा मै० (M. H. R.) आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "माधुर्य-प्रेमी" करते हैं, जब कि मो० ने "the two sweet ones" और V. R. में मै० ने इसका अनुवाद "O lovers of honey" किया है। केवल **अश्विनौ** के सम्बोधन के रूप में यह पद वेदों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन भाष्यकारों ने इस पद के जो विभिन्न व्याख्यान सुझाये हैं उनसे प्रतीत होता है कि इसके व्याख्यान के विषय में कोई निश्चित परम्परा नहीं थी। वें० ने अन्यत्र इसका अर्थ "मधुमन्तौ" (ऋ० ५, ७५, १; ७, ६७, ४) तथा "मदयितारौ" (ऋ० १, १८४, ४; ६, ६३, ८) किया है; जबकि सा० ने "मदयितारौ" (ऋ० १, १८४, ४; ६, ६३, ८), "मधुविद्यावेदितारौ" (ऋ० ५,७५,१ अ० ६, ७७, ४), "मधुपूर्णपात्रयुक्तौ" (ऋ० १,१८४,४), "मधुररसस्योदकस्य स्रष्टारौ" (ऋ० ४,४३,४), "मधुरस्य सोमस्यार्हौ मधुविद्यासंबन्धिनौ वा" (ऋ० ७, ६७, ४) इत्यादि व्याख्यान किये हैं। **माध्वी** पद की व्याकरण-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी मतभेद है। पा० ६,४,१७५ में निपातन द्वारा छान्दस शब्द **माध्वी** का व्याख्यान किया गया है और इस सूत्र पर काशि० तथा सि० कौ० के अनुसार **मधु** शब्द से परे स्त्री० में **अण्** प्रत्यय तथा निपातन से **यण्** आदेश हुआ है। ऋ० १, ९०, ६'८ इत्यादि में इस स्त्री० **माध्वी** रूप का प्रयोग मिलता है। परन्तु यहां पर यह पुं० का प्रयोग है, तथापि अ० ६, ७७, ४ के भाष्य में काशि० के अनुसार सा० इसका व्याख्यान करता है—'मधुशब्दाद् अणि 'ऋत्व्यं' (पा० ६, ४, १७५) इति यणादेशो निपात्यते। मधुसंबन्धिनी विद्या माध्वी। विद्यावेदित्रोरभेदोपचाराद् अश्विनावपि माध्वीशब्देन उच्येते। अत एव प्रगृह्यता। 'माध्वी मम···' इति हि मन्त्रान्तरम् (ऋ० ५, ७५, १)। अश्विनोर्मधुविद्यावेदितृत्वं दाशतय्याम् आम्नायते—'आथर्वणायाश्विना ··' (ऋ० १, ११७, २२) इति। हे माध्वी मधुविद्यावेदितारौ"। परन्तु ऋ० १, ९०, ६ के भाष्य में काशि० आदि से सहमत न होते हुए सा० ने स्त्री० **माध्वीः** में **मधु** से परे **अञ्** प्रत्यय माना है—"माध्वीः। 'मधोरञ् च' (पा० ४, ४, १२९) इति मत्वर्थीय अञ्प्रत्ययः। 'ऋत्व्यं' इत्यादौ अञि यणादेशो निपात्यते।" ऋ० १, ९०, ६ के भाष्य में स्क० ने स्त्री० **माध्वीः** का व्याख्यान "मध्वेव माध्वम्। स्वार्थिकस्तद्धितः छान्दसत्वात्। तद्वत्यो माध्व्यः। ईकारप्रत्ययो मत्वर्थे 'ईवनिपौ छन्दसि' इति (पा० ५, २, १०९ पर वार्तिक)। मधुरसा

इत्यर्थः" करता है और ऋ० ६, ६३, ८ के भाष्य में पुं० माध्वी का व्याख्यान इस प्रकार करता है— "मधुनः पूर्णो माध्वः। कोऽसौ ? दृतिः। कुत एतत्। 'यो ह वाम् ...' (ऋ० ८, ५, १९) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। तद्वन्तौ माध्वी। 'छन्दसीवनिपौ' इति (वही वार्तिक) मत्वर्थे ईकारः। "ग्रा० तथा वै० प० को० इत्यादि ने द्विवचनान्त माध्वी पद में माध्वि प्रातिपदिक सुझाया है और यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। मधु शब्द से "युक्त" (पा० "मतुप्") अर्थ में इ (पा० इञ्) प्रत्यय द्वारा निष्पन्न माध्वि शब्द "माधुर्य-युक्त" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि ऋ० में अश्विनों को बार-बार मधु अर्थात् माधुर्य से सम्बद्ध माना गया है, तु०—ऋ० १, ११२, २१, ११७, ६; १२२, ३; १५७, ४; ४, ४५, ३. ४; १०, ४०, ६; ४१, ३; १०६, १०। "युक्त" अर्थ में इ (पा० इञ्) प्रत्यय का यह विरल प्रयोग प्रतीत होता है (तु०—सरथम् से सारथि), जबकि "अपत्य" अर्थ में इस प्रत्यय का सामान्य प्रयोग मिलता है (वै० व्या० २००) त्रासीथाम्=√त्रै+अनिट्-सिज्लुङ् के अङ्ग से विलि० म० पु० द्वि० आ०, परन्तु प्राचीन मत से आलि० है (वै० व्या० २७७ घ)। अतिङन्त पद से परे आने पर भी सामान्य नियम के अपवादस्वरूप यह ति० सोदात्त है।

छ०—ग्रा० आदि के मतानुसार, प्रथम पाद में छन्दःपरिमाण के विचार से मर्त्याय का मर्तिआय उच्चारण अपेक्षित है।

३. आ वां रथ॑मव॒मस्यां॒ व्यु॑ष्टौ	आ। वा॒म्। रथ॑म्। अ॒व॒मस्या॑म्। विऽउ॑ष्टौ।
सु॒म्ना॒यवो॒ वृष॑णो वर्तयन्तु।	सु॒म्न॒ऽयव॑ः। वृष॑णः। व॒र्त॒य॒न्तु॒।
स्यू॒म॑गभस्तिमृ॒त॒युग्भि॒रश्वै॒र्	स्यूम॑ऽगभस्तिम्। ऋ॒त॒युक्ऽभि॑ः। अश्वैः॑।
आश्वि॑ना॒ वसु॑मन्तं वहेथाम्॥	आ। अ॒श्वि॒ना॒। वसु॑ऽमन्तम्। व॒हे॒था॒म्॥

अनु०—अनुग्रहयुक्त (सुम्नायवः) तथा वर्षा करने वाले अश्व (वृषणः) अभी-अभी प्रकट हुई (अवमस्याम्) उषा में (व्युष्टौ) अर्थात् उषाकाल में तुम्हारे (वाम्) रथ को इधर घुमाएं (आ वर्तयन्तु) अर्थात् इस ओर लाएं। हे अश्विनो (अश्विना)! शाश्वत नियम के अनुसार जोते जाने वाले (ऋतयुग्भिः) अश्वों के द्वारा (अश्वैः) तुम अपने धनयुक्त (वसुमन्तम्) तथा स्यूतरश्मि (स्यूमगभस्तिम्) अर्थात् किरणों के द्वारा निरन्तर देदीप्यमान रथ को इधर लाओ (आ वहेथाम्)।

अद्यतनी

टि०—**अवमस्याम्**=**अवम** सर्वनाम का स० ए० स्त्री० (वै० व्या० १७५ ग), **व्युष्टौ** से अन्वित है। वें० "अवमाऽद्यतनी", सा० "आसन्नायाम्"। निघ० २, १६ में **अवमे** "अन्तिक" के नामों में गिनाया गया है। ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् यहां पर **अवमा** शब्द का अर्थ "youngest" या "latest" करते हैं जिसका भावार्थ वें० तथा सा० के व्याख्यान के समान है। **सुम्नायवः**=पपा० **सुम्नयवः**, **सुम्नयु** का प्रथ० ब०। इसका व्याख्यान वें० "सुखमिच्छन्तः" और सा० "सुखेन योजयन्तः" करता है। ग्रा०, मो०, मै० आदि इसका अर्थ "दयालु" करते हैं, जब कि गै० तथा ग्रि० इसका अर्थ वें० की भांति "कल्याण के इच्छुक" करते हैं। वास्तव में **सुम्न** से परे मतुवर्थक यु प्रत्यय जोड़ने से सुम्नयु "अनुग्रहयुक्त" शब्द बना है (वै० व्या० १९८) और इसके अ को दीर्घ होने से सुम्नायु बन जाता है। **सुम्न** के लिये दे०—ऋ० २, ३३, १ पर टि०। **वृषणः**=दे० **वृषन्** पर टि० (ऋ० १, ८५, ७ इत्यादि)। **स्यूमगभस्तिम्**=वें० "अनुस्यूतरश्मिम्", सा० "सुखरश्मि स्यूतरश्मिम्"। इस शब्द का दूसरा प्रयोग ऋ० १, १२२, १५ में मिलता है जहां वें० इसका अर्थ "अनुस्यूतरश्मिः" और सा० "स्यूममिति सुखनाम। सुखकरदीप्तिः सन्" करता है। यह बस० तथा **रथम्** का वि० है। रोट के मतानुसार, **स्यूमगभस्ति** का अर्थ है वह रथ "जिसकी ईषा (pole) चर्मपट्टी की बनी हुई है"। रोट के मत का लगभग अनुसरण करते हुए ग्रा० तथा मो० ने इसका अर्थ किया है—"having thongs for a pole, drawn by thongs (as a chariot)." इसी मत का अनुसरण करते हुए मै० ने V. R. में इसका अनुवाद "drawn with thongs" किया है। परन्तु गै० ने इसका अनुवाद किया है—"जिस के लगाम-रूपी हाथ (किरणें) हैं"। ग्रि० ने इसी मत के अनुसार "whose reins are light" अनुवाद किया है। वै० प० को० में इस शब्द का अर्थ "सतत-दीप्ति-युक्त" सुझाया गया है। ऋ० ३, ६१, ४ के **स्यूमन्** की टि० में हम ने स्पष्ट किया है कि **स्यूमन्** का शाब्दिक अर्थ "स्यूत या सीवन" है। यहां पर इस समास के पूर्वपद में **स्यूमन्** "स्यूत" अर्थ में आया है। यद्यपि **गभस्ति** का शाब्दिक अर्थ "हस्त" है, तथापि रूपकालंकार द्वारा "रश्मि" के अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है और इसीलिये निघ० १, ५ में इसे "रश्मि" के नामों में गिनाया गया है। **स्यूमगभस्ति** में भी **गभस्ति** का प्रयोग "रश्मि" के अर्थ में किया गया है और इस समास का अर्थ है "स्यूतरश्मि", जिसका भावार्थ है ऐसा रथ जिसमें किरणें स्यूत "सिली हुई" हैं अर्थात् जो रथ किरणों के द्वारा निरन्तर देदीप्यमान है। **ऋतयुग्भिः**=वें० "यज्ञयोगिभिः", सा० "उदकयुक्तैः, उदकप्रदैः"। परन्तु वास्तव में इसका अर्थ "ऋत अर्थात् शाश्वत नियम के अनुसार जोते जाने वाले (अश्वों) के द्वारा" है जैसा कि अन्यत्र वें०, स्क०, सा० आदि ने व्याख्यान किया है (तु०-ऋ० ४, ५१, ५; ६, ३९, २·४)। ग्रा० तथा मो० ने "अच्छी प्रकार जोते हुओं के द्वारा" और गै० तथा मै० (V. R.) ने "उचित समय पर जोते हुओं के द्वारा" जो अनुवाद किया है वह

उपर्युक्त व्याख्यान का भावार्थमात्र ही है, जबकि M. H. R. में मै० ने इसका अनुवाद "Yoked by Order" और ग्रि० ने "Yoked by Law" किया है जो समीचीन है।

छ०—ग्रा० आदि के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये प्रथम पाद के व्युष्टौ का विउष्टौ तथा चतुर्थ पाद में सन्धिविच्छेद द्वारा आ अश्विना उच्चारण अपेक्षित है।

४. यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा	यः । वाम् । रथः । नृपती इति नृऽपती । अस्ति । वोळ्हा ।
त्रिवन्धुरो वसुमाँ उस्रयामा ।	त्रिऽवन्धुरः । वसुऽमान् । उस्रऽयामा ।
आ न एना नासत्योप यातम्	आ । नः । एना । नासत्या । उप । यातम् ।
अभि यद्वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ॥	अभि । यत् । वाम् । विश्वऽप्स्न्यः । जिगाति ॥

अनु०—हे मनुष्यों के स्वामी अश्विनो (नृपती) ! जो रथ तुम्हारा (वाम्) वहन करने वाला (वोळ्हा), तीन आसनों वाला (?) (त्रिवन्धुरः), धनयुक्त (वसुमान्), तथा देदीप्यमान मार्ग वाला (उस्रयामा) है (अस्ति); उसके द्वारा (एना), हे प्रभातसम्बन्धी (?) देवो (नासत्या) ! तुम हमारे पास आओ (नः आ उप यातम्), जब (यद्) वह सब रूपों वाला रथ (विश्वप्स्न्यः) तुम्हारे पास पहुँचता है (वाम् अभि जिगाति)।

टि०—वोळ्हा=√वह् + तृ से निष्पन्न वोढृ का प्रथ० ए०; सा० "युवयोर्वाहकः"। त्रिवन्धुरः=वें० "वन्धुरं फलकासंघाटस्त्रिवन्धुरः"; सा० "सारथ्यधिष्ठानस्थानत्रयोपेतः।" इस शब्द के व्याख्यान के विषय में प्राचीन भाष्यकार पूर्णतया निश्चित नहीं हैं। इसलिये उन्होंने विभिन्न प्रकार के व्याख्यान सुझाये हैं। इस शब्द के व्याख्यान वें० "त्रिसन्धानेन प्रउगाकारेण" (ऋ० १, ११८, २), "त्रिसन्धानः" (ऋ० १, १५७, ३), "त्रिफलकासंघाटः" (ऋ० १, १८३, १; ८, ८५, ८), इत्यादि करता है, जब कि स्क० "त्रिसारथिस्थानः-सारथिस्थानं वन्धुर उच्यते। त्रयो वन्धुरा यस्मिन् स त्रिवन्धुरः" (ऋ० १, ४७, २; ११८, १·२) व्याख्यान करता है। अकेले सा० ने इस शब्द के कई प्रकार के व्याख्यान सुझाये हैं—"वन्धुरं वेष्टितं सारथेः स्थानम्। त्रिप्रकारेण वन्धुरेण

युक्तः" (ऋ० १, ११८, १), "निम्नोन्नतकाष्ठत्रयोपेतः। सारथ्याश्रयस्थानं वन्धुरम्" (ऋ० १, १५७, ३), "त्रिप्रकारसारथिस्थानः। वन्धुरं रथिनः स्थानमित्याहुः (ऋ० १, १८३, १), "वन्धुरमुच्चावचं सारथ्यवस्थानं काष्ठमयम्। तादृशैस्त्रिभिर्युक्तः" (ऋ० ७, ६९, २), "वन्धुरं सारथिस्थानम्। त्रिप्रकारवन्धुरोपेतः। यद्वा द्वे ईषे रज्जुसज्जनार्थंको दण्डः। एते त्रयो वन्धुरशब्देनोच्यन्ते। त्रिवन्धुरयुक्तः" (ऋ० ८, २२, ५); "त्रिवन्धुरे त्रिवेदवन्धुरे" (ऋ० ६, ६२, १७), "त्रिवन्धुरेण उन्नताननरूपत्रिविधवन्धनकाष्ठयुक्तेन। ··· वध्नन्तीति बन्धुराः। बन्धे औणादिकः उरन् प्रत्ययः। त्रयो बन्धुरा यस्यासौ त्रिबन्धुरः" (ऋ० १, ४७, २), "त्रिवन्धुरेण त्रिफलकासंघटितेन" (ऋ० ८, ८५, ८), "वन्धुरशब्देन सारथिस्थानमुच्यते। त्रीणि बन्धुराणि यस्यासौ त्रिबन्धुरो, रथे वह्वश्वेषु योजितेषु कक्ष्यात्रये सारथय उपविश्य तान्सर्वानिश्वान्प्रेरयन्ति" (तै० ब्रा० २, ८, ७, ७)। वा० सं० २८, १९ के भाष्य में उ० "वन्धुरशब्दः सारथिस्थानवचनः। त्रीणि वन्धुराणि सारथिस्थानानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि यस्य स त्रिवन्धुरः" और म० "त्रीणि बन्धुराणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि बन्धनानि यस्य सः" व्याख्यान करता है। भाष्यकारों के वहुसम्मत व्याख्यान का अनुसरण करते हुए ग्रा०, गै०, मो०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् त्रिवन्धुर का अर्थ "three-seated" करते हैं। इसी प्रकार इस समास के उत्तरपद वन्धुर (जिसका दूसरा रूप बन्धुर् भी मिलता है) के व्याख्यान के विषय में प्राचीन भाष्यकार विभिन्न व्याख्यान सुझाते हैं। वें० इसका व्याख्यान प्रायेण "फलकासंघाट" करता है, यथा—ऋ० १, ३४, ९ पर 'त्रयो वन्धुराः=त्रयः फलकाः संघाटाः। प्रउगाकारस्य कोणेषु त्रयः फलकाः संघाटा भवन्ति। ये सनीडाः एकस्मिन् रथे फलकाः संघटिताः", ऋ० ३, १४, ३ पर "यथा वन्धुरावभिमुखौ भवतः फलकासंघाटौ," (तु०—ऋ० ३, ४३, १ पर), ऋ० ६, ४७, ९ पर "उरुतमे इन्द्र! अस्मान् रथस्य फलकसंघाटे धारय"। स्क० इस शब्द का अर्थ प्रायेण "सारथिस्थान" करता है (ऋ० १, ३४, ९; ६४, ९; ६, ४७, ९)। सा० ने इसके अनेक प्रकार के व्याख्यान किये हैं; यथा—ऋ० १, ३४, ९ पर "ये काष्ठविशेषाः सनीळाः। नीळं गृहसदृशं रथस्योपरि उपवेशस्थानम्। तेन सह वर्तन्ते इति सनीळाः। ते काष्ठविशेषाः वन्धुरः नीडबन्धनाधारभूताः त्रयः अक्षेण सहिते द्वे ईषे इत्येवं त्रिसंख्याकाः। ···वन्धुरः बन्धेः औणादिक उरप्रत्ययः। वत्वं छान्दसम्", ऋ० ३, १४, ३ पर "वन्धुरेव=यथा कूबरस्थानं परस्परसंसक्तेषाद्वयोपेतं तद्वत्", ऋ० १, ६४, ९ पर "वन्धककाष्ठनिर्मितं सारथेः स्थानं वन्धुरमुच्यते", ऋ० १, १३९ ४ पर "युगवन्धनाधारः काष्ठविशेषो वन्धुरम्", ऋ० १०, ११९, ५ पर "वन्धुरं सारथिनिवासस्थानम्", ऋ० ३, ४३, १ पर "वन्धुरशब्देन ईषाद्वयसंबन्धस्थानम् अभिधीयते", ऋ० ४, ४४, १ पर "रथे निवासाधारभूतः काष्ठो वन्धुरम्"। उपर्युक्त व्याख्यानों से स्पष्ट है कि भाष्यकारों को वन्धुर के व्याख्यान के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय नहीं था और इसीलिये अनेक प्रकार के अर्थ सुझाये गये। सा० ने √बन्ध् से इसकी व्युत्पत्ति सुझाई है। तदनुसार ग्रा० ने भी √बन्ध् से इसकी व्युत्पत्ति मानी है, परन्तु मो० के मतानुसार वन् "लकड़ी"+धुर

से इसकी व्युत्पत्ति मानना अधिक समीचीन है। ग्रा०, गै०, मो०, आदि आधुनिक विद्वान् **वन्धुर** का अर्थ प्रायेण "आसन" ही मानते हैं। परन्तु यह अर्थ भी उतना ही सन्दिग्ध है जितना कि "फलकासंघाट" इत्यादि, तथापि यहां पर काम चलाने के लिये अनुवाद में यह अर्थ दिया गया है। इस वस० के उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० २)। **उस्रयामा**=वें० "उत्सरणशीलगमन:", सा० "उस्रं दिवसं प्रति गन्ता।" ग्रा०, ग्रि०, गै०, मै० आदि इस का अर्थ "प्रातःकाल में जाने वाला" करते हैं। यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि "उषा" अर्थ में आकारान्त **उस्रा** शब्द प्रयुक्त होता है, जबकि अकारान्त पुं० **उस्र** "देदीप्यमान (वि०), दिवस, रश्मि (निघ० १, ५)" इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ पर इस बस० में पर्वपद **उस्र** को वि० मानते हुए, "जिस का गमन अथवा मार्ग (**यामन्**) देदीप्यमान (**उस्र**) है वह (रथ)" अर्थ करना अधिक समीचीन होगा। **एना**=अनेन, इदम् का तृ० ए० (वै० व्या० १६८)। **आ उप यातम्**=ऋचा २ पर टि० देखिए। **नासत्या**=वेदों में अश्विनों के लिये इस शब्द का बहुत बार प्रयोग हुआ है, परन्तु इस की व्युत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित तथा असन्दिग्ध मत नहीं है। यास्क (६, १३) ने इस शब्द की तीन व्युत्पत्तियों का उल्लेख किया है—"नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेताराविव्याग्रायण:। नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा"। पा० (६, ३, ७५), स्क०, सा०, ग्रा०, मै० प्रभृति विद्वान् इसकी प्रथम व्युत्पत्ति (न+असत्य) को स्वीकार करते हैं, परन्तु मो० आदि कुछ आधुनिक विद्वान् √नस् के णिजन्त से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं और ब्रुनहोफर (Vom Aral bis zur Ganga, p. 99) गोथिक भाषा के nasyan में प्रयुक्त √नस् से व्युत्पत्ति मानते हुए नासत्या का अर्थ "savers" करता है। वै० प० को० में √नस् "दीप्तौ" से निष्पन्न नास—"प्रभात" से (तदस्यन्तसंयोगात्) नासत्य शब्द की व्युत्पत्ति मानी गई है, जो प्रथम व्युत्पत्ति से अधिक समीचीन प्रतीत होती है। **विश्वप्स्न्य:**=वें० "वसिष्ठ: विश्वरूप:। नानाविधस्तुतिकरणात् वैश्वरूप्यम्। यद्वा विश्वप्स्न्य: व्यापक: विश्वस्य इति"; सा० इसे रथ: का वि० मानते हुए "व्याप्तरूप:" व्याख्यान करता है और वें० आदि द्वारा किये गये व्याख्यान का भी उल्लेख करता है—"अन्य आह। यद्यस्माद्विश्वप्स्न्यो वसिष्ठो वां जिगाति स्तौति"। रोट, ग्रा०, मै०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् इस के उत्तरपद **प्स्न्य** की व्युत्पत्ति √प्सा "भक्षणे" से मानते हुए इस समास का अर्थ "laden with all food" (सर्वान्निसम्पन्न) करते हैं और ग्रा० (कोष), मै०, ग्रि० प्रभृति विद्वान् सा० की भांति **विश्वप्स्न्य:** को **रथ:** का वि० मानते हैं। परन्तु बर्गेन इसे **अग्नि:** का, ऋ० के जर्मन अनुवाद में ग्रा० **सोम:** का, तथा वें० **वसिष्ठ:** (ऋषि) का वि० मानता है। मै० इस तथ्य को स्वीकार करता है कि इस पद का अर्थ सन्दिग्ध होने के कारण सम्पूर्ण पाद का अर्थ अनिश्चित है। गै० भी इस शब्द का सन्दिग्ध अनुवाद "विश्वरूप (?)" करता है और पूछता है—**विश्वप्स्न्य:** कौन है? स्तोम या अग्नि?" वै० प० को० में इसे नामपद मान कर

इस का अर्थ "स्तोत्र" सुझाया गया है। प्राचीन भाष्यकारों में भी इस शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ के विषय में मतभेद रहा है। वा० सं० १२, १० में प्रयुक्त स्त्री० **विश्वप्स्न्या** का "सर्वजनोपभोग्यया" व्याख्यान करते हुए, उ० तथा म० इसके उत्तरपद की व्युत्पत्ति √प्सा "भक्षणे" से मानते हैं। वें० ने विश्वप्स्न्य का व्याख्यान ऋ० २, १३, २ पर "विश्वं व्याप्तं येन स विश्वप्स्न्यः (समुद्रः तस्मै)" और ऋ० ८, ६७, १५ पर "बहुरूपम् (धनम्)" किया है। सा० ने ऋ० २, १३, २ पर इस का व्याख्यान "विश्वासामपामाश्रयभूताय (समुद्राय)", ऋ० ७, ४२, ६ पर "पुरुरूपस्य (धनस्य)", और ऋ० ८, ६७, १५ पर 'प्स इति रूपनाम। रूपे साधु प्स्यम्। नकारोपजनश्छान्दसः। बहुरूपं तत्" किया है। ऋ० में इस शब्द के जो अन्य तीन प्रयोग मिलते हैं उनकी समीक्षा से स्पष्ट होता है कि यह वि० पद है और इसका "विश्वरूप" अर्थात् "सब रूपों वाला" व्याख्यान "सर्वान्निसम्पन्न" व्याख्यान से अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यहां पर इसे **वसिष्ठ, अग्नि, सोम** या **स्तोम** का वि० मानने की अपेक्षा **रथ** का वि० मानना अधिक उपयुक्त तथा प्रसंगानुकूल है। यद्=यद्यपि वें० ने इसका अर्थ "यस्मात्", सा० ने "यद्रथो यश्च रथः" और मै० तथा ग्रि० ने "ताकि" किया है, तथापि यहां पर इसका अर्थ "जब" है, जैसा कि गै० ने माना है। जिगाति=√गा "जाना"+लट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २३६. २)।

छ०—ग्रा०, मै० आदि के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये तृतीय पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा नासत्या उप उच्चारण और चतुर्थ पाद में **विश्वप्स्न्यो** का **विश्वप्स्निओ** उच्चारण अपेक्षित है।

५. युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं | युवम्। च्यवानम्। जरसः। अमुमुक्तम्।
नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्। | नि। पेदवे। ऊहथुः। आशुम्। अश्वम्।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रि | निः। अंहसः। तमसः। स्पर्तम्। अत्रिम्।
नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः॥ | नि। जाहुषम्। शिथिरे। धातम्। अन्तरिति॥

अनु०—तुम ने (युवम्) च्यवान को बुढ़ापे से (जरसः) मुक्त किया (अमुमुक्तम्); तुम पेदु के लिये (पेदवे) वेगवान् (आशुम्) अश्व लाये (नि ऊहथुः); तुम ने अत्रि को संकट (अंहसः) तथा अन्धकार से (तमसः)

बचाया (निः स्पर्तम्) ; तुम ने जाहुष को स्वतन्त्रता में (शिथिरे अन्तः) स्थापित किया (नि धातम्) ।

टि०—युवम्=युष्मद् का प्रथ० द्वि० (वै० व्या० १६४ ख)। अमुमुक्तम्= √मुच्+अतिलिट् म० पु० द्वि० (वै० व्या० २५७ घ)। नि ऊहथुः=√वह्+लिट् म० पु० द्वि० (वै० व्या० २५४ घ)। अंहसः=ऋ० १, ११५, ६ पर टि० देखिये। निः स्पर्तम्=√स्पृ+विकरण–लुग्–लुङ् म० पु० द्वि०। नि धातम्=√धा+विकरण—लुग्–लुङ् म० पु० द्वि०। इस मन्त्र में तथा अश्विसम्बन्धी अन्य सूक्तों में अश्विनों के द्वारा च्यवान, पेदु, अत्रि तथा जाहुष का उपकार करने का जो उल्लेख मिलता है उसके भावार्थ के विषय में सन्देह है। क्या इन सब कथाओं के पीछे कोई रूपक है या ये केवल कथाएं हैं ? इस विषय में निर्णायक मत प्रस्तुत करने से पूर्व पर्याप्त अनुसन्धान अपेक्षित है।

६. इयं मनीषा इयमश्विना गीर् इमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम्।
इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

इयम् । मनीषा । इयम् । अश्विना । गीः । इमाम् । सुऽवृक्तिम् । वृषणा । जुषेथाम् । इमा । ब्रह्माणि । युवऽयूनि । अग्मन् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥

अनु०—हे अश्विनो ! यह मेरी मननयुक्तवाणी (मनीषा) अर्थात् प्रार्थना है और यह मेरी स्तुति (गीः) है। हे वर्षा करने वाले अश्विनो (वृषणा) ! इस शोभन स्तुति (सुवृक्तिम्) का प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये (जुषेथाम्)। तुम दोनों की इच्छुक (युवयूनि) ये (इमा) प्रार्थनाएं (ब्रह्माणि) तुम्हारे पास गई हैं (अग्मन्)। (हे देवो) ! तुम कल्याणों के द्वारा (स्वस्तिभिः) सदा हमारी रक्षा करो (नः पात)।

टि०—मनीषा=सा० "स्तुतिः", गै० "कविता", ग्रा० "प्रार्थना", मै० तथा ग्रि० "विचार"। जैसा कि ऋ० ५, ८३, १० पर टि० में निर्दिष्ट किया

गया है, यहां पर मनीषा का मुख्यार्थ "मननयुक्त वाणी" है ; दे०—ऋ० ५, ८३, १० तथा ३, ३३, ५ पर टि० । यहां पर इसका भावार्थ "मननयुक्त प्रार्थना" हो सकता है, क्योंकि "स्तुति" के लिये गी: पद प्रयुक्त हुआ है। मनीषा इयम् की सन्धि के लिये दे०—वै० व्या० ४०.३ । सुवृक्तिम्=ऋ० ३, ६१, ५ पर टि० देखिये। ब्रह्माणि=ब्रह्मन् नपुं० का प्रथ० ब० (दे०—ऋ० ७, ६१, २ पर टि०)। इमा=इदम् नपुं का प्रथ० ब० (वै० व्या० १६८)। युवयूनि=वें०, सा० "युवां कामयमानानि", ग्रा० तथा गै० "तुम्हारी इच्छा करती हुई"; ग्रि० तथा मै० "addressed to you." युष्मद् के युव+इच्छावाचक य+उ (वै० व्या० ३६२छ) से युवयु "तुम दोनों का इच्छुक" बना है। अग्मन्=√गम्+विकरणलुग्लुङ् प्र० पु० व० (वै० व्या० २६५ग) ।

छ०—ग्रा०. आदि के मतानुसार, छन्द में अक्षरपूर्ति के लिये तृतीय पाद में सन्धिविच्छेद द्वारा युवयूनि अग्मन् और चतुर्थ पाद में स्वस्तिभि: के लिये सुअस्तिभि: उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ. ७, ८६ (वरुणः)

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

१. धीरा त्व॑स्य म॒हिना ज॒नूंषि | धीरा॑। तु। अ॒स्य॒। म॒हिना। ज॒नूंषि॑।
वि यस्त॒स्तम्भ॒ रोद॑सी चिदु॒र्वी। | वि। यः। त॒स्तम्भ॑। रोद॑सी॒ इति॑। चित्। उ॒र्वी इति॑।
प्र नाक॑मृ॒ष्वं नु॑नुदे बृ॒हन्तं॑ | प्र। नाक॑म्। ऋ॒ष्वम्। नु॒नु॒दे॒। बृ॒हन्त॑म्।
द्वि॒ता नक्ष॑त्रं प॒प्रथ॑च्च॒ भूम॑॥ | द्वि॒ता। नक्ष॑त्रम्। प॒प्रथ॑त्। च॒। भूम॑॥

अनु०—इस वरुण की महिमा से (अस्य महिना) प्राणी (जनूंषि) प्रज्ञावान् हैं (धीरा); जिस ने विशाल (उर्वी) द्युलोक तथा पृथिवी को भी (रोदसी चित्) पृथक्-पृथक् स्थिर कर दिया है (वि तस्तम्भ); जिसने उच्च (ऋष्वम्) तथा विशाल (बृहन्तम्) स्वर्ग को (नाकम्) और तारासमूह को (नक्षत्रम्) दो प्रकार से (द्विता) प्रेरित किया है (प्र नुनुदे); और जिस ने भूमि को (भूम) फैलाया है (पप्रथत्)।

टि०—धीरा=धीर नपुं० का प्रथ० ब० है (वै० व्या० १३८); वें० "स्थिराणि अविचालीनि", और सा० "धीराणि धैर्यवन्ति" व्याख्यान करता है। परन्तु रोट, ग्रा०, ग्रि०, गै०, मै०, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् धी+र (वै० व्या० १९८) से धीर शब्द की व्युत्पत्ति मानते हुए इस का अर्थ "wise" (प्रज्ञावान्) करते हैं और यास्क (३, १२; ४, २०) भी यही व्याख्यान करता है। वैदिक प्रयोग से इसी अर्थ की पुष्टि होती है और सा० आदि ने भी अन्यत्र यही व्याख्यान किया है; तु०—ऋ० १, ६२, १२। जनूंषि=जनुस् का प्रथ० ब० (वै० व्या० १२२ घ)—वें० "सर्वाणि जातानि भूतानि", सा० "जन्मानि"। इस का अर्थ मैक्समूलर तथा मो० "creation", पी० "tribes", मै० तथा रैनू "generations" करते हैं, जबकि

ग्रि० तथा गै० ने वें० की भांति "प्राणी" (creatures) अर्थ किया है और यहां पर यही अर्थ समीचीन है; तु०—ऋ० ७, ४, १; ६, ७०, ३; ४, १७, २०। **अस्य महिना**=वें० अस्य को महिना से अन्वित करते हुए व्याख्यान करता है—"वरुणस्य महत्त्वेन"। ग्रि०, गै०, मै०, पी०, लुड्विग, तथा रैनू वें० की भांति **अस्य** का अन्वय **महिना** से करते हैं और यही अन्वय तथा अर्थ यहां पर समीचीन है। यह **महिमन्** का तृ० ए० है (वै० व्या० १३१क)। परन्तु सा० **अस्य** को **जनूंषि** से अन्वित करता है "अस्य वरुणस्य जनूंषि जन्मानि" और मैक्समूलर, रोट तथा ग्रा० इस अन्वय को स्वीकार करते हैं। **वि तस्तम्भ**=√स्तम्भ्+लिट् प्र० पु० ए०; सा० "विविधं स्तब्धे स्वकीये स्थाने स्थिते अकरोत्"; तु०—ऋ० ४, ५०, १ पर टि०। **नाकम्**=वें० "तृतीयं लोकम् आदित्यं वा", सा० "आदित्यम्"; दे०—ऋ० १, १६, ६ पर टि०। **ऋष्वम्**=वें० तथा सा० "दर्शनीयम्"; दे०—ऋ० १, २५, ६ पर टि०। **द्विता**=वें० तथा सा० "द्वैधम्"। यास्क (५, ३) भी **द्विता** का व्याख्यान "द्वैधम्" करता है। इसके सम्बन्ध में ग्रा० (कोष) तथा मै० (Ved. Gr. Stu., pp. 234 ff.) का मत है कि यह अव्यय मूलत: **द्विता** का तृ० ए० था और इसका यौगिक अर्थ "दो प्रकार से" है, परन्तु प्रसंगानुसार इसका अर्थ "विशेषतया, अवश्यमेव, और भी" इत्यादि हैं। वर्तमान प्रसंग में पी० **द्विता** का अर्थ "and also", और मै० "as well" करता है। यहां पर इस का "दो प्रकार से" अर्थ समीचीन है। सा० ने इस भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"अहनि सूर्यं दर्शनीयं प्रेरयति रात्रौ नक्षत्रं तथेति द्विप्रकार:"। परन्तु यह व्याख्यान समीचीन नहीं है; दे०—**नाकम्**। **नक्षत्रम्**=वें० तथा सा० इसका अर्थ "नक्षत्रम्" ही करते हैं और मैक्समूलर, पी० तथा रैनू इसी मत का अनुसरण करते हैं। परन्तु ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० का मत है कि यहां पर **नक्षत्र** शब्द एकवचन में "सूर्य" का वाचक है और ब० में "तारों" का वाचक होता है। मो० के मतानुसार, यहां पर एकवचनान्त **नक्षत्रम्** "तारासमूह" के लिये प्रयुक्त किया गया है और यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **प्र नुनुदे**=√नुद्+लिट् प्र० पु० ए०। सा० **नाकम्** तथा **नक्षत्रम्** दोनों को **प्र नुनुदे** के कर्म मानता है और गै०, ग्रि०, पी० तथा मै० भी इसी मत का अनुसरण करते हैं। यही व्याख्यान समीचीन है। इसके विपरीत मैक्समूलर आदि कतिपय विद्वान् **नक्षत्रम्** को **पप्रथत्** का कर्म मानते हुए जो व्याख्यान करते हैं वह ग्राह्य नहीं है। **पप्रथत्**=√प्रथ्+अतिलिट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २५७)। एक नये वाक्य के आदि में आने के कारण इस ति० पर उदात्त है (वै० व्या० ४१३ख)। **भूम**=**भूमन्** नपुं० का द्वितो० ए०। आद्युदात्त **भूमन्** शब्द नपुं० तथा "भूमि" का वाचक है (जैसे यहां पर) और अन्तोदात्त **भूमन्** शब्द पुं० तथा "आधिक्य" का वाचक है (वै० व्या० १३१ क, ख)।

छ०—छन्द:परिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रथम पाद में तु अस्य उच्चारण अपेक्षित है।

२. उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् उत। स्वया। तन्वा। सम्। वदे। तत्।
कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि। कदा। नु। अन्तः। वरुणे। भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत किम्। मे। हव्यम्। अहृणानः। जुषेत।
कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥ कदा। मृळीकम्। सुऽमनाः। अभि। ख्यम्॥

अनु०—और (उत) मैं अपने आप (स्वया तन्वा) उस (तत्) का अर्थात् वरुण-महत्त्व का संवाद करूँ (सं वदे) अर्थात् मनन करूँ। मैं वरुण में (अन्तः वरुणे) अर्थात् उसके ध्यान में लीन कब होऊँगा (कदा नु भुवानि)? क्या (किम्) वह देव क्रुद्ध न होता हुआ (अहृणानः) मेरे हव्य को (मे हव्यम्) प्रीतिपूर्वक स्वीकार करेगा (जुषेत)? मैं प्रसन्नचित्त होता हुआ (सुमनाः) उसकी दया को (मृळीकम्) कब देखूँगा (कदा अभि ख्यम्)?

टि०—प्रथम तथा द्वितीय पाद में ३ तथा १ के अङ्क द्वारा चिह्नित स्वतन्त्र स्वरित के लिये देखिये—वै० व्या० ३९१·६। उत स्वया तन्वा सं वदे=वें० "अपि च आत्मीयेन पुत्रेण सह अहम् एतत् वदामि", सा० "वरुणं शीघ्रं दिदृक्षमाण ऋषिरनया वितर्कयति। उतेति विचिकित्सायाम्। उत किं स्वया तन्वा स्वीयेन आत्मीयेन शरीरेण सं वदे सहवदनं करोमि। आहोस्वित् तत् तेन वरुणेन सह संवदे।" इस पाद का अनुवाद मै० "And I converse thus myself", मैक्समूलर तथा ग्रि० "With my own heart I commune", पी० "I say to my heart" और गै० तथ रैनू "And then I hold counsel with myself" करते हैं। इस पाद का आदि शब्द उत "और" इसे ऋचा १ के अर्थ से जोड़ता है और अन्तिम शब्द तत् "वह" ऋचा १ में वर्णित वरुण-महत्त्व की ओर संकेत करता है। स्वया तन्वा "अपने आप से" सं वदे "संवाद करूँ" का अभिप्राय है "मनन करना"। ऋषि का भावार्थ यह है—"और मैं वरुण के उस महत्त्व का मनन करूँ जिसका वर्णन पूर्ववर्ती ऋचा में किया गया है।" तन्वा=तनू का तृ० ए० "स्वयम्" के अर्थ में (वै० व्या० १७३ग)। कदा नु अन्तः वरुणे भुवानि=वें० "कदा अहं वरुणस्य अन्तः भवानि", सा० "कदा नु कदा खलु वरुणे देवे अन्तः भुवानि अन्तर्भूतो भवानि। वरुणस्य चित्ते संलग्नो भवानीत्यर्थः"। रोट, मैक्समूलर, गै० तथा पी० इस पाद का अनुवाद करते हैं—

"मैं वरुण के समीप कब पहुँचूंगा ?" लुड्विग, ग्रा० तथा ग्रि० अनुवाद करते हैं—"मैं वरुण के साथ संयुक्त कब होऊँगा ?" और मै० का अनुवाद है—"When, pray, shall I be in communion with Varuṇa ?" जो इन सब में श्रेष्ठ है। इस पाद में ऋषि का अभिप्राय यह है कि—"मैं वरुण में अर्थात् उसके ध्यान में लीन कब होऊँगा ?" भुवानि=√भू+विकरण-लुग्-लुङ् से लेट् उ० पु० ए० (वै० व्या० २६६ख)। मृळीकम्=वें० तथा सा० "सुखयितारम्"। वें० तथा सा० की भांति मैक्समूलर, लुड्विग तथा ग्रि० इसका अर्थ "दयालु" करते हैं, जबकि ग्रा०, गै०, पी०, मै० तथा रैनू इसका अर्थ "दया" करते हैं। यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। अभि ख्यम् = √ख्या + अङ्-लुङ् से विमू० उ० पु० ए० (वै० व्या० २६६क)।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा० आदि के मतानुसार प्रथमपाद में तन्वा का तनुआ और द्वितीय पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा न अन्तर् उच्चारण अपेक्षित है।

३. पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षू-	पृच्छे। तत्। एनः। वरुण। दिदृक्षु।
पो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।	उपो इति। एमि। चिकितुषः। विऽपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुर्	समानम्। इत्। मे। कवयः। चित्। आहुः।
अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥	अयम्। ह। तुभ्यम्। वरुणः। हृणीते॥

अनु०—हे वरुण! मैं उस (तत्) पाप को (एनः) पूछता हूँ (पृच्छे) जो किसी संकट के रूप में प्रकट होने वाला है (दिदृक्षु)। उसे पूछने के लिये (विपृच्छम्) मैं विद्वानों के पास जाता हूँ (चिकितुषः उपो एमि)। क्रान्तदर्शी विद्वान् भी (कवयः चित्) मुझे (मे) एक ही बात (समानम् इत्) कहते हैं (आहुः)—"निःसन्देह (ह) यह वरुण (अयं वरुणः) तुझ पर क्रुद्ध है (तुभ्यं हृणीते)"।

टि०—पृच्छे=√प्रच्छ्+लट् उ० पु० ए० आ०; पादादि में आने के कारण यह ति० सोदात्त है। दिदृक्षु=वें० "अहं दिदृक्षुः सर्वं भूतम्। यो मां मद्दिदृक्षयाऽऽगच्छति तं पृच्छामि", सा० "दिदृक्षु। छान्दसः सुलोपः। द्रष्टुमिच्छन्नहम्"। वें० तथा सा०

की भांति ग्रा० (कोष), ग्रि०, गै०, पी० तथा रैनू भी दिदृक्षु को दिदृक्षुः के स्थान पर प्रथ० ए० का रूप मानते हैं और इन विद्वानों के मतानुसार सन्धि में पदान्तीय विसर्ग का लोप हो गया है। और Ved. Gr., p. 294 में मै० ने पहले इसी मत का समर्थन किया था, परन्तु V. R. में मै० लैन्मैन (Noun Inflection, p. 405) के मत का समर्थन करता है जिसके अनुसार दिदृक्षु क्रिवि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है और क्रिवि० होने के कारण उदात्त अन्तिम से पूर्ववर्ती अक्षर पर चला गया है। बर्गेन तथा ओल्डनबर्ग भी इसी मत का समर्थन करते हैं। लुड्विग दिदृक्षु को परिकल्पित दिदृश् शब्द का स० ब० मानता है, परन्तु इस कल्पना के लिये कोई आधार नहीं है। हमारा मत है कि दिदृक्षु को एनः का वि० मान कर व्याख्यान किया जा सकता है, क्योंकि ये दोनों नपुं० के रूप हैं। उकारान्त नपुं० का द्विती० ए० रूप होने के कारण दिदृक्षु के आगे विसर्ग आने का प्रश्न ही नहीं उठता (वै० व्या० १४०.२)। उस एनः "पाप" को दिदृक्षु कहा जा सकता है जो किसी दुःख या संकट के रूप में "दिखाई देने वाला है" अर्थात् "प्रकट होने वाला है", जैसे मुमूर्षु "मरने वाला" का प्रयोग होता है। चिकितुषः=चिकित्वस् "विद्वान्" का द्विती० ब० (वै० व्या० १२८ख)। विपृच्छम् = √प्रच्छ् + तुमर्थक अम्-प्रत्यय (वै० व्या० ३४०ख)। उपो = उप+उ (वै० व्या० ४५ख. ६)।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद के आदि में उपो एमि उच्चारण अपेक्षित है।

४. किमाग॑ आस वरुण॒ ज्येष्ठं॒	किम्। आग॑ः। आ॒स॒। व॒रु॒ण। ज्येष्ठ॑म्।
यत्स्तो॒तारं॒ जिघां॑ससि॒ सखा॑यम्।	यत्। स्तो॒तार॑म्। जिघां॑ससि। सखा॑यम्।
प्र तन्मे॑ वोचो दूळभ स्वधा॒वो-	प्र। तत्। मे॒। वो॒चः॒। दुः॒ऽद॒भ॒। स्व॒धा॒ऽव॒ः।
ऽव॑ त्वाने॒ना नम॑सा तु॒र इ॑याम्॥	अव॑। त्वा॒। अ॒ने॒नाः। नम॑सा। तु॒रः। इ॒या॒म्॥

अनु०—हे वरुण! वह कौन-सा बड़ा (ज्येष्ठम्) अपराध (आगः) हुआ है (आस), जिसके कारण (यत्) तुम स्तुति करने वाले (स्तोतारम्) सखा को (सखायम्) मारना चाहते हो (जिघांससि)। किसी के द्वारा न ठगे जाने वाले (दूळभ) तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न (स्वधावः) वरुण देव! तुम मुझे (मे) वह अपराध (तत्) बताओ (प्र वोचः),

ताकि मैं (पश्चात्ताप द्वारा) निरपराध (अनेनाः) होता हुआ नमस्कार के साथ (नमसा), शीघ्र (तुरः), नम्रतापूर्वक तुम्हारे पास पहुँचूं (त्वा अव इयाम्)।

टि०—आस=√अस् "होना" + लिट् प्र० पु० ए०। ज्येष्ठम्=वें० "प्रवृद्धतरम्", सा० "अधिकम्"। वें० तथा सा० की भांति ग्रा०, ग्रि०, गै०, मै०, पी० तथा रेनू आदि विद्वान् भी ज्येष्ठम् को आगः का वि० मानते हैं और यही मत समीचीन है। इस के विपरीत लुड्विग तथा मैक्समूलर इसे द्वितीय पाद के सखायम् का वि० मानते हैं, परन्तु यह मत निराधार है। जिघांससि=√हन्+सन्+लट् म० पु० ए० (वै० व्या० २९४.२); यत् के कारण यह ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ङ)। प्र वोचः = √वच् के अङ्लुङ् से विमू० म० पु० ए० (वै० व्या० २६९)। दूळभ = दुर् + दभ "जिसे धोखा देना दुष्कर है वह" (वै० व्या० ५६ क. २); सं० होने के कारण सर्वानुदात्त है। स्वधावः=वें० "बलवन्", सा० "तेजस्विन्"। ग्रा०, गै० तथा मै० इसका अर्थ "self-dependent" करते हैं। परन्तु स्वधा शब्द ऋ० में प्रायेण "स्वभाव, नियम, स्वाभाविक शक्ति" अर्थ में प्रयुक्त होता है (दे०-ऋ० १, १५४, ४ तथा १०, १२९, २ पर टि०) और स्वधा के साथ वत् प्रत्यय (वै० व्या० १९८) जोड़ने से बने स्वधावत् शब्द का समीचीन अर्थ है—"अपनी स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न।" मो० ने इसका अर्थ "adhering to custom or law, regular, constant, faithful" किया है और उसी की भांति रेनू ने "strong in thy laws" किया है। सं० ए० में स्वधावत् का स्वधावः रूप बनता है (वै० व्या० १२६)। अव इयाम्=√इ+विलि० उ० पु० ए०; वें० "अभिमुखं गच्छामि", सा० "उपगच्छेयम्"। इसका अर्थ मैक्समूलर ने "I shall fall down", ग्रि० ने "I will approach", पी० ने "I shall come", मै० ने "I would appease", रेनू ने "I would pray for mercy" और गै० ने "क्षमा-याचना करूँगा" किया है। अव सामान्यतया "अधस्तात्" अर्थ में धातुओं के साथ प्रयुक्त होता है। अतएव अव+√इ का अर्थ "नीचे जाना, गिरना, झुकना" है; तु० ऋ० ५, ७८, ८। यहां पर इसका अर्थ "नम्रतापूर्वक पहुंचना" है। तुरः=वें० "त्वरमाणः", सा० "त्वरमाणः शीघ्रः"। ग्रा०, गै०, मै० तथा रेनू इसका अर्थ "उत्सुक" करते हैं, जबकि मैक्समूलर, ग्रि० तथा पी० इसका अनुवाद "quickly" करते हैं। जैसा कि √त्वर् से की जाने वाली इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, तुर का शाब्दिक अर्थ "शीघ्र" है, परन्तु प्रसंगानुसार गौण अर्थ "उत्सुक" हो सकता है। दोनों का भावार्थ समान है।

छ०—ग्रा० के मतानुसार, छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये ज्येष्ठं का जिएष्ठं (मै०-ज्यइष्ठं) उच्चारण अपेक्षित है।

५. अवं द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नो- अवं । द्रुग्धानि । पित्र्या । सृज । नः ।
ऽव या वयं चकृमा तनूभिः । अवं । या । वयम् । चकृम । तनूभिः ।
अवं राजन्पशुतृपं न तायुं अवं । राजन् । पशुऽतृपम् । न । तायुम् ।
सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥ सृज । वत्सम् । न । दाम्नः । वसिष्ठम् ॥

अनु०—(हे वरुण देव !) हमारे पूर्वजों के द्वारा किये गये (पित्र्या) द्रोहकर्मों (द्रुग्धानि) अर्थात् दुष्कर्मों को दूर हटाओ (अव सृज) अर्थात् क्षमा करो; जो (या) दुष्कर्म हमने स्वयं (तनूभिः) किये हैं (चकृम) उन्हें दूर हटाओ (अव सृज) अर्थात् क्षमा करो। हे राजन् वरुण ! जैसे पशुलोलुप (पशुतृपम्) चोर को (पायुं न) तथा बछड़े को (वत्सं न) रस्सी से (दाम्नः) मुक्त करते हैं, उसी प्रकार प्रार्थना-कर्त्ता वसिष्ठ को दुष्कर्म-बन्धन से मुक्त करो (अव सृज)।

टि०—चकृम=√कृ+लिट् उ० पु० ब०; या के कारण सोदात्त है। पशुतृपम् न तायुम्=वें० "यथा राजन् ! स्तेनः प्रायश्चित्तं कुर्वाणः तृप्तपशुकः अवसृज्यते, यवसे प्रदर्शिते यदि पशवो भक्षयन्ति ततः अवसृज्यते", सा० "स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वावसाने घासादिभिः पशूनां तर्पयितारं स्तेनमिव"; तु०-मनु० ११, १९६—"सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम्। गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम्"। विल्सन की भांति ग्रि० भी सा० का अनुसरण करता है। अवेस्ता के √त्रिफ् "चुराना" के साथ √तृप् को सम्बद्ध करते हुए लैन्मैन (Sanskrit Reader, 165) आदि विद्वान् पशुतृप् का अर्थ "पशु-चोर" करते हैं। परन्तु रोट, ग्रा०, मैक्समूलर, मै० आदि विद्वान् पशुतृप् का शाब्दिक अर्थ "पशुओं से तृप्त होने वाला" मानते हुए इसका गौण अर्थ "पशु-लोलुप" और भावार्थ "पशु-चोर" करते हैं। यही अर्थ समीचीन है और ऋ० १०, १४, १२ में प्रयुक्त असुतृप् "प्राण-लोलुप" (यम के कुत्ते) शब्द से भी इसी व्याख्यान का समर्थन होता है। वें०, सा० तथा लैन्मैन की कल्पनाओं के लिये कोई वैदिक आधार नहीं है। तनूभिः="स्वयं", दे०-ऋचा २। दाम्नः=दामन्, "रस्सी" का पं० ए०।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा० आदि के मतानुसार, प्रथमपाद में पित्र्या के स्थान पर पितिआ तथा चतुर्थ पाद में दाम्नो के स्थान पर दामनो उच्चारण

अपेक्षित है और सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद के आदि में अव के अ का उच्चारण करना चाहिए ।

६. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा — न । सः । स्वः । दक्षः । वरुण । ध्रुतिः । सा ।
सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः । — सुरा । मन्युः । विऽभीदकः । अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे — अस्ति । ज्यायान् । कनीयसः । उपऽआरे ।
स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥ — स्वप्नः । चन । इत् । अनृतस्य । प्रऽयोता ॥

अनु०—हे वरुण ! वह अपराध (सा ध्रुतिः) मेरे अपने विवेक (स्वः दक्षः) के फलस्वरूप नहीं था। शराब (सुरा), क्रोध (मन्युः), जुआ खेलने का पासा (विभीदकः) तथा अज्ञान (अचित्तिः) उसका कारण रहा होगा। (सुरा इत्यादि) छोटी वस्तु के (कनीयसः) अपराध के कारण (उपारे) बड़ा पुरुष (ज्यायान्) अपराधी है। स्वप्न भी (स्वप्नः चन) अर्थात् प्रमाद भी नियम के उल्लंघन से जोड़ने वाला अर्थात् उल्लंघन में प्रवृत्त कराने वाला (अनृतस्य प्रयोता) ही है (इत्) ।

टि०—स्वः दक्षः=वें० "स्वं बलम्", सा० "पुरुषस्य स्वभूतं तद्वलम्"। पी० ने सा० के अनुसरण में "my own strength" अनुवाद किया है, जबकि मैक्समूलर, ग्रि० तथा गै० "own will", मै० तथा रैनू "own intent" और ग्रा० "own insight, understanding" अर्थ करता है। दक्ष शब्द का मुख्यार्थ "बुद्धि" है, दे०—ऋ० ४, ५४, ३ पर टि०। वर्तमान प्रसंग में अपने अनुचित कार्य अर्थात् अपने पापकर्म का कारण बताते हुए वक्ता कहता है कि उसकी अपनी "बुद्धि" अर्थात् "विवेक" उसका कारण नहीं था। गै० तथा मै० आदि के व्याख्यान का भावार्थ इससे मिलता-जुलता है। ध्रुतिः=वें० "ध्रुतिः इति ध्रुवां नियतिम् आह। न पुरुषः स्वैरं तदनुतिष्ठति, दैवाभिपन्नः अनुतिष्ठति इत्यर्थः", सा० "ध्रुतिः स्थिरा उत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगतिः कारणम्। 'ध्रु गतिस्थैर्ययोः' इति धातुः। सा ध्रुतिर्वक्ष्यमाणरूपा"। √ध्रु>√धुर्, √धूर्व, √ध्वृ "धोखा देना" से ध्रुतिः की व्युत्पत्ति मानते हुए रोट, ग्रा०, ग्रि०, मो०, मै०, मैक्समूलर आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "seduction, temptation" करते हैं और अपने मत के समर्थन में वरुण-ध्रुत् (ऋ० ७, ६०, ६),

अस्मृतध्रु (१०, ६१, ४), सत्यध्वृत् (१०, २७, १) तथा अधूर्षत (५, १२, ५) का निर्देश करते हैं। परन्तु भाष्यकारों तथा उपर्युक्त आधुनिक विद्वानों के मत के विपरीत गै० ध्रुतिः को अपराध का कारण न मानते हुए इसका अर्थ "अपराध" करता है और इसे वाक्य का उद्देश्य मानते हुए प्रथम पाद का अनुवाद इस प्रकार करता है—"हे वरुण! वह अपराध मेरी अपनी इच्छा का नहीं है"। रैनू गै० के मत को स्वीकार करता है और यही व्याख्यान अधिक समीचीन है और वरुणधृत् के प्रयोग से भी इसकी पुष्टि होती है। विभीदकः=वें० "देवनहेतुः", सा० "द्यूतसाधनोऽक्षः"। इसका शाब्दिक अर्थ अक्ष "पासा" है जो विभीदक वृक्ष का सूखा फल (अर्थात् फल की गुठली) होता था; दे०—ऋ० १०, ३४, १ पर टि० और यहां पर यह "द्यूत" का वाचक है। अस्ति ज्यायान् कनीयसः उपारे=वें० "अस्ति ज्यायान् देवः नाम कनीयसः समीपे", सा० "अपि च कनीयसः अल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापवृतौ उपारे उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितः ज्यायान् अधिकः ईश्वरः अस्ति। स एव तं पापे प्रवर्तयति। तथा चाम्नातम्—'एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौ० उ० ३, ४) इति"। उपार शब्द का "अपराध" अर्थ करते हुए, रोट आदि अनेक विद्वान् इस पाद का अनुवाद इस प्रकार करते हैं—**Roth**: "The weak sinner succumbs to the stronger" (Siebenzig Lieder); Grassmann: "The young man's fault overmasters the old man": Muir: "The stronger pervertes the weaker"; Max Müller and Griffith: "The old was near to lead astray the younger"; Macdonell: "the older is in the offence of the younger"; Geldner; "The older is to blame for the offence of the younger"; Renou: "The eldest answers for the youngest." लुड्विग के मतानुसार, ज्यायान् से "वरुण" अभिप्रेत है। उपार शब्द का "अपराध" अर्थ उचित प्रतीत होता है और उप+√ऋ के वैदिक प्रयोगों से इस मत की पुष्टि होती है, तु०—उपारणे (ऋ० ८, ३२, ११), उपारिम (ऋ० १०, १६४, ३; अ० ७, १०६, १)। इस पाद का कनीयसः रूप द्वितीय पाद के प्रत्येक कारण (सुरा इत्यादि) के लिये ए० में प्रयुक्त किया गया है और इन छोटी-छोटी वस्तुओं की तुलना में वक्ता अपने लिये ज्यायान् "बड़ा" पद का प्रयोग करता है। इस पाद का भावार्थ यह है कि सुरा इत्यादि छोटी वस्तु के (कनीयसः) अपराध में (उपारे) अर्थात् अपराध के कारण (यहां पर कारण में स० विभक्ति आई है; तु०—ऋ० ६, ७१, २—मै०) बड़ा पुरुष (ज्यायान्) अपराधी है। स्वप्नः चन इत् अनृतस्य प्रयोता=वें० "तथा स्वप्नः अपि पुरुषस्य निरर्थकस्य मिश्रयिता भवति", सा० "एवं च सति स्वप्नः चन स्वप्नः अपि अनृतस्य=पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति। इत् इति पूरकः। स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रति कृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति।" आधुनिक विद्वानों में भी इस पाद के व्याख्यान के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं—Max Müller: "Nay, sleep itself suggests unrighteous action"; Peterson: "Even sleep

makes me to sin"; Geldner and Macdonell: "Not even sleep is the warder off of wrong"; Renou: "Even sleep does not abolish the wrong." मुख्य मतभेद **चन** तथा **प्रयोता** पदों के व्याख्यान के विषय में हैं। वें० तथा सा० के विपरीत रोट, ग्रा०, गै०, मै०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् **चन** का अर्थ "not even" और **प्रयोता** का अर्थ "warder" करते हैं। इस पाद का व्याख्यान मुख्यतया **प्रयोता** के अर्थ पर आश्रित है। यह निर्विवाद सत्य है कि ऋ० आदि में दो भिन्नार्थक **यु** धातुओं का प्रयोग मिलता है - (१) एक **यु** धातु का अर्थ "जोड़ना, युक्त करना, बांधना इत्यादि" है; (२) और दूसरे **यु** धातु का अर्थ "पृथक् करना, दूर हटाना इत्यादि" है। धापा० में दोनों विरोधी अर्थों को "यु मिश्रणेऽमिश्रणे च" के द्वारा एक ही धातु से जोड़ दिया गया है। **प्रयोतृ** शब्द की व्युत्पत्ति इन दोनों में से किसी एक **यु** धातु से की जा सकती है (प्र+√यु+तृच्; वै० व्या० ३६५)। आधुनिक विद्वान् प्र+√यु "पृथक् करना" के कुछ अन्य प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए इसी धातु से **प्रयोतृ** की व्युत्पत्ति मानते हुए व्याख्यान करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि **प्रयोतृ** शब्द का केवल यही एक प्रयोग मिलता है; अतएव प्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्र+√यु "जोड़ना" से भी इसकी व्युत्पत्ति उचित हो सकती है और यहां पर यही व्युत्पत्ति समीचीन है। ग्रा० तथा मै० आदि विद्वान् स्वीकार करते हैं कि **चन** निपात अनेक मन्त्रों में निषेधवाचक नहीं है और केवल "भी" का वाचक है। यहां पर प्रसंगानुसार यही अर्थ समीचीन है। इस ऋचा के द्वितीय तथा तृतीय पाद में वर्णित "अपराध के कारणों" की शृंखला में जुड़े हुए इस चतुर्थ पाद का भावार्थ यह है—"स्वप्न अर्थात् प्रमाद भी अनृत अर्थात् नियमोल्लंघन का जोड़ने वाला होता है अर्थात् नियमोल्लंघन करवाने वाला होता है"।

७. **अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्य-**	**अरम्। दासः। न। मीळ्हुषे। कराणि।**
हं देवाय भूर्णयेऽनागाः।	**अहम्। देवाय। भूर्णये। अनागाः।**
अचेतयदचितो देवो अर्यो	**अचेतयत्। अचितः। देवः। अर्यः।**
गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥	**गृत्सम्। राये। कविऽतरः। जुनाति॥**

अनु०—मैं निरपराध होता हुआ (**अनागाः**) दानशील (**मीळ्हुषे**) तथा गतिशील देव के लिये (**भूर्णये देवाय**) भृत्य की भांति (**दासः न**) सेवा करूंगा (**अरं कराणि**)। उदार देव ने (**अर्यः देवः**) अज्ञानियों को (**अचितः**) ज्ञान कराया है (**अचेतयत्**)। अत्यधिक क्रान्तदर्शी देव (**कवितरः**)

बुद्धिमान् उपासक को (गृत्सम्) धन के लिये (राये) तेज़ी से आगे बढ़ाता है (जुनाति)।

टि०—दास: न=वें० "दास: इव स्वामिने", सा० "यथा भृत्य: स्वामिने सम्यक् परिचरति तद्वत्"। यह अन्तोदात्त दास शब्द "भृत्य" का वाचक है, जबकि आद्युदात्त दास शब्द वि० है; दे०—ऋ० ७, ८३, १ तथा २, १२, ४ पर टि०। अरं कराणि=वें० 'पर्याप्त कर्म ··· करोमि", सा० "अरम् अलं पर्याप्तं कराणि परिचरणं करवाणि"। ऋ० में अरं+√कृ का प्रयोग प्रायेण "सेवा करना" अर्थ में होता है, यद्यपि उत्तरकालीन संस्कृत में "विभूषित करना" अर्थ में इसका प्रयोग होने लगा और अरम् के र का ल बन गया (तु०—पा० १, ४, ६४)। √कृ के विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से लेट् उ० पु० ए० में कराणि बनता है (वै० व्या० २६६ख)। मीळहुषे=मीढ्वस् का च० ए०; दे०—ऋ० २, ३३, १४ पर टि०। भूर्णये=वें० "क्षिप्रकारिणे", सा० "जगतो भर्त्रे"। मैक्समूलर, लुड्विग, ग्रि०, मै० तथा रैनू यहां पर भूर्णि वि० का अर्थ "angry" करते हैं, जबकि वें० की भांति गै० "क्षिप्रकारी" (impatient) और ग्रा० (कोष) "उत्सुक" अर्थ करता है। ऋ० में भूर्णि शब्द पशु, अश्व, मृग, नृ, स्पश् इत्यादि के वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इन प्रयोगों तथा प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए भूर्णि शब्द का अर्थ "गतिशील या शीघ्रगामी" प्रतीत होता है। स्क०, वें० तथा सा० ने भी कहीं-कहीं इस से मिलता-जुलता अर्थ किया है; तु०—ऋ० १, ५५, ७; ६६, १; ८, १७, १५; २५, १५। √भुर् से भूर्णि की जो व्युत्पत्ति मानी जाती है उससे भी इसी मत का समर्थन होता है। अर्य:=वें० तथा सा० "स्वामी"। ग्रा० (कोष), मै० तथा रैनू इसका अर्थ "noble", ग्रि० "gentle" और रोट, मैक्समूलर तथा पी० "gracious" करते हैं, जबकि वें० तथा सा० की भांति गै० "स्वामी" अर्थ करता है। ऋ० ७, ६४, ३ में भी वरुण को देवो अर्य: कहा गया है। प्रसंग तथा प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए यहां पर अर्य: का "उदार" अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। गृत्सम्=वें० तथा सा० "स्तोतारम्"। ग्रा० तथा गै० इसका अर्थ "चतुर", मैक्समूलर, ग्रि० तथा पी० "the wise man" और मै० "the experienced man" करता है। निघ० ३, १५ में गृत्स: "मेधावी" के नामों में गिनाया गया है और इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए यास्क (६, ५) √गृ "स्तुतौ" से इसकी व्युत्पत्ति मानता है। ऋ० ४, ५, २ तथा अन्य प्रयोगों को देखते हुए गृत्स का "मेधावी, बुद्धिमान्" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। जुनाति=वें० "प्रेरयति" सा० "प्रेरयतु"। √जू "शीघ्र गति से जाना" का सकर्मक "त्वरित करना" प्रयोग है और क्र्या० का रूप है (वै० व्या० २५०. १) अचेतयत् = √चित्+णिच्+लङ् प्र० पु० ए० (तु०—ऋ० ७, ६०, ६); पादादि में आने के कारण सोदात्त है।

छ०—द्वितीय पाद में छन्द:परिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा पादादि में अहं तथा पादान्त में अनागा: उच्चारण अपेक्षित है।

८. अ॒यं सु तुभ्यं॑ वरुण स्वधावो	अ॒यम् । सु । तुभ्य॑म् । व॒रु॒ण॒ । स्व॒धा॒ऽव॒: ।
हृ॒दि स्तोम॒ उप॑श्रितश्चिदस्तु ।	हृ॒दि । स्तोम॑: । उप॑ऽश्रितः । चि॒त् । अ॒स्तु॒ ।
शं न॒: क्षेमे॒ शमु॒ योगे॑ नो अस्तु	शम् । न॒: । क्षेमे॑ । शम् । ऊँ॒ इति॑ । योगे॑ । न॒: । अ॒स्तु॒ ।
यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः ॥	यू॒यम् । पा॒त॒ । स्व॒स्तिऽभि॑: । सदा॑ । न॒: ॥

अनु०—अपनी स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न (स्वधावः), हे वरुण! तुम्हारे लिये किया गया (तुभ्यम्) यह स्तोत्र (अयं स्तोम) तुम्हारे हृदय में (हृदि) अच्छी प्रकार आश्रित ही हो जाये (सु उपश्रितः चिद् अस्तु)। सुखपूर्वक निवास में (क्षेमे) तथा उद्यमयुक्त कर्म में (योगे) हमारे लिये (नः) सुख हो (शम् अस्तु)। तुम कल्याणों के द्वारा सदा हमारी रक्षा करो।

टि०—स्वधावः=दे०—ऋचा ४ पर टि०। शं नः क्षेमे—इत्यादि तृतीय तथा चतुर्थ पाद के लिये ऋ० ७, ५४, ३ पर टि० देखिये। शम्=दे०–ऋ० २, ३३, १३ पर टि०।

ऋ. ७, १०३ (मण्डूकाः)

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—मण्डूकाः। छन्दः—१ अनुष्टुप्; २—१० त्रिष्टुप्।

१. संवत्सरं शशयाना	संवत्सरम् । शशयानाः ।
ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।	ब्राह्मणाः । व्रतऽचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां	वाचम् । पर्जन्यऽजिन्विताम् ।
प्र मण्डूका अवादिषुः ॥	प्र । मण्डूकाः । अवादिषुः ॥

अनु०—एक वर्ष तक (**संवत्सरम्**) सोते हुए (**शशयानाः**), वेदमन्त्रों का अध्ययन करने वाले विद्वानों की भांति (**ब्राह्मणाः**) (मौन) व्रत का पालन करने वाले (**व्रतचारिणः**), मेण्डक (**मण्डूकाः**) पर्जन्य द्वारा सक्रिय की गई (**पर्जन्यजिन्विताम्**) वाणी को (**वाचम्**) बोलने लगे हैं (**प्र अवादिषुः**)।

टि०—**संवत्सरम्**=निरन्तर संयोग में कालवाचक शब्द में द्विती०; दे०—वै० व्या० ३७९ ङ। **शशयानाः** = √शी+कानच् (वै० व्या० ३३२ ग)+प्रथ० ब०। **ब्राह्मणाः व्रतचारिणः**=यास्क (९, ६) "व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः। अपि वोपमार्थे स्यात्। ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति", वें० "ब्राह्मणाः व्रतचारिणोऽनश्नन्तः", सा० "व्रतचारिणः व्रतं संवत्सरसत्रात्मकं कर्माचरन्तः ब्राह्मणाः। लुप्तोपममेतत्। एवंभूता ब्राह्मणा इव", अ० ४, १५, १३ के भाष्य में सा० "व्रतं नियमविशेषं चरन्ति अनुतिष्ठन्तीति व्रतचारिणः"। ग्रि०, ग्रा०, गै० प्रभृति अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् **व्रतचारिणः** का अर्थ "धार्मिक नियम का पालन करने वाले" करते हैं, जबकि मै० यास्क की भांति इसका व्याख्यान "practising a vow of silence" (V. R.) करता है और प्रसंगानुसार यही व्याख्यान समीचीन है। यास्क तथा सा० की भांति लगभग सभी विद्वान् ब्राह्मणाः के साथ इव का अध्याहार करते हैं और यह उचित भी है। यहां पर ब्राह्मणाः पद जातिवाचक नहीं है अपितु ब्रह्मन् "वेदमन्त्रों का अध्ययन करने वालों" का वाचक है; तु०—पा० ४, २, ५९ "तदधीते तद्वेद"। **पर्जन्यजिन्विताम्**=यास्क तथा वें० "पर्जन्यप्रीताम्", दु० "पर्जन्येन तर्पिताम्", सा० "पर्जन्येन प्रीतां यया वाचा पर्जन्यः प्रीतो भवति तादृशीं वाचम्"। यह तृ० तस० है और पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३६८ ग० ३)। अतएव सा० का व्याख्यान "यया पर्जन्यः प्रीतो भवति" ग्राह्य नहीं है। यास्क (९, २२) √जिन्व्

के अर्थ के विषय में कहता है "जिन्वतिः प्रीतिकर्मा"। अत एव अधिकतर भाष्यकार यास्क के अनुसार √जिन्व् का अर्थ करते हैं। परन्तु मै०, ह्विटने आदि आधुनिक विद्वान् √जिन्व् का अर्थ "to quicken" मानते हैं। अतएव ग्रा० **पर्जन्यजिन्विताम्** का अर्थ "पर्जन्य द्वारा सजीव की गई", गै० "पर्जन्य द्वारा जगाई गई", मो० "impelled by Parjanya", और मै० तथा रैनू "roused by Parjanya" करते हैं। यदि हम ऋ० में आए हुए √जिन्व् के प्रयोगों का विवेचन करें, तो इसका "सक्रिय करना" अर्थ प्रतीत होता है और **पर्जन्यजिन्विताम्** का अर्थ होगा "पर्जन्य द्वारा सक्रिय की गई"। **प्र अवादिषुः** = √वद्+सेट्—सिज्—लुङ् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २७९)।

२. दिव्या आपो अभि यदेनमायन्	दिव्याः। आपः। अभि। यत्। एनम्। आयन्।
दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।	दृतिम्। न। शुष्कम्। सरसी इति। शयानम्।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां	गवाम्। अह। न। मायुः। वत्सिनीनाम्।
मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति॥	मण्डूकानाम्। वग्नुः। अत्र। सम्। एति॥

अनु०—जब (यत्) द्युलोकसम्बन्धी जल (**दिव्याः आपः**) अर्थात् वर्षा-जल, सूखे (**शुष्कम्**) चर्ममय-पात्र की भाँति (**दृतिं न**), तालाब में (**सरसी**) पड़े हुए (**शयानम्**) इस मेण्डकगण के पास पहुंचे (**एनम् अभि आयन्**), बछड़ों से युक्त (**वत्सिनीनाम्**) गायों की रम्भा-ध्वनि की तरह (**गवां मायुः न**), मेण्डकों की ध्वनि (**मण्डूकानां वग्नुः**) यहाँ पर (**अत्र**) अर्थात् इस तालाब में संयुक्त होने लगती है (**सम् एति**)।

टि०—**दिव्याः आपः** = "द्युलोकसम्बन्धी जल" अर्थात् वर्षाजल। **अभि आयन्**=√इ+लङ् प्र० पु० ब० (तु०—ऋ० ३, ३३, ७)। **एनम्**=सा० "मण्डूकगणम्"; यहां पर तथा ऋचा ४ में (मण्डूकः) ए० जाति में प्रयुक्त हुआ है। **दृतिम्**=दे०—ऋ० ५, ८३, ७ पर टि०। **सरसी**=सरसी का स० ए० (वै० व्या० १४३ क० ७) तथा प्रगृह्य (वै० व्या० ४५ ख० २)। **वग्नुः**=वें० तथा सा० "शब्दः"। निघ० १, ११ में वग्नुः "वाक्" के नामों में गिनाया गया है। यहां पर इसका अर्थ "ध्वनि" है।

३. यदींमेनाँ उशतो अभ्यवंर्षीत्	यत् । ईम् । एनान् । उशतः । अभि । अवंर्षीत् ।
तृष्यावंतः प्रावृष्यागंतायाम् ।	तृष्याऽवंतः । प्रावृषि । आऽगंतायाम् ।
अखखलीकृत्यां पितरं न पुत्रो	अखखलीकृत्यं । पितरंम् । न । पुत्रः ।
अन्यो अन्यमुप वदंन्तमेति ।।	अन्यः । अन्यम् । उपं । वदंन्तम् । एति ।।

अनु०—ज्यों ही (यद् ईम्) वर्षा ऋतु के आने पर (प्रावृषि आगतायाम्) पर्जन्य ने प्यासे (तृष्यावतः) तथा जल के इच्छुक (उशतः) इन मेण्डकों के प्रति (एनान् अभि) वर्षा की है (अवर्षीत्), हर्षसूचक ध्वनि करके (अखखलीकृत्य) एक मेण्डक (अन्यः) बोलते हुए (वदन्तम्) दूसरे मेण्डक के पास जाता है (अन्यम् उप एति) जैसे पुत्र पिता के पास (पितरं न पुत्रः) ।

टि०—ईम्=यद्यपि सा० इस निपात को "पूरणः" मानता है, तथापि यह पूर्ववर्ती अव्यय यद् के साथ "एव" अर्थ में अन्वित है। एनाँ उशतः=सन्धि—वैशिष्टय के लिये दे०—वै० व्या० ५२ ख। उशतः=√वश्+शतृ+द्विती० ब०। अभि=यहां पर अभि "प्रति" के अर्थ में कर्मप्रवचनीय है (वै० व्या ३७९ च) और उपसर्ग नहीं है, क्योंकि यदि यह उपसर्ग होता तो यह अवर्षीत् के साथ समस्त तथा सर्वानुदात्त होता (वै० व्या० ४१४ ख)। अवर्षीत्=√वृष्+सेट्—सिज्—लुङ् प्र० पु० ए०; यद् के कारण सोदात्त है। इसका कर्ता पर्जन्यः है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद में प्रावृषि आगतायाम् उच्चारण अपेक्षित है।

४. अन्यो अन्यमनुं गृभ्णात्येनोर्	अन्यः । अन्यम् । अनुं । गृभ्णाति । एनोः ।
अपां प्रंसर्गे यदमंन्दिषाताम् ।	अपाम् । प्रऽसर्गे । यत् । अमंन्दिषाताम् ।
मण्डूको यदभिवृंष्टः कनिंष्कन्	मण्डूकः । यत् । अभिऽवृंष्टः । कनिंस्कन् ।
पृश्निंः संपृङ्क्ते हरिंतेन वाचंम् ।।	पृश्निंः । सम्ऽपृङ्क्ते । हरिंतेन । वाचंम् ।।

अनु०—जलों के बरसने पर (**अपां प्रसर्गे**) जब (**यद्**) दो मेण्डक मुदित होते हैं (**अमन्दिषाताम्**), तब इन दोनों में से (**एनोः**) एक (**अन्यः**) दूसरे को (**अन्यम्**) प्रसन्नता से पकड़ता है (**अनु गृभ्णाति**)। जब (**यद्**) वर्षा से गीला हुआ (**अभिवृष्टः**) मेण्डक-गण बार-बार इधर-उधर कूदने लगता है (**कनिष्कन्**), नाना-वर्ण वाला मेण्डक (**पृश्निः**) पीले मेण्डक के साथ (**हरितेन**) अपनी ध्वनि अर्थात् तान मिलाता है (**वाचं संपृङ्क्ते**)।

टि०—अनु गृभ्णाति—वें० तथा सा० "अनुगम्य गृह्णाति"। परन्तु ग्रा०, मै० तथा रैनू इन पदों का अर्थ "अभिवादन करता है" करते हैं, जबकि ग्रि० "receives kindly" और गै० "सहारा देता है" अर्थ करता है। ऋ० में अनु०+√ग्रभ् के प्रयोग का केवल एक और उदाहरण **अनु गृभाय** (२, २८, ६) मिलता है। उस प्रयोग तथा वर्तमान प्रयोग के प्रसंग पर ध्यान देने से इसका अर्थ "प्रसन्नता से पकड़ता है" प्रतीत होता है। **अपां प्रसर्गे**=सा० "उदकानां प्रसर्जने वर्षणे सति"। ग्रा०; ग्रि०, गै०, मै०, रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् यहां पर **प्रसर्गे** का अर्थ "प्रवाह में" करते हैं। सा० का तथा इनका भावार्थ समान है। **अमन्दिषाताम्**=√मन्द्+सेट्-सिज्-लुङ् प्र० पु० द्वि० (वै० व्या० २७९)। **कनिष्कन्**=वें० "शब्दं कुर्वन्", सा० "स्कन्दयतेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्। भृशं स्कन्दन् उत्प्लवं कुर्वन्"। मै० (V. R.) इसे √स्कन्द् के यङ्लुगन्त का विमू० प्र० पु० ए० मानता है और अवैरी इसे लेट् का रूप मानता है, जबकि Ved. Gr. में मै० ह्विटने की भांति इसे अडागमरहित लङ् का रूप मानता है (वै० व्या० ३०२) और यही मत अधिक समीचीन है। **यद्** के कारण यह सोदात्त है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद में **गृभ्णाति एनोर्** उच्चारण अपेक्षित है।

५. यदे॑षाम॒न्यो अ॒न्यस्य॒ वाचं॑	यत्। ए॒षा॒म्। अ॒न्यः। अ॒न्यस्य॑। वाच॑म्।
शा॒क्तस्ये॑व॒ वद॑ति॒ शिक्ष॑माणः।	शा॒क्तस्य॑ऽइव। वद॑ति। शिक्ष॑माणः।
सर्वं॒ तदे॑षां॒ समृ॒धे॑व॒ पर्व॒	सर्व॑म्। तत्। ए॒षा॒म्। स॒मृधा॑ऽइव। पर्व॑।
यत्सु॒वाचो॒ वद॑थ॒नाध्य॒प्सु॥	यत्। सु॒ऽवाचः॑। वद॑थन। अधि॑। अ॒प्ऽसु॥

अनु०—जब (**यत्**) इनमें से (**एषाम्**) एक (**अन्यः**) दूसरे की (**अन्यस्य**) वाणी को बोलता है अर्थात् दोहराता है (**वाचं वदति**) जैसे शिष्य (**शिक्षमाणः**) शिक्षक की वाणी को (**शाक्तस्य इव**), तुम शोभन वाणी वाले (**सुवचः**) जब (**यत्**) जलों में (**अप्सु अधि**) बोलते हो (**वदथन**), तब इनका (**एषाम्**) वह सब कर्म (**तत् सर्वम्**) ऐसा है जैसे पृथक्-पृथक् अवयव (**पर्व**) एक पूर्ण इकाई बन गये हैं (**समृधेव**) अर्थात् मेण्डकों की पृथक्-पृथक् ध्वनियों ने मिलकर एक पूर्ण ध्वनि का रूप धारण कर लिया है।

टि०—**शाक्तस्य इव**=वें० "शक्तियुक्तस्येव", सा० "शक्तिमतः शिक्षकस्य"। लगभग सभी आधुनिक विद्वान् सा० की भांति **शाक्त** का अर्थ "शिक्षक" करते हैं। परन्तु वैदिक वाङ्मय में **शाक्त** का कोई अन्य प्रयोग नहीं मिलता है। यद्यपि हम इस शब्द का कोई अन्य अर्थ यहां पर नहीं सुझा सकते, तथापि वर्तमान व्याख्यान संदिग्ध अवश्य है। **सर्वं तदेषां समृधाऽइव पर्व**=वें० "सर्वम् तत् एषाम् भवताम् समृद्धमिव पर्व अङ्गानाम् उदकाप्यायितम्", सा० "तत् तदा **एषां** युष्माकं **सर्वं पर्व** परुष्मच्छरीरं **समृधेव** समृद्धमेवाविकलावयवमेव भवति। इवशब्दोऽवधारणे। घर्मकाले मृद्भावमापन्ना मण्डूकाः पुनर्वर्षणे सत्यविकलाङ्गाः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः"। इस पाद का अर्थ सन्दिग्ध है और आधुनिक विद्वानों में भी इसके सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। वें० ने समृधाऽइव का जो "समृद्धमिव" तथा सा० ने "समृद्धमेव" व्याख्यान किया है, उसके लिये कोई आधार नहीं है और व्याकरण की दृष्टि से असंगत है। विलसन की भांति ग्रि० भी सा० का अनुसरण करता है। **पर्व** के व्याख्यान के विषय में भी अनेक मतभेद हैं। श० ब्रा० १३, ४, ३, ७, ("अथर्वणामेकं पर्व व्याचक्षाणः") तथा पारस्करगृह्यसूत्र २, १०, २० ("पर्वाणि छन्दोगानाम्") के प्रयोगों के आधार पर गै० **पर्व** का अर्थ "पाठभाग" करता है। गै० का अनुसरण करते हुए मै० (V. R.) इसका अर्थ "lesson" और रैनू "chapter" करता है, जबकि वेलंकर ऋ० १, १४, ४ के निर्देश से इसे लाक्षणिक प्रयोग मानते हुए "यज्ञकर्म" व्याख्यान करता है। यह निश्चित है कि ऋ० में **पर्वन्** शब्द कहीं पर भी "पाठ या पाठभाग" तथा "यज्ञकर्म" के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है; अतएव यहां पर ऐसा अर्थ लगाना केवल खींचा-तानी है। ऋ० में **पर्वन्** शब्द मुख्यतया "जोड़" तथा "अवयव" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, तु०-ऋ० ४, १९, ९; १, ६१, १२; ८, ४८, ५; १०, ७९, ७। ग्रा० (कोष) **पर्व** को **पर्वन्** का प्रथ० व० (वै० व्या० १३२ग) मानते हुए यहां पर इसका अर्थ "अवयव" मानता है। व्याकरण तथा प्रयोग दोनों की दृष्टि से ग्रा० का व्याख्यान समीचीन है। टि० में गै० भी विकल्प से इस अर्थ को सम्भव मानता है। ओ०, गै०, मै०, वै० प० को०, वेलंकर प्रभृति आधुनिक विद्वान् **समृधा** को **समृध्** का तृ० ए० मानते हैं। **समृध्** का "पूर्ण" अर्थ मानते हुए गै० तृतीय पाद का अनुवाद इस प्रकार करता है—"तब उनका वह सब पूर्ण है जैसे एक पाठभाग"। टि० में मै० **समृधा** का अर्थ "lit. growing together, then unison, harmony" सुझाते

हुए इस पाद का अनुवाद इस प्रकार करता है—"all that of them is in unison like a lesson." परन्तु ग्रा० समृधा को अकारान्त वि० समृध का प्रथ० ब० (पर्व का वि०) समझते हुए इसका अर्थ "जुड़ा हुआ" करता है और समृधा इव पर्व का अनुवाद (कोष में) इस प्रकार करता है—"एक पूर्ण में जुड़े हुए अवयवों की तरह"। यह व्याख्यान व्याकरण-सम्मत होने के साथ-साथ प्रसंगानुकूल है। इस पाद का तथा चतुर्थ पाद का भावार्थ यह है—जब मेण्डक जलों में बोलते हैं तब उनका वह सम्पूर्ण (एकीभूत हुआ) कर्म ऐसा लगता है मानो पृथक्-पृथक् अवयव एक सम्पूर्ण ध्वनि में जुड़ गए हैं अर्थात् मेण्डकों की पृथक्-पृथक् ध्वनियों ने मिलकर एक पूर्ण (सामूहिक) ध्वनि का रूप धारण कर लिया है। ग्रा० की भांति, मो० समृधा में समृध प्रातिपदिक मानते हुए उसका अर्थ "full, complete, perfect" करता है। यही मत समीचीन है। सुवाचः='मेण्डकों' का वि० है; बस० के पूर्वपद में सु आने के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० १)। वदथन=√वद्+लट् म० पु० ब०; थ के स्थान पर थन प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है (वै० व्या० २२५) और यत् के कारण सोदात्त है। प्र० पु० से म० पु० में परिवर्तन के वैदिक प्रयोग के लिये दे०-ऋ० ३, ३३। अधि अप्सु=अधि कर्मप्रवचनीय के योग में स० का प्रयोग हुआ है (वै० व्या० ३८४ग)।

छ०—प्रथम पाद में छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये मै० अन्यस्य के स्थान पर अनिअस्य उच्चारण का सुझाव देता है, परन्तु यह सुझाव ग्राह्य नहीं है और हमें इस पाद में एक अक्षर की न्यूनता स्वीकार करनी चाहिए (वै० व्या० ४२०)।

६. गोमायुरेको अजमायुरेकः	गोऽमायुः । एकः । अजऽमायुः । एकः ।
पृश्निरेको हरित एक एषाम् ।	पृश्निः । एकः । हरितः । एकः । एषाम् ।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः	समानम् । नाम । बिभ्रतः । विऽरूपाः ।
पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः ॥	पुरुऽत्रा । वाचम् । पिपिशुः । वदन्तः ।

अनु०—इन में से (एषाम्) एक गाय की तरह ध्वनि करने वाला है (गोमायुरेकः), तो दूसरा बकरे की तरह ध्वनि करने वाला है (अजमायुरेकः); एक नाना-वर्ण-युक्त है (पृश्निरेकः), तो दूसरा पीला है (हरित एकः)। एक ही नाम को (समानं नाम) धारण करते हुए (बिभ्रतः) विभिन्न वर्ण

वाले मेण्डक (विरूपाः), बोलते हुए (वदन्तः), अपनी वाणी को (वाचम्) अनेक प्रकार से (पुरुत्रा) अलंकृत करते हैं (पिपिशुः)।

टि०—बिभ्रतः=बिभ्रत् (√भृ+शतृ) का प्रथ० ब०। पुरुत्रा पिपिशुः=√पिश्+लिट् प्र० पु० ब०, वें० "मिश्रयन्ति", सा० "अवयवीभवन्ति प्रादुर्भवन्ति। 'पिश अवयवे'।" पुरुत्रा का व्याख्यान सा० "बहुषु देशेषु" और वें० "बहुदेशेषु" करता है। परन्तु ग्रा०, ग्रि०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् पुरुत्रा को पिपिशुः से अन्वित क्रिवि० मानते हुए इसका अर्थ "अनेक प्रकार से" करते हैं। पिपिशुः का अर्थ ग्रा० तथा मै० "adorn" करते हैं और यही अर्थ समीचीन है; तु०—ऋ० २, ३३, ९। गै० ने इसका अर्थ "they have modulated" और ग्रि० ने "modulate" किया है। हरितः=हरित्; दे०—ऋ० १, ११५, ३।

७. ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे	ब्राह्मणासः। अतिऽरात्रे। न। सोमे।
सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।	सरः। न। पूर्णम्। अभितः। वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ	संवत्सरस्य। तत्। अहरिति। परि। स्थ।
यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव॥	यत्। मण्डूकाः। प्रावृषीणम्। बभूव॥

अनु०—पूर्ण तालाब की तरह (सरः न) पूर्ण सोमरसपात्र के चारों ओर (आसीन) रातों-रात निकाले गये (अतिरात्रे) सोम के विषय में (सोमे) मन्त्रोच्चारण करते हुए (वदन्तः) वेदाध्यायियों की तरह (ब्राह्मणासः न), पूर्ण तालाब के चारों ओर बोलते हुए हे मेण्डको! वर्ष के उस दिन (संवत्सरस्य तदहः) तुम सब ओर उपस्थित होते हो (परि स्थ) जो दिन (यत्) वर्षा से सम्बद्ध होता है (प्रावृषीणं बभूव)।

टि०—अतिरात्रे न सोमे=वें० "भूयिष्ठस्तोत्रशस्त्रे", सा० "रात्रिमतीत्य वर्तत इत्यतिरात्रः। अतिरात्रे न सोमे। यथातिरात्राख्ये सोमयागे"। मै० (V. R.) "अतिरात्रः this is the name of a part of the Soma sacrifice in the ritual of the Yajurveda. Its performance lasted a day and the following night. Its mention in the RV shows that it is ancient." गै०, ग्रि०, रेनू प्रभृति भी सा० के मत को स्वीकार करते हैं। यद्यपि यजुर्वेदसंहिताओं में तथा अ० में अतिरात्र

शब्द एक यज्ञविशेष के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है, तथापि ऋ० में अतिरात्र शब्द का केवल यही एक प्रयोग मिलता है और यहां पर यह सोमे का वि० है जैसा कि ग्रा० (कोष) इसे "overnight" अर्थ में मानता है । यह सन्दिग्ध है कि यहां पर सोमे पद "सोमयागे" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि ऋ० में कहीं पर भी "सोमयाग" अर्थ में सोम शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है । यहाँ पर सोम शब्द "सोमरस" के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ऋ० में अन्यत्र । सरः न पूर्णम् अभितः=वें० "सरः इव पूर्णम् अभितः स्तोत्रशस्त्राणि वदन्तः । सरः शब्दः स्तोमवचनः", सा० "द्वितीयो नशब्दः संप्रत्यर्थे । न संप्रति पूर्णं सरः अभितः सर्वतः" । मै० (V. R.) "सरो न—*as it were a lake*, a hyperbolic expression for a large vessel filled with Soma." ग्रि०, गै०, रैनू प्रभृति भी यही अर्थ करते हैं । ऋ० में सरस् शब्द "तालाब" के अतिरिक्त "सोमपात्र" अर्थ में भी प्रयुक्त होता है; तु०—ऋ० ६, ५४, २; ९७, ५२; ५, २९, ७ । यहां पर उपमा-प्रयोग में ऋषि सरस् को इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त करता है । परि स्थ=√अस् "होना" + लट् म० पु० व० (सन्धि-वैशिष्ट्य, दे०—वै० व्या० ६४ ख); वें० "परितः भवथ", सा० "परितः सर्वतो भवथ ··· तस्मिन्नहनि सर्वतो वर्तमाना भवथेत्यर्थः" । ग्रा० (कोष) तथा गै० इसका अर्थ "व्यतीत करते हो" करते हैं, जबकि मै० "celebrate" अनुवाद करता है । ग्रि० भी विल्सन की तरह सा० का अनुकरण करता है । प्रसंग को देखते हुए वें० तथा सा० का व्याख्यान समीचीन है । प्रावृषीणम् = वें० "प्रावृषेण्यम्", सा० "प्रावृषेण्यं प्रावृषि भवम्" । वें० तथा सा० की भांति ग्रा० भी इसका अर्थ "वर्षासम्बन्धी" करता है और व्याकरण की दृष्टि से यही अर्थ समीचीन है, चाहे इसका भावार्थ "वर्षा ऋतु को प्रारम्भ करने वाला (दिन)" हो सकता है जैसा कि ग्रि०, गै०, भो०, मै०, रैनू प्रभृति मानते हैं; तु०—ऋचा ३ तथा ९ । ब्राह्मणासः=दे०—ऋचा १ ।

८. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत	ब्राह्मणासः । सोमिनः । वाचम् । अक्रत ।
ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।	ब्रह्म । कृण्वन्तः । परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना	अध्वर्यवः । घर्मिणः । सिस्विदानाः ।
आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥	आविः । भवन्ति । गुह्याः । न । के । चित् ॥

अनु०—पूरे एक वर्ष में की जाने वाली (परिवत्सरीणम्) प्रार्थना (ब्रह्म) करते हुए (कृण्वन्तः), सोमयुक्त ब्राह्मणों ने (सोमिनः ब्राह्मणासः)

अपनी वाणी को उच्चरित किया है (**वाचम् अक्रत**)। यज्ञसम्बन्धी धर्मपात्र से युक्त (**घर्मिणः**) पसीने से गीले (**सिष्विदानाः**) अध्वर्युओं की तरह, सूर्यातप से संतप्त (**घर्मिणः**) तथा पसीने से गीले (**सिष्विदाना**) मेण्डक प्रकट होते हैं (**आविर्भवन्ति**) और कोई भी (**केचित्**) छिपे हुए नहीं हैं (**गुह्याः न**)।

टि०—ब्राह्मणासः=दे०-ऋचा १। **अक्रत**=√कृ+विकरण-लुग्-लुङ् प्र० पु० ब० आ० (वैं० व्या० २६५ ख)। **ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्**=वें० "कर्म कृण्वन्तः संवत्सरान्तर्भवम्", सा० "परिवत्सरीणं सांवत्सरिकं गवामयनिकं ब्रह्म स्तुतशस्त्रात्मकं कृण्वन्तः कुर्वन्तः"। गै० इस पाद का अनुवाद "वार्षिक प्रार्थना करते हुए", ग्रि० "performing their year-long rite", मै० "offering their yearly prayer", तथा रैनू "reciting the formula (which inaugurates) the year" करता है। यहां पर ब्रह्म का अर्थ "प्रार्थना" है, जैसा कि ग्रा० आदि अनेक आधुनिक विद्वान् मानते हैं; तु०-ऋ० १, ८८, ४; ११७, २५; ७, ३१, ४; दे०-ऋ० ७, ६१, २ पर टि०। **परिवत्सर** शब्द का अर्थ "पूर्ण वर्ष" है (तु०-ऋ० १०, ६२, २) और इसके साथ ईन (पा० ५, १, ९२) प्रत्यय जोड़ने से बने **परिवत्सरीण** का अर्थ सा० ने अ० ३, १०, ५ के भाष्य में पा० के अनुसार "संवत्सरेण निर्वृत्तम्। 'संपरिपूर्वात् ख च' (पा० ५, १, ९२) इति निर्वृत्तार्थे खप्रत्ययः" किया है। यहाँ पर **परिवत्सरीणम्** का अर्थ "पूरे एक वर्ष में किया जाने वाला" (ब्रह्म) है। इस का भावार्थ है ऐसी प्रार्थना (ब्रह्म) जो पूरे एक वर्ष के पश्चात् वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में की जाती है। सा० ने जो "गवामयनिकं ब्रह्म स्तुतशस्त्रात्मकम्" व्याख्यान किया है उसके लिये कोई आधार नहीं है। **अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदानाः**=वें० "अध्वर्यवः घर्मेण चरन्तः स्विद्यच्छरीराः", सा० "अपि च **घर्मिणः** घर्मेण प्रवर्ग्येण चरन्तः **अध्वर्यवः** अध्वरस्य नेतार ऋत्विज इव **सिष्विदानाः** स्विद्यद्गात्राः"। जैसा कि गै० तथा मै० ने माना है, यहां पर **घर्मिणः** पद श्लिष्ट होते हुए **अध्वर्यवः** तथा **मण्डूकाः** दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है—मै० (V. R.), "घर्मिणः— is meant to be ambiguous: oppressed with the heat of the sun (frogs), busied with hot milk (priests)." यज्ञसम्बन्धी दुग्ध को उबालने के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला पात्र **घर्म** कहलाता है और जो ऋत्विज् उसे उबालते हैं वे **घर्मिणः** कहलाते हैं। **सिष्विदानाः** = √स्विद्+कानच् (वैं० व्या० ३३२ ग); तु०-ऋ० १०, ६७, ७—**घर्मस्वेदेभिः**।

विशेष—लगभग सभी प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वान् **ब्राह्मणासः** तथा **अध्वर्यवः** के साथ लुप्तोपमा का प्रयोग मानते हैं।

छं०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, चतुर्थपाद में अक्षरपूर्ति के लिये **गुह्या** का गुहिआ उच्चारण अपेक्षित है। प्रथमपाद में बारह अक्षर हैं।

९. देवहिंतिं जुगुपुर्द्वादशस्यं
ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते।
संवत्सरे प्रावृष्यागंतायां
तप्ता घर्मा अंश्नुवते विसर्गम् ॥

देवऽहिंतिम् । जुगुपुः । द्वादशस्यं ।
ऋतुम् । नरः । न । प्र । मिनन्ति ।
एते ।
संवत्सरे । प्रावृषि । आऽगंतायाम् ।
तप्ताः । घर्माः । अश्नुवते ।
विऽसर्गम् ॥

अनु०—इन्होंने बारह मास वाले वर्ष के (द्वादशस्य) दिव्य विधान की रक्षा की है (देवहिंतिं जुगुपुः)। ये वीर नेता (एते नरः) ऋतु का उल्लंघन नहीं करते हैं (ऋतुं न प्र मिनन्ति)। वर्ष पूरा होने पर (संवत्सरे) वर्षा ऋतु के आने पर (प्रावृषि आगतायम्) तपी हुई (तप्ताः) गर्मियाँ (घर्माः) अवसान को (विसर्गम्) प्राप्त करती हैं (अश्नुवते) अर्थात् समाप्त हो जाती हैं।

टि०—देवहितिम्=वें० "हवीरूपम्", सा० "देवैः कृतं विधानम् अस्य ऋतोरयं धर्म इत्येवंरूपम्"। ग्रा० इसका अर्थ "दैवी व्यवस्था", गै० "दिव्य विधान", मै० "divine order", और रैनू "divine institution" करता है। यह ष० तस० है और उत्तरपद में क्ति-प्रत्ययान्त शब्द के कारण पूर्वपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९८ ग० ५)। इसका शाब्दिक अर्थ "देवों का विधान" है; तु०—ऋ० १, ८९, ८ (देवहितं यदायुः); ५, ४२, २. ४; ६, १७, १५। जुगुपुः=√गुप्+लिट् प्र० पु० ब०। द्वादशस्य= वें० इसे देवहितिम् से अन्वित करते हुए संवत्सरस्य का अध्याहार करता है— "द्वादशमासस्य संवत्सरस्य देवहिंतिं हवीरूपम्"। सा० भी इसके व्याख्यान में संवत्सरस्य का अध्याहार करता है, परन्तु वह द्वादशस्य को ऋतुम् से अन्वित करता है— "द्वादशस्य द्वादशमासात्मकस्य संवत्सरस्य ऋतुं तं तं वसन्तादिकं न प्र मिनन्ति"। वें० तथा सा० के व्याख्यान का अनुसरण करते हुए ग्रा० द्वादशस्य के साथ संवत्सरस्य का अध्याहार स्वीकार करता है और वें० की भांति इसे देवहितिम् से अन्वित करता है। मै० भी ग्रा० का अनुसरण करता है। परन्तु याकोबी द्वादशस्य का अर्थ "बारहवें का" करते हुए इसके साथ मासस्य का अध्याहार करता है और इसे ऋतुम् से अन्वित मानता है—द्वादशस्य (मासस्य) ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते। याकोबी के इस व्याख्यान के अनुसार, ऋग्वेद के काल में वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में संवत्सर का बारहवाँ मास आता था अर्थात् पुराना वर्ष समाप्त होकर नये वर्ष का आरम्भ होता था (दे० Ved. Ind. I, p. 421; V. R., p. 146; HOS., 34, p. 272). गै० तथा रैनू भी याकोबी की भांति द्वादशस्य के साथ मासस्य का अध्याहार करते हैं, परन्तु वे इसे देवहितिम् से अन्वित मानते हैं। तदनुसार गै० का अनुवाद है—"उन्होंने बारहवें

(मास) के दिव्य विधान की रक्षा की"। **द्वादशस्य** के साथ **मासस्य** की अपेक्षा **संवत्सरस्य** का अध्याहार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इसी ऋचा के तृतीय पाद के अतिरिक्त ऋचा १ तथा ७ में भी संवत्सर का प्रयोग हुआ है और वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र भी **संवत्सर** के लिये **द्वादश** "बारह मास वाला" वि० का प्रयोग किया गया है; तु०—का० सं० १६, ८. ६; २६, ८। वें०, ग्रा०, गै० प्रभृति की भांति **द्वादशस्य** को इसी पाद के **देवहितिम्** से अन्वित मानना अधिक समीचीन है। **नरः**=दे० ऋ० १, २५, ८ पर टि०। **प्र मिनन्ति**=√मी+लट् प्र० पु० ब०; तु०—ऋ० १, २५, १। **तप्ताः घर्माः अश्नुवते विसर्गम्**=वें० "**तप्ताः** केचन **घर्माः** बिलात् **विसर्गम्** प्राप्नुवन्ति। तप्ताः घर्माः इत्यौपमिकम्", सा० "**घर्माः** पूर्वं घर्मकाले वर्तमानाः **तप्ताः** तापेन पीडिताः संप्रति **विसर्गं** विसर्जनं बिलान्मोचनम् **अश्नुवते** प्राप्नुवन्ति"। ग्रा० तथा गै० यहाँ पर **घर्म** शब्द का अर्थ "सूर्यातप" करते हैं। परन्तु मै० के मतानुसार यहां पर **तप्ताः घर्माः** श्लेषात्मक हैं—ऋत्विजों के प्रसंग में इन पदों का अर्थ "तपाये हुए घर्मपात्र" है (तु०—ऋचा ८ में **अध्वर्यवो घर्मिणः**) और मेण्डकों के प्रसंग में "सूखे हुए बिल" है (तु०—ऋचा ३ में **तृष्यावतः**)। मै० के मतानुसार इस पाद का भावार्थ इस प्रकार है—घर्मपात्र खाली कर दिये गये हैं तथा ठंडे हो गये हैं, और जिन बिलों में मेण्डक छिपे हुए थे वे अब वर्षा से ठंडे हो गये हैं और उनमें से मेण्डक निकल गये हैं। गै० भी पादस्थ टि० में **घर्माः** का "घर्मपात्र" अर्थ सम्भव मानता है। यहां पर श्लेषात्मक प्रयोग की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता, तथापि सन्दिग्ध अवश्य है। परन्तु प्रसंगादि से यह निश्चित है कि यहां पर **घर्माः** "सूर्यातप" अर्थ में अवश्य प्रयुक्त हुआ है; तु०—ऋ० ७, ३३, ७। **अश्नुवते**=√अश्+लट् प्र० पु० ब० आ०।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिए सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद में **मिनन्ति एते** तथा तृतीय पाद में **प्रावृषि आगतायां** उच्चारण अपेक्षित है।

१०. **गोमायुरदादजमायुरदात्**	**गोऽमायुः। अदात्। अजऽमायुः। अदात्।**
पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।	**पृश्निः। अदात्। हरितः। नः। वसूनि।**
गवां मण्डूका ददतः शतानि	**गवाम्। मण्डूकाः। ददतः। शतानि।**
सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥	**सहस्रऽसावे। प्र। तिरन्ते। आयुः॥**

अनु०—गाय की तरह ध्वनि करने वाले ने, बकरे की तरह ध्वनि करने वाले ने, नानावर्णां-युक्त ने तथा पीले मेण्डक ने हमें (नः) धन (वसूनि)

प्रदान किया है (**अदात्**)। सैंकड़ों गायें (**गवां शतानि**) प्रदान करते हुए (**ददतः**) मेण्डक सहस्रों पौदे तथा प्राणी उत्पन्न करने वाले ऋतु में (**सहस्रसावे**) अर्थात वर्षा ऋतु में हमारी आयु को बढ़ाते हैं (**प्र तिरन्ते आयुः**)।

टि०—**अदात्**=√दा+विकरण—लुग्-लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६५)। **ददतः**=√दा+शतृ+प्रथ० ब० (वै० व्या० १२५)। **सहस्रसावे**=वें० "बहूनां प्रसवे", सा० "सहस्र-संख्याकाः ओषधयः सूयन्ते उत्पद्यन्ते इति वर्षर्तुः सहस्रसावः। तस्मिन् सति"। ऋ० ३, ५३, ७ में इस ऋचा का चतुर्थ पाद ज्यों का त्यों मिलता है, जहां पर वें० **सहस्रसावे** का व्याख्यान "अनेकस्मिन् सोमाभिषवे" और सा० "सहस्रं सूयतेऽत्रेति सहस्रसावोऽश्वमेधः। तस्मिन्नश्वमेधे" करता है। ग्रा०, मो० तथा मै० **सहस्रसाव** का अर्थ "thousandfold Soma-pressing" करते हैं, जबकि गै० "सहस्रयज्ञ" अनुवाद करता है। मै० के मतानुसार, **सहस्रसावे** में काल में स० आई है जैसे संवत्सरे में और यह संज्ञा सम्भवतः ऐसे सोमयाग का वाचक है जिसमें वर्ष भर में प्रतिदिन तीन सवों के करने से लगभग सहस्र सव होते थे। यह अनुमान केवल कल्पना पर आधारित है, क्योंकि ऐसे किसी यज्ञ का उल्लेख नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि **सहस्रसाव** बस० नहीं है अपितु उपपद तस० है जिसमें पूर्वपद **सहस्र** द्वितीयान्त के रूप का वाचक है। इस समास में उत्तरपद **साव** की व्युत्पत्ति √सु "रस निकालना" से न मानकर √सू "उत्पन्न करना" से मानना अधिक समीचीन होगा जैसा कि सा० का मत है। √सू से परे अण् प्रत्यय (पा० ३, २, १ **कर्मण्यण्**) के योग से **सहस्रसाव** शब्द की सिद्धि की जा सकती है जिसका अर्थ है "सहस्रों (ओषधियों, प्राणियों इत्यादि) को उत्पन्न करने वाला (ऋतु)" अर्थात् वर्षर्तु। यहां पर **सहस्रसावे** के साथ **ऋतौ** का अध्याहार करके व्याख्यान करना उचित होगा; तु०-ऋचा० ९ में **ऋतुम्** का प्रयोग। ऋ० ३, ५३, ७ में भी **सहस्रसाव** का यही व्याख्यान समीचीन है। सा० तथा विल्सन का अनुसरण करते हुए ग्रि० इसका अनुवाद "in this most fertilizing season" करता है। **प्र तिरन्ते**=√तॄ+लट् प्र० पु० ब०; तु०-ऋ० ७, ६१, ४।

ऋ. ८, २९ (विश्वे देवाः)

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—द्विपदा विराट् या जगती+गायत्री।

१. बभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवा- ञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम् ॥ | बभ्रुः। एकः। विषुणः। सूनरः। युवा। अञ्जि। अङ्क्ते। हिरण्ययम् ॥

अनु०—एक देवता भूरा (बभ्रुः), फैलता हुआ (विषुणः), सुन्दर (सूनरः) तथा तरुण (युवा) है। वह अपने आपको सोने के आभूषण से अलंकृत करता है (हिरण्ययम् अञ्जि अङ्क्ते)।

टि०—वें०, सा०, ग्रि०, गै० तथा मै० के मतानुसार इस ऋचा का देवता सोम है, जब कि ग्रा० इस ऋचा में अग्नि का वर्णन मानता है। सा० के द्वारा दिये गये वैकल्पिक व्याख्यान के अनुसार, सोमरूपी चन्द्रमा का वर्णन है। अन्य देवताओं के लिये प्रयुक्त होने पर भी बभ्रु वि० का प्रयोग प्रायेण सोम के लिये किया जाता है। परन्तु युवन् का प्रयोग सोम की अपेक्षा अग्नि के लिये अधिक किया जाता है और विषुण तथा सूनर अग्नि के लिये अन्यत्र प्रयुक्त हुए हैं परन्तु सोम के लिये नहीं आये हैं। अत एव ग्रा० का मत समीचीन प्रतीत होता है। परन्तु ऋचा २ में अग्नि का वर्णन अधिक समीचीन प्रतीत होने के कारण इस व्याख्यान के स्वीकार करने में कठिनाई उपस्थित होती है। बभ्रुः=वें० "बभ्रुवर्णः", सा० "बभ्रुवर्णः शबलतादिषु परिपक्वः। यद्वा। 'डुभृञ्धारण-पोषणयोः'। 'कुर्भ्रश्च' (उ० सू० १, २२) इति कुप्रत्ययः। सर्वस्य सुधामयैः किरणै-स्तावदुद्गते चन्द्रमसि दुःखोपशमनानि पुष्टानि खलु तादृशः"। परन्तु लगभग सभी आधुनिक विद्वान् वें० का अर्थ स्वीकार करते हैं और यही मत समीचीन है। विषुणः=वें० तथा सा० "विष्वगञ्चनः"। ग्रा० तथा ग्रि० इसका अर्थ "manifold", मै० "varied in form" और गै० "variable" करता है, जबकि वै० प० को० में "दीप्तिमत्" अर्थ सुझाया गया है। ऋ० में विषुण शब्द के जो प्रयोग उपलब्ध होते हैं उनके विवेचन से इसका अर्थ "व्यापनशील, फैलता हुआ, विशाल" प्रतीत होता है (तु०—ऋ० ३, ५४, ८; ४, ६, ६; ५, १२, ५; ३४, ६; ७, २१, ५; ८, ९६, १४) और इसकी व्युत्पत्ति √विष्+उन से मानी जाती है (वै० व्या० ३६३ ख)। सूनरः=वें० "शोभननरः", सा० "सुष्ठु रात्रीणां नेता"। इसका अर्थ ग्रा० "सुन्दर", गै० "उदार",

मै० "bountiful" और ग्रि० "active" करता है। मै० ने इसके लिये अवेस्ता का सजात्य शब्द हुनर सुझाया है। मो० ने सूनर के "glad, joyous, merry" अर्थ दिये हैं। प्राचीन भाष्यकारों में भी सूनर के अर्थ के विषय में मतैक्य नहीं है। सु+नर से सूनर की व्युत्पत्ति मानते हुए स्क० तथा वें० इसका व्याख्यान प्रायेण 'शोभननरोपेत" करते हैं (तु०—ऋ० १, ४०, ४; ४८, ५; ५, ३४, ७)। ऋ० १, ४०, ४ के भाष्य में वें० सूनरम् का वैकल्पिक व्याख्यान 'शोभनयानम' (वसु) करता है, जबकि ऋ० १०, ११५, ७ के भाष्य में सूनरः का अर्थ "शोभनो नरः" करता है। स्क० आदि का अनुसरण करते हुए, ऋ० ५, ३४, ७ के भाष्य में सा० सूनरम् का अर्थ "शोभनमनुष्यम्" (वसु) करता है, जबकि अन्यत्र सु+√नी से व्युत्पत्ति मानते हुए सूनरं (वसु) का व्याख्यान "सुष्ठु नेतव्यम्" (१, ४०, ४) सूनरः का "सुष्ठु प्रेरकः" (१०, ११५, ७), सूनरी का "सुष्ठु गृहकृत्यस्य नेत्री" (१, ४८, ५), तथा "सुष्ठु प्राणिनां नेत्री" (४, ५२, १) करता है। वर्तमान प्रयोग के अतिरिक्त, ऋ० में सूनर वि० के आठ अन्य प्रयोग मिलते हैं, जिनमें से एक पुं० प्रयोग (१०, ११५, ७) अग्नि के लिये; दो नपुं० प्रयोग (१, ४०, ४; ५, ३४, ७) वसु के लिये, तथा पांच स्त्री० प्रयोग (सूनरी १, ४८, ५. ८. १०; ४, ५२, १; ७, ८१, १) उषा के लिये किये गये हैं। इन सब प्रयोगों के विवेचन तथा प्रसंग के अनुसार, ग्रा० द्वारा सुझाया गया "सुन्दर" अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। परन्तु सूनर की व्युत्पत्ति अवश्य सन्दिग्ध है। **अञ्जि**=वें० तथा सा० "आभरणम्", तु०—ऋ० १, ८५, ३। अङ्क्ते √अञ्ज्+लट् प्र० पु० ए० आ० (वै० व्या० २४५-४७)।

छ०—सर्वानुक्रमणी का अनुसरण करते हुए अनेक भारतीय विद्वान् तथा गै० आदि पाश्चात्य विद्वान् भी इस सूक्त में "द्विपदा विराट्" छन्द मानते हैं। परन्तु मै० (V. R.) इसमें जागत पाद+गायत्र पाद का मिश्रित छन्द मानता है और विश्लेषण करने पर यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इस मत के अनुसार इस सूक्त की सभी ऋचाओं में प्रथम पाद का अवसान नियमानुसार किसी पद के अन्तिम अक्षर के साथ होता है (वै० व्या० ४१६); अन्यथा पदों के मध्य में प्रथम पाद का अवसान मानना पड़ेगा जो अनुचित होगा। प्रथम ऋचा के द्वितीय पाद में अक्षरपूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा अञ्जि अङ्क्ते हिरण्ययम् उच्चारण अपेक्षित है।

२. योनि॒मेक॒ आ स॑साद॒ द्योत॑नो-
ऽन्तर्दे॒वेषु॒ मेधि॑रः ॥

योनि॑म्। एकः॑। आ। स॒सा॒द॒। द्योत॑नः।
अ॒न्तः। दे॒वेषु॑। मेधि॑रः ॥

अनु०—देवताओं में (अन्तर्देवेषु) मेधावी (मेधिरः) तथा चमकता हुआ (द्योतनः) एक देवता अपने स्थान पर अर्थात् वेदि में बैठता है (योनिम् आ ससाद)।

टि०—वें०, सा०, गै०, मै०, ग्रि० आदि इस ऋचा का देवता **अग्नि** मानते हैं, जब कि ग्रा० इसमें **बृहस्पति** का वर्णन समझता है। यहां पर **अग्नि** का वर्णन अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि **वेदि** को **अग्नि** की **योनि** बताया गया है (तु०-ऋ० ३, २९, १०), और **मेधिर** वि० अनेक बार अग्नि के लिये प्रयुक्त हुआ है और उसकी द्युति का बार-बार उल्लेख किया गया है। **आ ससाद**=√सद्+लिट् प्र० पु० ए०; वर्तमानकाल में लिट् का प्रयोग।

छ०—द्वितीय पाद में अक्षर-पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा पादादि में **अन्तर्** के आदि अ का उच्चारण अपेक्षित है। प्रथम पाद में ग्यारह अक्षर हैं। ग्रा० के मतानुसार इसमें अक्षरपूर्ति के लिये **द्योतनो** के स्थान पर **दिओतनो** उच्चारण अपेक्षित है।

३. **वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीम्** — वाशीम्। एकः। बिभर्ति। हस्ते। आयसीम्।
अन्तर्देवेषु निध्रुविः ॥ — अन्तः। देवेषु। निऽध्रुविः ॥

अनु०—देवताओं में (**अन्तर्देवेषु**) स्थिर (**निध्रुविः**) एक देवता अपने हाथ में लोहे का बना हुआ (**आयसीम्**) बसूला (**वाशीम्**) धारण करता है (**बिभर्ति**)।

टि०—वें०, सा०, गै०, मै०, ग्रि० प्रभृति इस ऋचा का देवता **त्वष्टा** मानते हैं, जबकि ग्रा० के मतानुसार इस में अग्नि का वर्णन है। वें० आदि का मत अधिक समीचीन है। **अन्तर्देवेषु निध्रुविः**=वें० "देवेषु मध्ये निश्चले स्थाने अवस्थितः", सा० "**देवेषु अन्तः** देवानां मध्ये द्योतमानः **निध्रुविः** निश्चले स्थाने वर्तमानः। यद्वा। नितरां गमनमस्यास्तीति **निध्रुविः** सर्वदा गच्छन्। अथवा संग्रामेषु शत्रूणां पुरतोऽप्रतिशयेन स्थैर्यवान्।" ग्रा० निध्रुविः का अर्थ "स्थैर्यवान् (constant), सच्चा", गै० "प्रतिष्ठित (established)", ग्रि० "firm" तथा मै० "strenuous" करता है। ऋ० ७, ३, १ तथा ८, २०, २२ में **निध्रुवि** शब्द के जो प्रयोग उपलब्ध होते हैं उन से इस शब्द का "स्थिर" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। इस ऋचा के अनुवाद पर टि० में गै० कहता है—"इस ऋचा के द्वितीय पाद में ऋ० ७, ३, १ मर्त्येषु निध्रुविः के विपरीत भाव है (वहां मनुष्यों में प्रतिष्ठित है तो यहां देवों में)। अथवा भाव यह है—यह देवों में प्रतिष्ठित है जो सदा अपने घर अपनी निर्माणशाला में है।" **आयसीम् वाशीम्**= सा० "**आयसीम्** अयोमयधारां **वाशीम्**। 'वाशृ शब्दे'। शब्दयस्याक्रन्दयति शत्रूननयेति वाशी तक्षणसाधनं कुठारः। तम्"। विल्सन तथा मै० इन पदों का अनुवाद "an iron axe", ग्रि० "an iron knife" तथा गै० "the brazen knife" करता है। **अयस्** के तद्धित **आयस** का स्त्री० **आयसी** है। ग्रा० (कोष) **अयस्** का अर्थ

"metal, iron" और तद्धित **आयस** का अर्थ "brazen, of iron" करता है। **अयस्** शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में दो मत हैं। त्सिमर इत्यादि के मतानुसार ऋ० में **अयस्** "कांसा" (bronze) का वाचक है, जबकि दूसरे मत के अनुसार यह "लोहा" का वाचक है और मै० आदि विद्वान् इसके "लोहा" अर्थ को सम्भव मानते हैं (Ved. Ind. I, pp. 31-32). यहां पर **आयसीम्** का अर्थ "लोहे की बनी हुई" है। ग्रा० **वाशी** शब्द की व्युत्पत्ति √व्रश्च् (√व्रश्च्=* व्रश् से व्युत्पन्न *व्राशी से वाशी) से मानता है और इसका अर्थ "कुल्हाड़ा" करता है। ऋ० प्रयोगों के अनुसार मरुद्गण (४ बार), अग्नि (२ बार) तथा ऋभु देवता (१ बार) **वाशी** को धारण करते हैं। इसी प्रयोग के अनुसार ग्रा० यहां पर भी **वाशी** का सम्बन्ध अग्नि से मानता है। ऋ० १०, ५३, ९ **शिशीते नूनं परशुं स्वायसम्** के अनुसार त्वष्टा "अच्छे लोहे से बने अपने कुल्हाड़े को पैना करता है।" इस प्रयोग के आधार पर मै० आदि यहां पर भी **वाशीम्** को त्वष्टा से सम्बद्ध मानते हैं और इसका अर्थ "कुल्हाड़ा" करते हैं। निघ० १, ११ में वाशी को "वाक्" के नामों में गिनाया गया है। और तदनुसार यास्क (४, १९) तथा कहीं-कहीं स्क० (ऋ० १, ८७, ६), वें० (ऋ० ८, १२, १२; १९, २३; १०, २०, ६) तथा सा० (ऋ० १, ३७, २; ८७, ६; ८, १२, १२; १९, २३; १०, २०, ६) **वाशी** का अर्थ "वाक्" या "स्तुति" करते हैं। परन्तु अन्यत्र वे इसका अर्थ "आयुध" या "आयुधविशेष" करते हैं। सा० (ऋ० १, ८८, ३) ने इसका अर्थ "आराख्यमायुधम्" भी किया है। ऋ० में **परशु** तथा **वाशी** के उपलब्ध प्रयोगों से स्पष्ट है कि परशु "कुल्हाड़ा" था और वाशी कुल्हाड़े से भिन्न एक ऐसा औज़ार था जो लकड़ी की वस्तुओं को घड़ने के लिये काम में लाया जाता था (तु०—ऋ० १०, ५३, १०; १०१, १०)। आधुनिक भारतीय भाषाओं (हिन्दी) में **वाशी** के लिये "बसूला" (carpenter's chisel; तु०—वृक्षादन) का प्रयोग होता है और सम्भव है ये शब्द **वाशी** के सजात्य रहे हों। **बिभर्ति**=√भृ+लट् प्र० पु० ए० (दे०—ऋ० ३, ५९, ८)।

४. वज्रमेको॑ बिभर्ति॒ हस्त॒ आहि॑तं॒ तेन॑ वृ॒त्राणि॒ जिघ्नते ॥

वज्र॑म् । एकः॑ । बि॒भ॒र्ति॒ । हस्ते॑ । आऽहि॑तम् । तेन॑ । वृ॒त्राणि॑ । जि॒घ्न॒ते॒ ॥

अनु०—एक देवता अपने हाथ में रखे हुए (**आहितम्**) वज्र को धारण करता है। उससे वह शत्रुओं को (**वृत्राणि**) मारता है (**जिघ्नते**)।

टि०—इस ऋचा में निःसन्देह इन्द्र का वर्णन है। **आहितम्**=आ+√धा+क्त। **वृत्राणि**=दे०—ऋ० ७, ८३, १ पर टि०। **जिघ्नते**=दे०—ऋ० ७, ८३, ९ पर टि०।

५. तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं तिग्मम् । एकः । बिभर्ति । हस्ते । आयुधम् ।
शुचिरुग्रो जलाषभेषजः ॥ शुचिः । उग्रः । जलाषऽभेषजः ॥

अनु०—एक देदीप्यमान (शुचिः), भयंकर (उग्रः) और शारीरिक पीड़ाओं को शान्त करने वाली औषधों से युक्त (जलाषभेषजः) देवता अपने हाथ में एक तीक्ष्ण हथियार को धारण करता है ।

टि०—इस ऋचा का देवता निश्चय ही रुद्र है; तु०—ऋ० २, ३३। जलाषभेषजः=बस० होने के कारण पूर्वपद पर उदात्त है। इन दोनों पदों के अर्थ के लिये दे०—ऋ० २, ३३, ७ पर टि० । वें० तथा सा० इसका अर्थ "सुखकरभेषजः" करते हैं। ग्रा०, मो० तथा ग्रि० इसका अर्थ "having healing medicines" और गै० तथा मै० "with cooling remedies" करते हैं। भावार्थ समान है। शुचिः=दे०—ऋ० ७, ४९, २ पर टि० ।

छ०—द्वितीय पाद में आठ के स्थान पर दस अक्षर हैं ।

६. पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ पथः । एकः । पीपाय । तस्करः । यथा ।
एष वेद निधीनाम् ॥ एषः । वेद । निऽधीनाम् ॥

अनु०—एक देवता मार्गों को (पथः) समृद्ध करता है (पीपाय) अर्थात् यात्राओं को समृद्धिकारक बनाता है। वह (चुराये गये) खजानों को (निधीनाम्) उसी प्रकार जानता है (वेद) जैसे कि उनको हरने वाला चोर (तस्करः यथा) अर्थात् वह देव जानता है कि चोर ने चोरी का धन कहां छिपाया है ।

टि०—इस ऋचा में पूषा का वर्णन है । पथः=पथ् का द्विती० ब० (वै० व्या० १११) । पीपाय=वें० "रक्षति", सा० "प्यायतिर्वर्धनकर्माप्यत्र रक्षणार्थः। येऽग्निहोत्रादि कर्म कुर्वन्ति तेषां स्वर्गमार्गं ये दुष्कृतं कर्म कुर्वन्ति तेषां यातनामार्गं च रक्षति। उभयेषां मार्गविपर्ययो यथा न भवति तथा पालयतीत्यर्थः" । ह्विटने, बर्गेन, ओल्डनबर्ग, ग्रा० (कोष) तथा मै० आदि अधिकतर विद्वान् पीपाय को √पि या √पी "फूलना" का लिट् प्र० पु० ए० मानते हैं (दे०—वै० व्या० २५३, ४) और इसका अर्थ "समृद्ध करता है" करते हैं जो कि समीचीन हैं। परन्तु विल्सन, गै० तथा ग्रि० इसका अर्थ "watches" करते हैं जो वें० तथा सा० का अनुवाद-मात्र है। यहां पर लिट् का प्रयोग वर्तमान काल के अर्थ में हुआ है । तस्करः यथा=पादान्त में आने वाले यथा से

परे एष: के ए के कारण संहिता में इसके आ का अनुनासिक हो गया है (वैं० व्या० ४१, १)। यथा अव्यय पाद के अन्त में "इव" के अर्थ में आने के कारण सर्वानुदात्त है (वैं० व्या० ३८८, ५)। वें०, विल्सन, ग्रा०, गै० तथा ग्रि० इस उपमा को प्रथम पाद के ति० पीपाय के साथ अन्वित मानते हैं ; यथा—"एक देवता चोर की तरह मार्गों की रक्षा करता है"। सा० इस उपमा को प्रथम तथा द्वितीय दोनों पादों से अन्वित मानता है 'तस्करो यथा। यथा चोरः पथि गच्छतां पुरुषाणां धनहरणार्थं मार्गं रक्षति। तथा च स चोरो गृहे निहितानि ज्ञात्वा तदाहृत्य स्वसहायेभ्यो तथा तानि ददाति तद्वत्।" मै० इस उपमा को द्वितीय पाद से अन्वित मानता है—"like a thief he knows of treasures." वास्तव में यह उपमा द्वितीय पाद के साथ सम्यक् अन्वित होती है, क्योंकि इस उपमासहित द्वितीय पाद का अर्थ यह है—"यह (पूषा) देवता खजानों को उतनी ही अच्छी तरह जानता है (कहां-कहां छिपाये हैं इत्यादि) जितनी अच्छी तरह वह चोर (जो चोरी करके उनको छिपाता है)"। ऋ० के अनुसार पूषा गुम हुए धन को प्राप्त कराने वाला कहा गया है ; तु०—ऋ० ६,५४,१-२ इत्यादि। **निधीनाम्**= कर्मकारक में ष० (वैं० व्या० ३८३ ख); इस पद के स्वर के लिये दे०—वैं० व्या० ४०२ ङ। वेद=दे०—ऋ० १, २५, ७ पर टि०।

छ०—ग्रा० आदि के मतानुसार, छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये द्वितीय पाद में निधीनाम् के स्थान पर निधीनअम् उच्चारण अपेक्षित है।

७. त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे — त्रीणि। एकः। उरुऽगायः। वि। चक्रमे।
यत्र देवासो मदन्ति ॥ — यत्र। देवासः। मदन्ति ॥

अनु०—एक विशाल गति वाले देव ने (उरुक्रमः) तीन पादनिक्षेप (त्रीणि) किये हैं (वि चक्रमे) अर्थात् तीन डग भरे हैं ; जहां पर देवता लोग (देवासः) आनन्दित होते हैं (मदन्ति)।

टि०—इस ऋचा का देवता विष्णु है ; तु०—ऋ० १, १५४। **उरुगायः**= दे०—ऋ० १, १५४, १। **त्रीणि**=वें० तथा सा० इसके साथ "पदानि" का अध्याहार करते हैं और सा० "पदानि" का व्याख्यान "भुवनानि" करता है। ग्रा०, गै०, ग्रि० इत्यादि आधुनिक विद्वान् इसी अध्याहार के अनुसार "three steps" अनुवाद करते हैं। परन्तु ऋ० १, १५४, २ त्रिषु विक्रमणेषु के प्रयोग के आधार पर मै० विक्रमणानि का अध्याहार करते हुए "three strides" अनुवाद करता है। मै० का मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि वि+$\sqrt{}$क्रम् के साथ विक्रमण का सम्बन्ध युक्तिसंगत प्रतीत होता है और उपर्युक्त के अतिरिक्त भी विष्णु के विक्रमण का उल्लेख मिलता है ; तु०-ऋ० ८, ९, १२; १०, १५, ३। **यत्र**=वें० तथा सा० "येषु लोकेषु"। गै० तथा मै० के मतानुसार यत्र के द्वारा विष्णु का तृतीय अर्थात् उच्चतम

पद अभिप्रेत है; तु०-ऋ० १, १५४, ५। परन्तु वें० आदि का व्याख्यान अधिक समीचीन है, क्योंकि विष्णु तीनों लोकों में प्रक्रमण करता है और देवगण उन सभी लोकों में आनन्दित होते हैं; तु०-ऋ० १, १५४, ४।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रथम पाद में त्रीणि एक उच्चारण अपेक्षित है।

८. विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः ॥ विऽभिः। द्वा। चरतः। एकया। सह। प्र। प्रवासाऽइव। वसतः ॥

अनु०—पक्षियों की भांति उड़ने वाले वाहनों द्वारा (विभिः) दो अश्विनौ देवता एक (सूर्या) के साथ चलते हैं। विदेश में रहने वाले दो पुरुषों की तरह (प्रवासाऽइव) वे घर से बाहिर रहते हैं (प्र वसतः)।

टि०—इस ऋचा में अश्विनों का वर्णन है। विभिः=वें० "अश्वैः", सा० "विभिः। वी गत्यादिषु। क्विप्। छान्दसो ह्रस्वः। गमनसाधनैः अश्वैः"। इसका अर्थ मै० "with birds", ग्रा० (कोष) "आकाश में उड़ते हुए अश्वों के द्वारा", गै० "with bird-horses", तथा ग्रि० "with winged steeds" करता है। यद्यपि वि का शाब्दिक अर्थ "पक्षी" है (दे०-ऋ० १, २५, ४); तथापि यहां पर रूपकालंकार द्वारा पक्षियों के समान उड़ने वाले वाहनों अर्थात् किरणों के लिये इसका प्रयोग किया गया है। एकया सह=वें०, सा०, ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० इत्यादि सभी विद्वान् इनका अर्थ "एक सूर्या के साथ" करते हैं। सूर्या वास्तव में "उषा" है। प्रवासाऽइव=वें० "प्रवासिनौ इव", सा० "यथा प्रवासिनौ"। गै०, ग्रि०, मै० आदि विल्सन की भांति इनका अनुवाद "like travellers" करते हैं और ग्रा० तथा मो० भी भिन्न शब्दों में यही अर्थ करते हैं। ऋ० में प्र+√वस् का कोई अन्य प्रयोग नहीं मिलता है और इसके उत्तरकालीन प्रयोग के आधार पर यह अर्थ किया गया है। रोट, लैन्मैन तथा हिल्ब्रांट के मतानुसार यहां पर प्रवासमिव के स्थान पर प्रवासेव पाठ है। यह मत निराधार है।

छ०—ग्रा० आदि के मतानुसार, छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये द्वा के स्थान पर दुआ उच्चारण अपेक्षित है।

९. सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि सम्राजा सर्पिरासुती ॥ सदः। द्वा। चक्राते इति। उपऽमा। दिवि। सम्ऽराजा। सर्पिरासुती इति सर्पिःऽआसुती ॥

अनु०—पिघला हुआ घृत जिनका पान है (सर्पिरासुती) ऐसे दो उच्चतम (उपमा) सम्राटों ने (सम्राजा) द्युलोक में (दिवि) अपना आसन (सदः) बनाया है (चक्राते)।

टि०—इस ऋचा के देवता मित्र तथा वरुण हैं। चक्राते=√कृ+लिट् प्र० पु० द्वि० आ०। उपमा=वें० "उपमानभूतौ", सा० "उपमौ परस्परं स्वकान्त्योपमानभूतौ। यद्वा। उपमीयत आभ्यां सर्वमित्युपमौ सर्वस्य"। उपम का प्र० द्वि०। ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० इसका अर्थ "highest" करते हैं। निघ० २, १६ में उपमः "अन्तिक" (समीप) के नामों में गिनाया गया है। वैदिक प्रयोग के अनुसार इसका "उच्चतम" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। सर्पिरासुती=वें० "घृतं ययोः आसूयते हूयते", सा० "सर्पिर्घृतमाभ्याम् आसूयते इति सर्पिरासुती। घृतहविष्कौ"। ग्रा० इसका अर्थ "पिघला हुआ घी (सर्पिः) जिनका पान (आसुति) है वे" करता है, जबकि गै० तथा मै० "who receive melted butter as their draught" अर्थ करते हैं। विल्सन, मो० तथा ग्रि० सा० का अनुसरण करते हैं। अन्यत्र वें० तथा सा० सर्पिरासुतिः का व्याख्यान प्रायेण "यस्मिन् सर्पिरासूयते हूयते सः" या "घृतान्नः" करते हैं जहां यह अग्नि का वि० है। ऋ० १०, ६९, २ के भाष्य में उद्गीथाचार्य इसका अर्थ "घृताशनः घृतरसो वा" करता है। इसके उत्तरपद आसुति की व्युत्पत्ति (आ+√सु+क्तिन्) को ध्यान में रखते हुए, उद्गीथ० का दूसरा अर्थ अधिक समीचीन है। बस० होने के कारण इसके पूर्वपद पर उदात्त है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा० आदि के मतानुसार द्वा के स्थान पर दुआ उच्चारण अपेक्षित है।

१०. अर्चन्तु एके महि साम मन्वत — अर्चन्तः। एके। महि। साम। मन्वत।
तेन सूर्यमरोचयन् ॥ — तेन। सूर्यम्। अरोचयन् ॥

अनु०—गाते हुए (अर्चन्तः) कुछ देवताओं ने (एके) बड़े (महि) सामगान (साम) का मनन किया (मन्वत); उससे (तेन) उन्होंने सूर्य को चमकाया (अरोचयन्)।

टि०—बृहद्देवता, वें०, सा० के मतानुसार इस ऋचा के देवता अत्रि हैं। परन्तु लुड्विग, ओल्डनबर्ग तथा मै० अंगिरसों को इसका देवता मानते हैं, जबकि बर्गेन मरुतों को इसके देवता मानता है। यद्यपि ऋ० ५, ४०, ९ के अनुसार अत्रियों ने अर्थात् अत्रि वंश के ऋषियों ने स्वर्भानु द्वारा अन्धकार से आक्रान्त सूर्य को प्राप्त किया, परन्तु

अग्नियों के साथ √अर्च् का प्रयोग नहीं मिलाता है। इसके विपरीत अंगिरसों तथा मरुतों के साथ √अर्च् का प्रयोग मिलता है; तु०—ऋ० १, ६२, २; १, १९, ४; २,३४,१; ३,१४,४; ५, ५६, ५। ऋ० १०,६२,३—य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिवि के अनुसार अंगिरसों ने सूर्य को द्युलोक पर आरूढ किया। इसी प्रकार मरुतों को भी सूर्य के सहायक तथा अन्धकार-विनाशक बताया गया है; तु०—ऋ० ८, ७, ६; ७, ५६, २०; १, ८६, १०; २, ३४, १२। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मरुतों को इस ऋचा के देवता मानना अधिक समीचीन है। Ved. my. (p. 80) में मैं० भी मरुतों को इस ऋचा के देवता मानता है। मन्वत=√मन्+लङ् प्र० पु० ब० आ०, अडागम-लोप (वै० व्या० २१४)। अरोचयन् = √रुच् "चमकना" + णिच्+लङ् प्र० पु० ब०। अर्चन्तः=√अर्च् "गाना" + शतृ + प्रथ० ब० (तु०—ऋ० १, १९, ४; १९०, ४)। महि साम=सा० "महत् साम त्रिवृत्पञ्चदशादि"; अन्य विद्वान् इसका सरल अर्थ "बड़ा साम" करते हैं।

ऋ. ८, ४८ (सोमः)

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः । देवता—सोमः । छन्दः—त्रिष्टुप्, ५ जगती ।

१. स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधाः	स्वादोः । अभक्षि । वयसः । सुऽमेधाः ।
स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य ।	सुऽआध्यः । वरिवोवित्ऽतरस्य ।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो	विश्वे । यम् । देवाः । उत । मर्त्यासः ।
मधु ब्रुवन्तो अभि संचरन्ति ॥	मधु । ब्रुवन्तः । अभि । सम्ऽचरन्ति ॥

अनु०—शोभन-प्रज्ञा-युक्त होते हुए (सुमेधाः) मैंने, वरणीय वस्तु को बहुत अधिक प्राप्त कराने वाले (वरिवोवित्तरस्य), स्वादु (स्वादोः), तथा शोभन-विचार-युक्त (स्वाध्यः) अन्न का (वयसः) भक्षण किया है (अभक्षि), जिसके पास सब देवता और (उत) मनुष्य (मर्त्यासः) "मधु" कहते हुए (ब्रुवन्तः) एक-साथ जाते हैं (अभि संचरन्ति)।

टि०—वयसः=वयस् का ष० ए०; दे०—ऋ० २, ३३, ६ पर टि०; कर्मकारक में ष० (वै० व्या० ३८३ क)। अभक्षि=√भज्+अनिट्—सिज्-लुङ् उ० पु० ए० आ० (वै० व्या०, २७५ क)। सुमेधाः=बस० के पूर्वपद में सु के कारण उत्तरपद पर उदात्त है (वै० व्या० ३९९ क० १)। स्वाध्यः=वें० "सुकर्मा", सा० "स्वाध्ययनः सुकर्मा"। ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० आदि इसे वयसः का वि० समझते हुए स्वाधी का ष० ए० मानते हैं। तदनुसार स्वाधी का अर्थ गै० "well-meaning", ग्रि० "religious-thoughted", ग्रा० "offered with devotion", और मै० "that stirs good thoughts" करता है। व्युत्पत्ति (तु०—दुराधी) तथा वैदिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए स्वाधी (वै० व्या० १४३ग) का अर्थ "शोभन-विचार-युक्त" प्रतीत होता है; तु०—ऋ० १, ७१, ८ (स्क० "कल्याण-चित्तम्"); ५, १४, ६ (सा० "शोभनाध्यानैः"), ९, ३१, १ (सा० "सुध्यानाः"); १०१, १० (वें०, सा० "शोभनाध्यानाः")। वरिवोवित्तरस्य=वें० "अत्यन्तं पूजायाः लम्भकम्"; सा० "अतिशयेन पूजां लभमानस्य"। वरिवोवित्तर शब्द का अर्थ गै० "who finds the best way (from need)", ग्रि० "best to find out treasure", मै० "best banisher of care" तथा ग्रा० "bestowing freedom, luck, comfort" करता है। इसका अर्थ है—वरिवस् "वरणीय वस्तु" (दे०—ऋ० ४, ५०, ९) को बहुत अधिक प्राप्त कराने वाला; तु०—ऋ० १, १०७, १; वा० सं० ८, ४।

छ०—द्वितीय पाद में छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा० तथा मै० के मतानुसार स्वाध्यो के स्थान पर सुआधिओ उच्चारण अपेक्षित है।

२. अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्य् अन्तरिति । च । प्र । अगाः । अदितिः । भवासि ।
अवयाता हरसो दैव्यस्य । अवऽयाता । हरसः । दैव्यस्य ।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः इन्दो इति । इन्द्रस्य । सख्यम् । जुषाणः ।
श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः ॥ श्रौष्टीऽइव । धुरम् । अनु । राये । ऋध्याः ॥

अनु०—हे सोम (इन्दो) ! तुम मेरे अन्दर (अन्तः) चले गये हो (प्र अगाः), अत एव तुम (मेरे लिये पाप-निवारक) अदिति बनोगे (भवासि) तथा देवताओं के क्रोध को (दैव्यस्य हरसः) दूर करने वाले (अपयाता) बनोगे। इन्द्र की मित्रता का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए (सख्यं जुषाणः) तुम धनलाभ के लिये (राये) अनुकूल हो जाओ (अनु ऋध्याः), जैसे सुखप्रद घोड़ी (श्रौष्टीऽइव) जुए (धुरम्) के अनुकूल होती है।

टि०—इन्दो=सोम को सम्बोधित किया गया है। इन्दु का शाब्दिक अर्थ "बिन्दु" है। प्र+अगाः = √गा+विकरण-लुग्-लुङ् म० पु० ए० (वै० व्या० २६५ क)। भवासि=√भू+लेट् म० पु० ए० (वै० व्या० २२५); भविष्यत्काल के अर्थ में। अदितिः=वें० "अखण्डनीयः", सा० "अदीनः"। यहां पर ग्रा० अदितिः का अर्थ "boundless" करता है, जबकि गै० तथा मै० के मतानुसार यहां पर अदितिः का वर्णन "पाप से मुक्त करने वाली देवी" के रूप में किया गया है, क्योंकि इसी ऋचा के द्वितीय पाद तथा ऋ० १, १६२, २२ से इस मत का समर्थन होता है। गै० का मत अधिक समीचीन है। श्रौष्टीऽइव=व० "यथा क्षिप्रगामी अश्वः", सा० "श्रुष्टीति क्षिप्रनाम। तत्संबन्धी श्रौष्टी। क्षिप्रगामी अश्वः"। ग्रा०, गै० तथा मै० श्रौष्टी का अर्थ "an obedient mare" करते हैं, जबकि ग्रि० "a swift steed" अनुवाद करता है और मो० "willing, obedient" अर्थ सुझाता है। इस शब्द का केवल यही एक प्रयोग मिलता है। परन्तु जिस श्रुष्टि शब्द से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं उसके अर्थ के विषय में भी मत-भेद हैं। ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् √श्रुष् को √श्रु "सुनना" का रूपान्तर समझते हुए श्रुष्टि (√श्रुष् + क्तिन्) का अर्थ "hearing, obedience, willingness" मानते हैं और उसी आधार पर वर्तमान शब्द का व्याख्यान करते हैं। यास्क

(६, १२) ने श्रुष्टि को "क्षिप्र" का समानार्थक माना है और तदनुसार स्क०, वें० तथा सा० ने बहुत से स्थानों पर श्रुष्टि का "क्षिप्र" अर्थ किया है; तु०—ऋ० १, ६७, १; ११६, १; १६६, १३; १७८, १; ३, ६, ८; ६, १३, १; ६८, १; ७, ३६, ४; १०, २०, ६ इत्यादि। परन्तु सभी मन्त्रों में तथा प्रसंगों में "क्षिप्र" अर्थ उपयुक्त नहीं लगता है। अत एव भाष्यकारों ने अन्यत्र श्रुष्टि के भिन्न-भिन्न अर्थ भी सुझाये हैं; यथा—"सुख", "कीर्ति", "वेग", "दूत", "धन", "समृद्धि", "अन्न" इत्यादि। श० ब्रा० ७, २, २, ५ में भी श्रुष्टि का अर्थ "अन्न" बताया गया है। जिन मन्त्रों में श्रुष्टि शब्द प्रयुक्त हुआ है उन सबके विश्लेषण तथा विवेचन से दो तथ्य स्पष्ट हैं—(१) श्रुष्टि का अर्थ "क्षिप्र" नहीं है जैसा कि यास्क आदि मानते हैं और (२) न ही इसका अर्थ "hearing audience, obedience, willingness" है जैसा कि ग्रा०, गै०, आदि आधुनिक विद्वान् समझते हैं, क्योंकि √श्रुष् को √श्रु का समानार्थक मानकर श्रुष्टि की व्युत्पत्ति करना काल्पनिक तथा निराधार है। श्रुष्टि की व्युत्पत्ति के विषय में कोई भी निश्चित मत प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परन्तु श्रुष्टि के वैदिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए इसके लिये जो अत्यधिक उपयुक्त तथा समीपतम अर्थ सुझाया जा सकता है वह "सुख" हो सकता है, जैसा कि स्क०, वें० तथा सा० ने लगभग एक दर्जन से अधिक मन्त्रों के भाष्य में माना है। श्रुष्टि के साथ तद्धित प्रत्यय जोड़ने से विशेष वृद्धिविकार द्वारा **श्रौष्टी** रूप सम्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है "सुख-युक्त" अर्थात् "सुखप्रद"। ग्रा०, गै०, मै० आदि विद्वान् इसे स्त्री० का रूप मानते हैं और व्याकरण तथा स्वर के विचार से यही मत अधिक समीचीन है। अत एव प्रसंग के अनुसार इसके साथ **वडवा** "घोड़ी" का अध्याहार करते हुए हम **श्रौष्टी** का व्याख्यान इस प्रकार कर सकते हैं—"वह घोड़ी जो रथ को सुखपूर्वक खींचती है"। **अनु ऋध्याः** = √ऋध्+विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से विलि० म० पु० ए० (वें० व्या० २६६ घ)।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रथम पाद के अन्त में **भवासि** उच्चारण अपेक्षित है और ग्रा० तथा मै० आदि के मतानुसार दूसरे पाद में **दैव्यस्य** के स्थान पर **दैविअस्य** तथा तृतीय पाद में **सख्यं** के स्थान पर **सखिअं** उच्चारण अपेक्षित है।

३. अपा॑म॒ सोम॑म॒मृता॑ अभूमा-	अपा॑म। सोम॑म्। अ॒मृता॑ः। अ॒भू॒म॒।
गन्म॒ ज्योति॒रवि॑दाम दे॒वान्।	अग॑न्म। ज्योति॑ः। अवि॑दाम। दे॒वान्।
किं नू॒नम॒स्मान्कृ॑णव॒दरा॑ति॒ः	कि॒म्। नू॒नम्। अ॒स्मान्। कृ॒ण॒व॒त्। अरा॑तिः।
किमु॑ धू॒र्तिर॑मृत॒ मर्त्य॑स्य॥	किम्। ऊँ इति॑। धू॒र्तिः। अ॒मृ॒त॒। मर्त्य॑स्य॥

अनु०—हम ने सोम पीया है (**अपाम**)। हम अमर (**अमृताः**) हो गये हैं (**अभूम**)। हम प्रकाश के पास पहुँच गये हैं (**ज्योतिः अगन्म**)। हम ने देवों को पा लिया है (**अविदाम**)। अब (**नूनम्**) मनुष्य की (**मर्त्यस्य**) दुर्भावना (**अरातिः**) तथा हिंसा (**धूर्तिः**) हमारा क्या करेगी (**किम् अस्मान् कृणवत्**) ?

टि०—**अपाम** = √पा "पीना" + विकरण–लुग्–लुङ् उ० पु० ब० (वै० व्या० २६५); पादादि में आने के कारण ति० सोदात्त है। **अभूम**=√भू+ विकरण–लुग्–लुङ् उ० पु० ब०। **अगन्म**=√गम्+विकरण–लुग्–लुङ् उ० पु० ब०; पादादि में सोदात्त। **अविदाम** = √विद् "पाना" + अङ्-लुङ् उ० पु० ब० (वै० व्या० २६८); यद्यपि वें० तथा सा० इसे √विद् "जानना" का रूप मानते हुए "ज्ञातवन्तः" व्याख्यान करते हैं, परन्तु उस धातु का ऐसा रूप नहीं बनता है। कृणवत्=√कृ+लेट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २४२)। **अरातिः**=दे०– ऋ० ४, ५०, ११; ७, ८३, ३। **मर्त्यस्य धूर्तिः**=वें० तथा सा० धूर्तिः का अर्थ "हिंसकः" करते हैं और **मर्त्यस्य** का व्याख्यान "मनुष्यस्य मम" करते हैं। परन्तु ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् धूर्तिः का अन्वय **मर्त्यस्य** करते हैं और तदनुसार ग्रा० धूर्तिः का अर्थ "चोट, हिंसा", गै० "कुटिलता", मै० "malice" और ग्रि० "deception" करता है। **मर्त्यस्य** का धूर्तिः तथा **अरातिः** के साथ अन्वय उचित है (तु०—ऋ० १, १८, ३) और धूर्तिः का "हिंसा" अर्थ समीचीन है जैसा कि स्क०, वें० तथा सा० ने भी अन्यत्र माना है; तु०—ऋ० १, १८, ३; १२८, ७; ७, ९४, ८; ८, २७, १५। चतुर्थ पाद का सं० **अमृत** भी इस व्याख्यान का समर्थन करता है। भावार्थ की दृष्टि से "कुटिलता" व्याख्यान भी उपयुक्त है, जैसा कि गै० ने किया है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धिविच्छेद द्वारा प्रथम पाद के अन्त में **अभूम** तथा द्वितीय पाद के आदि में **अगन्म** उच्चारण अपेक्षित है और ग्रा० आदि के मतानुसार चतुर्थ पाद में **मर्त्यस्य** के लिये **मर्तिअस्य** उच्चारण अपेक्षित है।

४. **शं नो भव हृद आ पीत इन्दो**	**शम् । नः । भव । हृदे । आ । पीतः । इन्दोऽइति ।**
पितेव सोम सूनवे सुशेवः ।	**पिताऽइव । सोम । सूनवे । सुऽशेवः ।**
सखेव सख्य उरुशंस धीरः	**सखाऽइव । सख्ये । उरुऽशंस । धीरः ।**
प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ॥	**प्र । नः । आयुः । जीवसे । सोम । तारीः ॥**

अनु०—हे इन्दो ! (हमारे द्वारा) पीये गये (पीतः) तुम हमारे हृदय के लिये (नः हृदे) पूर्णतया सुखकारी बनो (शम् आ भव); जैसे, हे सोम ! पिता अपने पुत्र के लिये (सूनवे) अच्छा सुख देने वाला (सुशेवः) होता है; जैसे, हे विशाल कीर्ति वाले (उरुशंस) सोम ! बुद्धिमान् (धीरः) मित्र (सखा) अपने मित्र के लिये (सख्ये) सुखप्रद होता है। हे सोम ! जीवित रहने के लिये (जीवसे) तुम हमारी आयु को (नः आयुः) बढ़ाओ (प्र तारीः)।

टि०—सुशेवः=दे०—ऋ० ३, ५६, ४ पर टि०। प्र तारीः=√तृ+सेट्—सिज्—लुङ् के अङ्ग से विमू म० पु० ए० (वै० व्या० २८० क)। जीवसे=√जीव्+तुमर्थक असे (वै० व्या० ३४१ ङ०)। जीवसे से "आनन्दपूर्वक तथा बलसहित जीवित रहने" की ध्वनि निकलती है, क्योंकि केवल "जीवित रहने" का अर्थ तो आयुः शब्द से ही निकल जाता है।

५. इमे मा पीता यशसं उरुष्यवो — इमे। मा। पीताः। यशसः। उरुष्यवः।
रथं न गावः समनाह पर्वसु। — रथम्। न। गावः। सम्। अनाह। पर्वऽसु।
ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्राद् — ते। मा। रक्षन्तु। विऽस्रसः। चरित्रात्।
उत मा स्रामाद्यवयन्त्विन्दवः॥ — उत। मा। स्रामात्। यवयन्तु। इन्दवः॥

अनु०—(मेरे द्वारा) पीये गये (पीताः) इन (इमे) यशस्वी (यशसः) तथा रक्षक (उरुष्यवः) सोमबिन्दुओं ने मुझे (मा) मेरे जोड़ों में (पर्वसु) इस प्रकार कस दिया है (सम् अनाह) अर्थात् दृढ़ कर दिया है जैसे गोचर्मनिर्मित रस्सियां (गावः) रथ को कस देती हैं। वे सोमबिन्दु (इन्दवः) मुझे (मा) पांव के फिसलने से (विस्रसः चरित्रात्) बचाएं और (उत) व्याधि से (स्रामात्) दूर रखें (यवयन्तु)।

टि०—यशसः = अन्तोदात्त वि०; दे०—ऋ० १, १, ३ पर टि०। उरुष्यवः=वें० "रक्षाकामाः", सा० "अस्माकं रक्षाकामाः"। ग्रा० तथा मो० भाष्यकारों का अर्थ स्वीकार करते हैं, जबकि गै० इसका अर्थ "संकट में सहायक";

और ग्रि० तथा मै० "freedom-giving" करते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि √उरुष्य से परे उ प्रत्यय (वै० व्या० ३६२) जोड़ने से उरुष्यु शब्द बना है। ऋ० में √उरुष्य का प्रयोग मुख्यतया "रक्षा करना" अर्थ में हुआ है; तु०—ऋ० २, २६, ४; ६, १४, ५; ७, १, १५; ४, ५५, ५; १, ५८, ८. ६; १, ६१, १५। अत एव उरुष्यु का अर्थ "रक्षक" है। रोट, ग्रा० इत्यादि विद्वान् उरुष्य को उरु से बना नामधातु मानते हैं, जबकि मो० इसके मूल में √वृ मानता है। यास्क (५, २३) उरुष्य का अर्थ "रक्षा करना" मानता है और सा० आदि इसी मत का अनुसरण करते हैं। यास्क का मत समीचीन है। गावः=वें० "गोविकारभूता वध्राः", सा० "गोविकारभूता वध्र्यः"। भाष्यकारों के मत को स्वीकार करते हुए ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् भी गावः का अर्थ "straps" करते हैं। यह मत समीचीन है; तु०—ऋ० ६, ४७, २६; ७५, ११; निरुक्त २, ५। यहां पर गावः का अर्थ है "गोचर्मनिर्मित रस्सियां"। सम् अनाह = वें० "सम् नह्यन्ति", सा० "संदधते"। गै० तथा रैनू इसे √नह् "बांधना" का लिट् प्र० पु० ए० और मै० (V. R.) म० पु० ब० मानते हैं, जबकि रोट, ग्रा०, ह्विटने प्रभृति इसे √अंह् का लिट् म० पु० ब० मानते हैं। Ved. Gr. में मै० भी इसे √अंह् का लिट् म० पु० ब० मानता है और यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है (वै० व्या० २५३. ३; अध्याय ७ की टि० १८९)। विस्रसः चरित्रात्=वें० "विस्रस्तात् कर्मणः", सा० "विस्रसः विस्रस्तात् चरित्रात् चरणादनुष्ठानात्"। गै० तथा मै० इन दोनों पदों का अर्थ "टांग के टूटने से" करते हैं, जबकि ग्रा० तथा ग्रि० "पांव के फिसलने से" करते हैं। ग्रा० का अर्थ अधिक समीचीन है, क्योंकि ऋ० में चरित्र शब्द "पांव" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; तु०—ऋ० १, ११६, १५; १०, ११७, ७ (तै० सं० १, ३, ९, १; वा० सं० ६, १४)। ग्रा० आदि का मत है कि विस्रसः के आकर्षण से चरित्रात् में चरित्रस्य के स्थान पर पं० आई है। ग्रा०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् विस्रसः को वि+√स्रंस् का पञ्चमीमूलक तुमर्थक प्रत्यय वाला रूप मानते हैं, जबकि वै० प० को० में इसे विस्रस् वि० का पं० ए० माना गया है। विस्रस् को भाववाचक संज्ञा मानकर व्याख्यान करना अधिक सरल है। स्रामात्=वें०, सा० "व्याधेः"। ग्रा० तथा गै० यहां पर स्राम शब्द का अर्थ "लंगड़ापन" करते हैं, जबकि मै० तथा ग्रि० इसका अनुवाद "disease" करते हैं। स्राम के अन्य वैदिक प्रयोगों के आधार पर इसका "व्याधि" अर्थ उचित प्रतीत होता है; तु०—तै० सं० २, ३, १३, १. ३; २, १, ६, ५; ३, ५, ३। यवयन्तु=यु+णिच्+लोट् प्र० पु० ब०। रथं न=यह न उपमावाचक है।

छ०—इसके तृतीय पाद में ग्यारह अक्षर हैं और चतुर्थ पाद में सन्धि-विच्छेद द्वारा यवयन्तु इन्दवः उच्चारण से पूरे बारह अक्षर बनते हैं।

६. अ॒ग्निं न मा॑ मथि॒तं सं दि॑दीपः	अ॒ग्निम् । न । मा॒ । म॒थि॒तम् । सम् । दि॒दी॒पः ।
प्र च॑क्षय कृणु॒हि वस्य॑सो नः ।	प्र । च॒क्ष॒य॒ । कृ॒णु॒हि । वस्य॑सः । नः॒ ।
अथा॑ हि ते॒ मद॒ आ सो॑म॒ मन्ये॑	अथ॑ । हि । ते॒ । मदे॑ । आ । सो॒म॒ । मन्ये॑ ।
रे॒वाँ इ॑व॒ प्र च॑रा पु॒ष्टिमच्छ॑ ॥	रे॒वान्ऽइ॑व । प्र । च॒र॒ । पु॒ष्टिम् । अच्छ॑ ।

अनु०—(हे सोम !) रगड़ के द्वारा उत्पन्न की गई (मथितम्) अग्नि की तरह (अग्निं न) मुझे (मा) पूर्णतया देदीप्यमान करो (सं दिदीपः), दर्शन कराओ (प्र चक्षय) और हमें अधिक धनवान् बनाओ (नः वस्यसः कृणुहि) । हे सोम ! तेरी मस्ती में (ते मदे) मैं (अपने आपको) वैभवसम्पन्न-सा (रेवान् इव) मानता हूं (आ मन्ये) । तुम पुष्टि के लिये प्रवेश करो (पुष्टिमच्छ प्र चर) ।

टि०—सं दिदीपः=√दीप्+चङ्—लुङ् के अङ्ग से विमू० म० पु० ए० (वै० व्या० २७३) । प्र चक्षय=√चक्ष्+णिच्+लोट् म० पु० ए० । कृणुहि=√कृ+लोट् म० पु० ए० (वै० व्या० २४२) ; ति० से परे आने के कारण सोदात्त । वस्यसः=वें० "वसीयसः", सा० "अतिशयेन वसुमतः" । तुलनात्मक यस् प्रत्यय (वै० व्या० १६६ क) जोड़ने से बने वस्यस् (वसु+यस् ; तु० भूयस्, सह्यस्) का द्विती० ब० है ; दे०—ऋ० ४, २, २० ; १, २५, ४ के वस्यइष्टये पर टि० । आ मन्ये रेवान् इव=रेवाँ इव की सन्धि के लिये दे०—वै० व्या० ५२ ख । वें० तथा सा० मन्ये का अर्थ "स्तौमि" तथा ते का अर्थ "त्वाम्" करते हैं और रेवान् का अर्थ "धनवान्" करते हुए इसे सोम का वि० मान कर चतुर्थ पाद के ति० चरा से अन्वित मानते हैं। परन्तु ग्रा०, गै० तथा मै० मन्ये को रेवान् इव से अन्वित करके व्याख्यान करते हैं और यही मत समीचीन है, क्योंकि मन्ये का "स्तौमि" व्याख्यान असंगत तथा निराधार है और मन्ये के साथ रेवान् इव को अन्वित करना वैदिक-भाषा के प्रयोग के अनुकूल है; तु०—ऋ० १०, ८६, ६ । प्र चर पुष्टिमच्छ=वें० "अस्मासु प्र चारय पोषम्", सा० "पुष्टिम् अस्मत्पोषम् अच्छ प्र चर अभिगच्छ" । ग्रा०, गै० तथा मै० भी प्र चर को लोट् म० पु० ए० का रूप मानते हैं और तदनुसार इन तीनों पदों का अर्थ ग्रा० "पुष्टि के लिये आगे बढ़ो", गै० "समृद्धि के लिये आगे बढ़ो" और मै० "Enter (into us) for prosperity" करता है। यहां पर प्र चर का अर्थ "प्रवेश करो" है जैसा कि ऋ० १, ९१, १९ तथा ९, ८२, ४ के प्रयोग से स्पष्ट है ; और पुष्टि शब्द प्रसंगानुसार "शारीरिक पुष्टि" का वाचक है।

ग्रि० ने चरा को लेट् उ० पु० ए० मान कर रेवान् इव के साथ अन्वित करते हुए जो "shall I, as a rich man attain to comfort" अनुवाद किया है वह वैदिक प्रयोग पर आधारित नहीं है।

७. इ॒षि॒रेण॑ ते॒ मन॑सा सु॒तस्य॑	इ॒षि॒रेण॑। ते॒। मन॑सा। सु॒तस्य॑।
भ॒क्षी॒महि॒ पित्र्य॑स्येव रा॒यः।	भ॒क्षी॒महि॑। पित्र्य॑स्यऽइव। रा॒यः।
सोम॑ राजन्प्र ण॒ आयूं॑षि तारीर्	सोम॑। रा॒ज॒न्। प्र। नः॒। आयूं॑षि। ता॒रीः।
अहा॑नीव॒ सूर्यो॒ वास॒राणि॑॥	अहा॑निऽइव। सूर्यः॑। वा॒स॒राणि॑॥

अनु०—(हे सोम!) प्रेरणायुक्त मन से (**इषिरेण मनसा**) निकाले गये तेरे रस का (**ते सुतस्य**) हम पैतृक सम्पत्ति की तरह (**पित्र्यस्येव रायः**) उपभोग करें (**भक्षीमहि**)। हे राजन् सोम! तुम हमारी आयु को (**नः आयूंषि**) बढ़ाओ (**प्र तारीः**) जैसे सूर्य प्रकाशमान (**वासराणि**) दिनों को (**अहानि**) (बढ़ाता है)।

टि०—इषिरेण=वें०, सा० "इच्छावता"। ग्रा० तथा मो० इसका अर्थ "active, vigorous", गै० "eager", ग्रि० "enlivened" और मै० "devoted" करता है। अतिप्राचीन काल से **इषिर** शब्द के व्याख्यान के सम्बन्ध में अनेक मतभेद रहे हैं। श० ब्रा० ६. ४, १, १० में **इषिर** का अर्थ "क्षिप्र" दिया गया है। इसी ऋचा के **इषिरेण** पद पर विचार करते हुए यास्क (४, ७) "ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा" व्याख्यान करता है, जिस पर दु० कहता है—'**इषिरेण मनसा**' त्वां प्रति सर्वात्मना गतेनेत्यर्थः। 'ईषति, फणति' इति गतिकर्मसु पठितम्। 'एषणेनेति वा' स्यात्, इच्छावता फलप्रार्थनावतेत्यर्थः। 'ऋषणेनेति वा' दर्शनवता"। उणादिसूत्र १, ५१ में √इष् के साथ किरच् प्रत्यय द्वारा **इषिर** की व्युत्पत्ति दिखाई गई है (वै० व्या० ३६१ च)। वा० सं० १८, ४१ के भाष्य में म० "इष् गतौ दिवादिः। इष्यति गच्छतीति इषिरः। औणादिक इर् प्रत्ययः। शीघ्रगमनः" व्याख्यान करता है। स्क०, वें० तथा सा० प्रायेण इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुए अधिकतर ऋचाओं में **इषिर** का व्याख्यान "गमनशील" करते हैं, तु०—ऋ० १, १२६, १; २, २६ १; ३, ३०, ६; ६०, ७; ५, ४१. २; ३७, २; ७५, ५; ७, ३५, ४; ६७, ७; ८, ६८, ६; ६, ७३, ७; ८४, ४; १०, ७३, ५; ६८, ३; ६४, ५; १५७, ५। परन्तु कहीं-कहीं इन्होंने √इष् "इच्छा करना" से भी **इषिर** की व्युत्पत्ति मान कर व्याख्यान किया है; तु०—ऋ० १, १६८, ६; २, २६, १; ५, ३७, २; ६, ६६, १५ पर वें० तथा सा०; ६, ६२, ३ पर स्क० तथा सा०। कतिपय ऋचाओं के व्याख्यान में √इष् "प्रेरित करना" से व्युत्पत्ति मानते हुए भाष्यकार **इषिर** का व्याख्यान करते हैं; तु०—ऋ० ८, ४६, २६ पर वें० तथा सा० और ३, ५, ४ पर सा०। ऋ० में

इषिर के जो प्रयोग उपलब्ध होते हैं उनके विवेचन से स्पष्ट है कि यह वि० है। ऋ० में इषिर शब्द इन्द्र, अग्नि, मरुत्, अश्विन्, आदित्य, बृहस्पति, वात, अश्व, गो, वाच्, स्वधा, भूमि, दक्ष, पयस् तथा मनस् के साथ वि० के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि इनमें से कुछेक विशेष्यों के साथ इषिर का "गमनशील" अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, तथापि सर्वत्र यह व्याख्यान समीचीन नहीं है। अतएव √इष् "प्रेरित करना" से इषिर की व्युत्पत्ति मानते हुए इसका "प्रेरक, प्रेरणायुक्त" अर्थ करना समीचीन होगा जो सभी विशेष्यों के साथ संगत बैठ सकता है। वर्तमान प्रसंग में "प्रेरणायुक्त" अर्थ समीचीन है। भक्षीमहि = √भज्+अनिट्—सिज्लुङ् के अङ्ग से आलि० उ० पु० ब० (वै० व्या० २७७ घ)। पादादि में आने के कारण सोदात्त है। प्र तारीः = दे०—ऋचा० ४। वासराणि अहानि=वें० "वासयन्ति मनुष्यान् इति वासराणि", सा० "जगद्वासकानि"। ग्रा० तथा गै० वासर का अर्थ "प्रातः कालीन", ग्रि० "shining" और मै० वासराणि अहानि का अनुवाद "the days of spring" करता है। यास्क (४, ७) वासराणि का निर्वचन "वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा" करता है। दु० ने इस ऋचा के भाष्य में वासराणि अहानि का व्याख्यान "वासन्तिकान्यहानि" किया है जिसका अनुकरण मै० ने किया है। ऋ० में वासर के केवल दो प्रयोग और मिलते हैं—ऋ० १, १३७, ३ तां वां धेनुं न वासरीम्; ८, ६, ३० ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। इन प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए वासर का "प्रकाशमान" अर्थ समीचीन प्रतीत होता है और √वस् "चमकना"+अर से इसकी व्युत्पत्ति मानी जा सकती है, क्योंकि ऋ० ६, ९, १ अहश्च कृष्णमहर्जुनं च के अनुसार चौबीस घण्टे के सम्पूर्ण दिवस में रात्रि को "काला दिन" और सूर्यप्रकाशित काल को "श्वेत दिन" कहा गया है। ते सुतस्य=कर्म कारक में ष०। सोम राजन्=दोनों सं० को इकाई मानकर आदि अक्षर पर उदात्त (वै० व्या० ४१२)।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये पित्र्यस्य के स्थान पर पित्रिअस्य और सूर्यो के स्थान पर सूरिओ उच्चारण अपेक्षित है।

८. सोम॑ राजन्मृ॒ळया॑ नः स्व॒स्ति — सोम॑। राज॒न्। मृ॒ळय॑। नः॒। स्व॒स्ति।

तव॑ स्मसि व्र॒त्या३॒॑स्तस्य॑ विद्धि। — तव॑। स्म॒सि॒। व्र॒त्याः॑। तस्य॑। वि॒द्धि॒।

अल॑र्ति॒ दक्ष॑ उ॒त म॒न्युरि॑न्दो — अल॑र्ति। दक्षः॑। उ॒त। म॒न्युः। इ॒न्दो॒ इति॑।

मा नो॑ अ॒र्यो अ॑नुका॒मं परा॑ दाः॥ — मा। नः॒। अ॒र्यः। अ॒नु॒ऽका॒मम्। परा॑। दाः॥

अनु०—हे राजन् सोम! कल्याण के द्वारा (स्वस्ति) हम पर दया करो (नः मृळय)। हम तेरे व्रत का पालन करने वाले हैं (तव व्रत्याः स्मसि); उसे जानो (तस्य विद्धि)। हे इन्दो! बुद्धि (दक्षः) और (उत) उत्साह (मन्युः) उठता है (अर्लर्ति); तुम हमें (नः) शत्रु की (अर्यः) इच्छा के अनुसार (अनुकामम्) मत छोड़ो (मा परा दाः)।

टि०—मृळय=पादादि में आने वाले सं० को अविद्यमान मान कर ति० सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ घ); दे०—ऋ० २, ३३, ११ पर टि०। स्वस्ति=वें० "अविनाशेन"; सा० "अविनाशाय"। ग्रा० तथा मै० भी वें० की भांति इसे तृ० ए० का रूप मानते हैं और यही मत समीचीन है (वै० व्या० १४०, ३)। स्मसि=√अस् "होना"+लट् उ० पु० ब०। विद्धि = √विद् "जानना"+लोट् म० पु० ए०। अर्लर्ति = √ऋ "जाना"+यङ्लुगन्त लट् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २९८, ३०१. अध्याय ७ की टि० ३६४, ३६८)। दक्षः उत मन्युः=वें० "गच्छति वृद्धः शत्रुः अभिमन्ता च", सा० "दक्षः प्रवृद्धोऽस्मच्छत्रुः अर्लर्ति गच्छति। उत अपि च मन्युः क्रोधः क्रुद्धो वा अर्लर्ति"। ग्रि० तृतीय पाद का अनुवाद "Spirit and power are fresh in us, O Indu", मै० "There arise might and wrath, O Indu", और गै० "हे इन्दो, शोभन अभिप्राय तथा उत्साह उठता है"। गै० की भांति ग्रा० (कोष) भी इन पदों को उपासक के लिये प्रयुक्त मानते हुए दक्षः का अर्थ "बौद्धिक बल" और मन्युः का अर्थ "उत्साह" करता है और यही व्याख्यान समीचीन है। वें०, सा० तथा मै० का शत्रुपरक व्याख्यान यहां पर उचित नहीं है। दक्षः के लिये दे०—ऋ० ४, ५४, ३ पर टि०। मा परा दाः=√दा+विकरण-लुग्-लुङ् के अङ्ग से विमू० म० पु० ए० (वै० व्या० २६६ क)। अर्यः = अरि का ष० ए० (वै० व्या० १४०. ५ क)। अनुकामम्=अव्ययीभाव-समास (वै० व्या० १९१ क)।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये स्वस्ति के लिये सुअस्ति और व्रत्यास् के लिये व्रतिआस् उच्चारण अपेक्षित है।

९. त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा	त्वम्। हि। नः। तन्वः। सोम। गोपाः।
गात्रेगात्रे निषसत्था नृचक्षाः।	गात्रेऽगात्रे। निऽससत्थ। नृऽचक्षाः।
यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि	यत्। ते। वयम्। प्रऽमिनाम। व्रतानि।
स नो मृळ सुषखा देव वस्यः॥	सः। नः। मृळ। सुऽसखा। देव। वस्यः॥

अनु०—हे सोम ! क्योंकि (हि) तू हमारे शरीर का (नस्तन्वः) रक्षक है (गोपाः), मनुष्यों के द्रष्टा (नृचक्षाः) के रूप में तू हमारे अंग-अंग में (गात्रेगात्रे) बैठ गया है (निषसत्थ)। यदि (यत्) हम तेरे नियमों का उल्लंघन करें (ते व्रतानि प्रमिनाम), हे देव ! तब भी अच्छे मित्र के रूप में (सुषखा) तुम अधिक वैभवपूर्वक (वस्यः) हम पर दया करो (नः मृळ)।

टि०—तन्वः = तनू का ष० ए०। निषसत्थ = नि+√सद्+लिट् म० पु० ए० (वै० व्या० २५२); हि के योग से सोदात्त (४१३ च)। व्रतानि=दे०—ऋ० १, २५, १ पर टि०; तु०—ऋचा ८ में व्रत्याः। प्रमिनाम=प्र+√मी+लेट् उ० पु० ब०; तु०—ऋ० १, २५, १ पर टि०; यत् के योग से सोदात्त है। वस्यः=वें० तथा सा० इसे नः का वि० मानते हुए "श्रेष्ठान् अस्मान्" व्याख्यान करते हैं। ऋचा ६ में प्रयुक्त वस्यसः की भांति वस्यः को भी ग्रा०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् वसु के साथ तुलनावाचक प्रत्यय यस् से बना हुआ मानते हैं। ग्रा०, मै० आदि वस्यः को क्रिवि० मानते हुए व्याख्यान करते हैं। ग्रि० इसका अनुवाद "best of all" और मै० "for higher welfare" करता है, जबकि गै० "to our best" अनुवाद करते हुए टि० में सुझाव देता है "क्या पादान्त में वस्यः का प्रयोग वस्यसे के लिये हो सकता है ?" यहां पर वस्यः को क्रिवि० मानना उचित प्रतीत होता है और मृळ के साथ यह प्रयोग लगभग वैसा ही है जैसा कि ऋचा ८ के प्रथम पाद में स्वस्ति का। यहां पर वस्यः का अर्थ है "अधिक वैभवपूर्वक"।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये त्वं और तन्वः के स्थान पर क्रमशः तुअं और तनुअः उच्चारण अपेक्षित है।

१०. ऋदूदरेण सख्या सचेय ऋदूदरेण । सख्या । सचेय ।
योमा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः । यः । मा । न । रिष्येत् ।
हरिऽअश्व । पीतः ।
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे अयम् । यः । सोमः । नि । अधायि ।
अस्मे इति ।
तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः ॥ तस्मै । इन्द्रम् । प्रऽतिरम् । एमि ।
आयुः ॥

अनु०—हे पीतवर्ण के अश्वों वाले इन्द्र (हर्यश्व) ! मैं दयालु (ऋदूदरेण) मित्र-रूपी सोम के साथ (सख्या) संयुक्त हो जाऊं (सचेय), जो पीया हुआ (यः पीतः) मुझे कष्ट न पहुँचाये (मा न रिष्येत्)। जो यह सोम

हमारे अन्दर (अस्मे) रखा गया है (नि अधायि), उसके निमित्त (तस्मै) आयु बढाने के लिये (आयुः प्रतिरम्) मैं इन्द्र से प्रार्थना करता हूँ (इन्द्रमेमि)।

टि०—ऋदूदरेण = दे०—ऋ० २, ३३, ५ पर टि०। हर्यश्व=हरि "पीतवर्ण" अश्वों वाला इन्द्र; बस०। सोमपान से सम्बद्ध होने के कारण यहां पर इन्द्र को सम्बोधित किया गया है। नि अधायि=√धा+लुङ् प्र० पु० ए० कवा० (वै० व्या० ३१३); यः के कारण सोदात्त है। अस्मे = अस्मद् का स० ब०। प्रतिरम् = प्र+√तॄ+तुमर्थक अम् (वै० व्या० ३४० ख)। एमि=वें०, सा० "याचे"। ग्रा०, गै० तथा ग्रि० भी सा० का अनुसरण करते हैं और यही व्याख्यान समीचीन है, जबकि मै० "approach" अनुवाद करता है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा० तथा मै० के मतानुसार सख्या के स्थान पर सखिया उच्चारण अपेक्षित है और सन्धि-विच्छेद द्वारा अन्य पादों में हरिअश्व, निअधायि अस्मे, तथा एमि आयुः उच्चारण का सुझाव है।

११. अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा	अप। त्याः। अस्थुः। अनिराः। अमीवाः।
निरत्रसन्तमिषीचीरभैषुः।	निः। अत्रसन्। तमिषीचीः। अभैषुः।
आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया	आ। सोमः। अस्मान्। अरुहत्। विऽहायाः।
अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥	अगन्म। यत्र। प्रऽतिरन्ते। आयुः॥

अनु०—वे (त्याः) अन्नाभाव (अनिराः) अर्थात् पौष्टिक आहारों के अभाव दूर हट गये हैं (अप अस्थुः)। थकाने वाली या श्वास फुलाने वाली (तमिषीचीः) व्याधियाँ (अमीवाः) डर गई हैं (अभैषुः) और कांप कर बाहिर निकल गई हैं (निरत्रसन्)। शक्तिशाली (विहायाः) सोम हमारे अन्दर चढ़ गया है (अस्मान् आ अरुहत्)। हम वहां पर अर्थात् उस स्थिति में पहुँच गये हैं (अगन्म) जहां पर मनुष्य अपनी आयु को बढ़ाते हैं (यत्र आयुः प्रतिरन्ते)।

टि०—अप अस्थुः = √स्था+लुङ् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २६५ क)। अनिराः=दे०—ऋ० ७, ७१, २ पर टि०। निर् अत्रसन्=√त्रस्+लङ् प्र० पु० ब०। अभैषुः=√भी+अनिट्-सिज्लुङ् प्र० पु० ब० (वै० व्या० २७६)। वाक्य में पूर्ववर्ती

ति० **अत्रसन्** से अन्वित होने के कारण इस ति० पर उदात्त है (पा० ८, १, ६३)। **तमिषीचीः**=वें० "अमीवा बलमञ्चन्त्यः", सा० "याः तमिषीचीः बलवत्योऽस्मान् निः नितराम् **अत्रसन्** प्राप्नुवन् कम्पयन्ति तथा **अमेषुः**"। **तमिषि** को **तमसि** का समानार्थक मान कर ग्रा० **तमिषि**+√**अच्** (√अञ्च्) से **तमिषीची** की व्युत्पत्ति मानते हुए स्त्री० **अमीवाः** के वि० के रूप में इसका अर्थ "चेतनाशून्य करने वाली, थकाने वाली" करता है और ग्रा० का अनुसरण करते हुए मो० इसका अर्थ "oppressing, stunning, confusing" करता है। गै० ने इसका सन्दिग्ध अर्थ "अन्धेरी शक्तियां (?)" किया है। मै० ने इसका अनुवाद "the powers of darkness" करते हुए निम्नलिखित टि० जोड़ी है (V. R., p. 161)—"this word, as occurring here only, is somewhat doubtful in sense; but it is probably a f. adj. formed from a stem in अञ्च् added to तमिस् (in तमिस्रा darkness) cp. 93a and 95. The meaning is that a draught of Soma drives away disease and the powers of darkness (cp. 3b)." ग्रि० ने सम्पूर्ण द्वितीय पाद का अनुवाद इस प्रकार किया है—"they feared, and passed away into darkness" जिसमें इस शब्द का मनमाना अर्थ किया गया है। वेलंकर ने इसका अनुवाद "(आंखों के) अंधेरे" किया है और निम्नलिखित टि० जोड़ी है—"**तमिषीचीः**—**तमिस्रा** का पर्यायवाची शब्द है, अर्थ है 'अंधेरी रात'। लक्षणा के सहारे अंधेरा मस्तिष्क या हृदय से सम्बद्ध होगा; जिसका अर्थ होगा 'हृदय का भ्रम', 'अज्ञान' आदि। दे० **मघोनो हृदो वरथस्तमांसि** ५, ३१, ६।" वै० प० को० में इसे नामपद मानकर इसका सन्दिग्ध अर्थ "चेतनाघात-रोग ?" सुझाया गया है। अ० २, २, ५ में इस शब्द का प्रथ० ब० रूप **तमिषीचयः** मिलता है जो गन्धर्वपत्नियों अप्सराओं का वि० है। वहां पर सा० ने इसका निम्नलिखित व्याख्यान किया है—"**तमिषीचयः**। तविषीति बलनाम। तद् अञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति चिन्वन्ति वेति तविषीचयः। बलवत्य इत्यर्थः। तवेर्वृद्धयर्थात् तवेर्णिद्वा (उ० सू० १, ४८) इति टिषच् प्रत्ययः। टित्वाद् ङीप्। वर्णव्यत्ययश्छान्दसः। ततः अञ्चतेश्चिनोतेर्वा क्विनि पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः। 'तमु ग्लानौ' इत्यस्माद्वा बाहुलकात् टिषच् प्रत्ययः। तमिषीं ग्लानिं परेषाम् आविष्टानाम् उपचिन्वन्तीति तमिषीचयः"। ह्विटने ने इसका अनुवाद "mind-confusing" किया है। अ० में इस शब्द के प्रयोग को ध्यान में रखते हुए यहां पर भी **तमिषीचीः** को नामपद न मानकर **अमीवाः** का वि० मानना अधिक समीचीन है। इसके अतिरिक्त यह मानना भी उचित होगा कि प्रथम पाद के ति० **अस्युः** के साथ केवल **अनिराः** पद अन्वित है और अमीवाः अपने वि० **तमिषीचीः** सहित द्वितीय पाद के ति० **अत्रसन्** तथा **अमेषुः** से अन्वित है। इस प्रसंग के अनुसार, सा० तथा ह्विटने (Roots) की भांति √तम् "थकना, श्वास फूलना" से **तमिषीची** की व्युत्पत्ति मानकर, "थकाने वाली, श्वास फुलाने वाली" (व्याधि) अर्थ करना अधिक समीचीन है। **विहायाः**=वें०, सा० "महान्"। निघ० ३, ३ में यह शब्द "महत्" के नामों में गिनाया गया है और ग्रा०, ग्रि०, मो० आदि भी इसी अर्थ को स्वीकार

करते हैं, यद्यपि मै० ने इसका अनुवाद "with might" और गै० ने "जीवनशक्ति को प्रकट करता हुआ" किया है। वेलंकर ने इसका अनुवाद "सर्वत्र प्रसरणशील" किया है। वैदिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए इसका "शक्तिशाली" अर्थ समीचीन है। आ अरुहत्=√रुह्+अङ्-लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६८)। अगन्म=√गम्+विकरण—लुग्—लुङ् उ० पु० ब० (वै० व्या० २६५ ग); पादादि में आने के कारण सोदात्त।

१२. यो न इन्दुः पितरः हृत्सु पीतो ऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम॥

यः। नः। इन्दुः। पितरः। हृत्ऽसु। पीतः। अमर्त्यः। मर्त्यान्। आऽविवेश। तस्मै। सोमाय। हविषा। विधेम। मृळीके। अस्य। सुऽमतौ। स्याम॥

अनु०—हे पितरो (पितरः)! हमारे हृदयों में पीया गया (नः हृत्सु पीतः) जो अमर (अमर्त्यः) सोमरस (इन्दुः) हम मरणशील मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया है (मर्त्यान् आविवेश), उस सोम के लिये हम हविः के द्वारा पूजा करें (हविषा विधेम)। हम इस की दया में (मृळीके) तथा कल्याणमयी बुद्धि में रहें (सुमतौ स्याम)।

टि०—पितरः=सं०; ऋ० में पितरों को सोमप्रिय कहा गया है; तु०—ऋचा १३ तथा ऋ० ६, ७५, १०; १० १४, ६ सोम्यासः। मृळीके=दे०—ऋ० १, २५, ३ पर टि०।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद के आदि में अमर्त्यो के आदि अ का उच्चारण अपेक्षित है और अमर्त्यो, मर्त्यां तथा स्याम के स्थान पर क्रमशः अमर्तिओ, मर्तियाँ तथा सिआम उच्चारण का सुझाव है।

१३. त्वं सोम पितृभिः संविदानो ऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

त्वम्। सोम। पितृऽभिः। सम्ऽविदानः। अनु। द्यावापृथिवी इति। आ। ततन्थ। तस्मै। ते। इन्दो इति। हविषा। विधेम। वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्॥

वे० वि०—२९

परतः = परगामी अर्यमा (हस्तलिखित)

अनु०—हे सोम ! पितरों के साथ (**पितृभिः**) संयुक्त होता हुआ (**संविदानः**) तू द्युलोक तथा पृथिवीलोक में फैल गया है (**द्यावापृथिवी अनु आ ततन्थ**)। हे इन्दो ! तुझ ऐसे (**देवता**) के लिये (**तस्मै ते**) हम हविः के द्वारा पूजा करें। हम धनों के स्वामी बनें।

विशेष :—ग्रि० के मतानुसार यहाँ पर **सोम** से "चन्द्रमा" अभिप्रेत है जो पितृगण से सम्बद्ध माना जाता है; तु०—अ० १८, ४, ७२।

टि०—**पितृभिः संविदानः** = वें०, सा० "पितृभिः सह संगच्छमानः"। सम्+√विद् "पाना"+शानच् से इसकी व्युत्पत्ति मानते हुए ग्रा०, मै०, ग्रि० आदि विद्वान् **संविदानः** का अर्थ "संयुक्त होता हुआ" करते हैं, जबकि गै० तथा वेलंकर "सहमत होता हुआ" अर्थ करते हैं। सा० ने अन्यत्र सम्+√विद् "जानना"+शानच् से **संविदानः** की व्युत्पत्ति मानते हुए इसका अर्थ "परस्परमैकमत्यं प्राप्तः" या "संजानानः" किया है; तु०—ऋ० ३, ५४, ६; ६, ७५, ४; ७, ४४, ४; १०, १४, ४; ६७, १४; १६२, १ ; १६९, ४ । वैदिक प्रयोग को ध्यान में रखते हुए **संविदानः** को √विद् "पाना" का शानजन्त रूप मानना अधिक समीचीन है और "संयुक्त होता हुआ" व्याख्यान अधिक उपयुक्त है, यद्यपि "सहमत होता हुआ" का भावार्थ भी अनेक मन्त्रों में उपयुक्त प्रतीत होता है। **द्यावापृथिवी अनु आ ततन्थ**=सा० "द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अनु आ ततन्थ क्रमेण विस्तारयसि"। गै०, ग्रि० तथा मै० इस पाद का व्याख्यान करते हैं—"तू ने द्युलोक तथा पृथिवीलोक में अपने आप को फैला दिया है" और यहां पर **आ ततन्थ** (√तन्+लिट् म० पु० ए०) का यही अर्थ उचित है; तु०—ऋ० १, १९, ८ में **आ तन्वन्ति**। इस ऋचा का चतुर्थ पाद ऋ० ४, ५०, ६ के चतुर्थ पाद के समान है।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, छन्दःपरिणाम की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा द्वितीय पाद के आदि में **अनु** के **अ** का उच्चारण अपेक्षित है और **त्वं** तथा **स्याम** के स्थान पर क्रमशः **तुअं** तथा **सिआम** उच्चारण का सुझाव है।

१४. त्रातारो देवा अधि वोचता नो	त्रातारः। देवाः। अधि। वोचत। नः।
मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।	मा। नः। निऽद्रा। ईशत। मा। उत। जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः	वयम्। सोमस्य। विश्वह। प्रियासः।
सुवीरासो विदथमा वदेम॥	सुऽवीरासः। विदथम्। आ। वदेम॥

अनु०—हे रक्षक देवताओ (त्रातारो देवाः) ! तुम हमारे पक्ष में बोलो। निद्रा तथा व्यर्थ बात-चीत अर्थात् गप्प-शप्प (जल्पिः) हमें अपने अधीन न करे (नः मा ईशत)। हे सोम ! हम सदा (विश्वह) तुम्हारे प्रिय होते हुए और अच्छे वीर पुत्रों से सम्पन्न होते हुए (सुवीरासः) धार्मिक उत्सव की सभा को (विदथम्) सम्बोधित करें (आ वदेम)।

टि०—त्रातारो देवाः=दोनों सम्बोधनों को स्वर की दृष्टि से एक इकाई मानकर आदि अक्षर पर उदात्त है (वैं० व्या० ४१२); तु० ऋचा ७। अधि वोचत=दे०—ऋ० ७, ८३, २ पर टि०। मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः=वें० "मा अस्माकम् निद्रा स्वप्नः ईशिष्ट, मा च जल्पिः", सा० "नः अस्मान् निद्राः स्वप्नाः मा ईशत ईश्वरा मा भूवन् बाधितुम्। उत अपि च जल्पिः निन्दकः अस्मान् मा निन्दतु"। पपा० के विरुद्ध सा० निद्राः बहुवचनान्त पाठ मानते हुए व्याख्यान करता है और तदनुसार ईशत को भी बहुवचन का रूप समझता है। मै० और, उसी का अनुसरण करते हुए, वैं० प० को० एकवचनान्त निद्राः पाठ का सुझाव देते हैं। वें० की भांति ग्रा० तथा गै० आदि विद्वान् पपा० को प्रामाणिक मानते हैं और यही मत समीचीन है। ग्रा० जल्पिः का अर्थ "low speech, whisper", गै० "senseless speech", और ग्रि० तथा मै० "idle talk" करते हैं। ऋ० १०, ८२, ७ के प्रयोग तथा प्रसंग को ध्यान में रखते हुए जल्पिः का अर्थ "व्यर्थ बातचीत" अर्थात् गप्प-शप्प प्रतीत होता है। ईशत ब० का रूप नहीं है, अपितु √ईश्+लेट् प्र० पु० ए० का रूप है जैसा कि ग्रा०, गै०, मै० आदि मानते हैं; तु०—ऋ० १, २३, ९; ३६, १६। वयं "सुवीरासो इत्यादि चतुर्थ पाद=ऋ० २, १२, १५।

१५. त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्	त्वम्। नः। सोम। विश्वतः। वयःऽधाः।
त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः।	त्वम्। स्वःऽवित्। आ। विश। नृऽचक्षाः।
त्वं न इन्द ऊतिभिः सजोषाः	त्वम्। नः। इन्दो इति। ऊतिऽभिः। सऽजोषाः।
पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात्॥	पाहि। पश्चातात्। उत। वा। पुरस्तात्॥

अनु०—हे सोम ! तुम सब ओर से (विश्वतः) हमारे अन्न-दाता हो (वयोधाः)। स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले (स्वर्विद्) तथा मनुष्यों के द्रष्टा (नृचक्षाः) होते हुए तुम हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाओ (आ विश)। हे इन्दो !

अपनी सहायताओं के साथ (ऊतिभिः) प्रीतिपूर्वक संयुक्त होते हुए (सजोषाः) तुम पीछे से (पश्चातात्) तथा आगे से (पुरस्तात्) हमारी रक्षा करो (नः पाहि)।

टि०—वयोधाः = वें, सा० "अन्नदाता"। ग्रा० इसका अर्थ "जीवन-शक्तिदाता", गै० "शक्तिदाता", ग्रि० "life-giver" और मै० "giver of strength" करता है। वयस् शब्द का "अन्न" अर्थ ही अधिक उचित है (तु०—ऋचा १ तथा २, ३३, ६ पर टि०), अत एव वयोधाः का शब्दिक अर्थ "अन्नदाता" है और इस का भावार्थ "पौष्टिक तत्त्व प्रदान करने वाला" हो सकता है। स्वर्विद्=वें० "सर्ववित्", सा० "स्वर्गलम्भकः"। ग्रा०, ग्रि० तथा मै० इसका अर्थ "finder of light" करते हैं, जबकि गै० "finder of heavenly light" करता है। ऋ० में स्वर् "सूर्य" (३, ६१, ४) तथा "द्युलोक" या "स्वर्ग" (५, ८३, ४; ७, ८३, २) के लिये प्रयुक्त होता है। अत एव यहां पर सा० का व्याख्यान समीचीन है। यहां पर विद् णिजन्त रूप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

छ०—ग्रा० तथा मै० छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये त्वं के स्थान पर तुअं और स्वर्विद् के स्थान पर सुअर्विद् उच्चारण का सुझाव देते हैं।

ऋ. १०, ३४ (कितवः)

ऋषिः—कवष ऐलूषः, अक्षो मौजवान् वा। देवता—१, ७, ९, १२ अक्षाः; १३ कृषिः; २-६, ८, १०, ११, १४ अक्ष—कितव—निन्दा। छन्दः—१-६, ८-१४ त्रिष्टुप्; ७ जगती।

१. प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति	प्रावेपाः। मा। बृहतः। मादयन्ति।
प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।	प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो	सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः।
विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥	विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान्॥

अनु०—विशाल (मन) को हिला देने वाले (बृहतः प्रावेपाः), खुली हवा में उत्पन्न (प्रवातेजाः), तथा (द्यूतक्रीडा की) छोटी खाई में (इरिणे) विद्यमान (वर्वृतानाः) पासे मुझे मस्त करते हैं (मा मादयन्ति)। जागृत रखने वाले अर्थात् नींद उड़ाने वाले (जागृविः), बहेड़े के फल (विभीदकः) अर्थात् पासे ने, मूजवत् पर्वत पर उत्पन्न (मौजवतस्य) सोम के पान की तरह, मुझे आह्लादित किया है (अच्छान्)।

टि०—प्रावेपाः=यास्क (९, ८) "प्रवेपिणः", दु० "प्रकर्षेण वेपनशीलस्य वृक्षस्य जाताः", उद्गीथ "प्रवेपिणः प्रकम्पनशीलाः अक्षाः", वें० "प्रवेपिणः", सा० "प्रवेपिणः कम्पनशीलाः अक्षाः"। पपा० ने इसमें अवग्रह नहीं दिखाया है जिससे अनुमान होता है कि इस की व्युत्पत्ति के विषय में सन्देह था। ग्रा०, ग्रि०, मै० प्रभृति अधिकतर आधुनिक विद्वान् सा० के "कम्पनशीलाः" व्याख्यान का अनुसरण करते हुए इसका अनुवाद करते हैं। परन्तु गै० इसका अर्थ "कर्ण-कुण्डल" करता है जो ग्राह्य नहीं है। गै० का अनुसरण करते हुए, वेलंकर ने इसका अनुवाद "कर्णफूल" किया है। प्रावेपाः को अकर्मक प्रयोग ("कम्पनशीलाः") न मानकर इसे प्र+विप् का प्रेरणार्थक णिजन्त प्रयोग ("प्रवेपिणः") मानना अधिक समीचीन है और तदनुसार इसका अर्थ है "चलायमान करने वाले, हिला देने वाले"; तु०—ऋ० १, ३९, ५ तथा ३, २६, ४ में प्रवेपयन्ति पर्वतान्। बृहतः=यास्क (९, ८) "महतो विभीदकस्य फलानि", उद्गीथ "महतः विभीतकस्य सम्बन्धिनः फलत्वेन,

फलानीत्यर्थः", वें० "महतः विभीतकस्य फलानि", सा० "महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिनः"। प्राचीन भाष्यकारों का अनुसरण करते हुए ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् बृहतः को "विभीतक वृक्ष" का वि० मानकर व्याख्यान करते हैं। परन्तु इस परम्परागत व्याख्यान को स्वीकार करने में प्रमुख कठिनाई यह है कि विभीतक नामक वृक्ष न तो बहुत अधिक बड़ा है और न ही ऋ० आदि में इस वृक्ष के लिये बृहत् वि० का प्रयोग अन्यत्र मिलता है; और प्रावेपाः के साथ इस अर्थ की विशेष संगति नहीं बैठती है। विल्सन ने बृहतः को अक्षाः का वि० मानकर "large" अनुवाद किया है, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से इसमें कठिनाई है (वै० व्या० १२५)। ऋ० ५, ३६, ३ में मनः के लिये बृहत् वि० का प्रयोग हुआ है। अतएव यदि यहां पर बृहतः के साथ मनसः का अध्याहार करते हुए उसे प्रावेपाः से अन्वित माना जाय, तो अर्थ होगा "विशाल मन को हिला देने वाले" (पासे)। प्रवातेजाः=यास्क (६, ८) "प्रवणेजाः", दु० "प्रचुरवाते स्थाने काले वा जाताः, प्रावृट्काले पक्वानां वा प्रचुरवाते काले पतनाभिप्रायं जन्म", उद्गीथ० "प्रवरवाते काले वर्षासु प्रवणे वा प्रदेशे जाताः", वें० तथा सा० "प्रवणे देशे जाताः"। ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् पपा० के अनुसार इसका शाब्दिक अर्थ करते हैं—ग्रा० तथा रैनू "born in open wind", गै० "born in storm-wind" मै० "born in a windy place." यही व्याख्यान समीचीन प्रतीत होता है और इरिणे वर्वृतानाः के साथ विरोध दिखाने के लिये प्रवातेजाः "खुली हवा में उत्पन्न' वि० का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इरिणे वर्वृतानाः=यास्क (६, ८)' "इरिणे वर्तमानाः। इरिणं निर्ऋणम्। ऋणातेः। अपार्णं भवति। अपरता अस्मादोषधय इति वा", दु० "निर्गतर्णे आस्फुरकस्थाने वर्तमानाः, न हि तत्र पुत्रपौत्रानुगमृणं भवति। 'अपार्णं' वा, उपसर्गस्यान्यत्वमेव केवलम्, अथवा 'अपार्णम्' अपगतोदकम्", उद्गीथ० "आस्फारे वर्तमानाः", वें० "इरिणे वर्तमानाः। इरिणो नूनमधिदेवनं भवति", सा० "आस्फारे प्रवर्तमानाः"। मो०, मै०, पिशल आदि आधुनिक विद्वान् इरिणे का अर्थ "on the dice-board" करते हैं। परन्तु इरिण शब्द के वैदिक प्रयोगों से इस मत का समर्थन नहीं होता है, क्योंकि ऋ० १, १८६, ६; ८, ४, ३; ८७, १. ४ तथा अ० ४, १५, १२ में इरिण शब्द के जो प्रयोग उपलब्ध होते हैं उन से अनुमान होता है कि इरिण शब्द साधारणतया "नाला" या "जलमार्ग" के अर्थ में प्रयुक्त होता था। अत एव इस ऋचा तथा नवमी ऋचा में प्रयुक्त इरिण शब्द का अर्थ ग्रा० (कोष) ने "streamlet" और गै० ने "channel" किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्यूतक्रीडा के लिये छोटी नाली के आकार की एक खाई सी बना ली जाती थी जिसमें पासे फेंके जाते थे; तु०—ऋचा ९ में इरिणे न्युप्ताः; Ved. Index I, p. 4. दु० के "आस्फुरकस्थाने" और उद्गीथ० तथा सा० के "आस्फारे" व्याख्यान से भी "dice-board" का अर्थ नहीं निकलता है। वर्वृतानाः = √वृत् + यङ्-लुक्+शानच्। जागृविः=दु० "जागरणकर्ता, यो जयति स हर्षेण जागर्ति, योऽपि जीयते स दुःखेन जागर्ति", उद्गीथ०

"विजयपराजययोः हर्षशोकाभ्यां जागरणस्य कर्ता", वें० "जागरणस्य कर्ता कितवस्य", सा० "जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्ता"। भाष्यकारों के समान गै० भी इसका अर्थ "जागृत रखने वाला" करता है और प्रसंगानुसार यही अर्थ समीचीन है, जबकि ग्रा० तथा ग्रि० "जागरूक" और मै० "enlivening" और रैनू "lively" अर्थ करता है। अच्छान्=√छन्द् "आह्लादित करना"+अनिट्-सिज्लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २७५ ख)। विभीदकः=उद्गीथ० "विभीदकविकारः", वें० "विभीतकः", सा० "विभीदकविकारोऽक्षः", दे०—ऋ० ७, ८६, ६ पर टि०।

२. न मा मिमेथ न जिहीळ एषा । न । मा । मिमेथ । न । जिहीळे । एषा ।
शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् । शिवा । सखिऽभ्यः । उत । मह्यम् । आसीत् ।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोर् अक्षस्य । अहम् । एकऽपरस्य । हेतोः ।
अनुव्रतामप जायामरोधम् ॥ अनुऽव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥

अनु०—यह (एषा) अर्थात् मेरी पत्नी न मुझे कोसती थी (मा मिमेथ) और न प्रतिकूल होती थी (जिहीळे)। यह मेरे मित्रों के लिये तथा मेरे लिये कल्याणकारिणी थी (शिवा आसीत्)। एकमात्र प्रधान (एकपरस्य) पासे (अक्षस्य) अर्थात् केवल द्यूतकर्म के निमित्त से (हेतोः) मैंने अनुकूल आचरण वाली (अनुव्रताम्) पत्नी को (जायाम्) बाहिर निकाल दिया है (अप अरोधम्)।

टि०—इस ऋचा में जुआरी अपनी पत्नी के विषय में कहता है। मिमेथ= √मिथ्+लिट् प्र० पु० ए०; उद्गीथ० "आक्रुष्टवती", वें० "आक्रुष्टवती, चुक्रोध" सा० "चुक्रोध"। गै० तथा मै० (V. R.) यहां पर √मिथ् धातु का अर्थ "scold" करते हैं, जबकि ग्रि० "तंग करना" और मै० (M. H. R.) तथा रैनू "झगड़ा करना" करते हैं। यास्क (४, २) कहता है "मेथतिराक्रोशकर्मा" और इस पर दु० का व्याख्यान है—'चतस्रः पत्नयोऽश्वमभिमेथन्ति' इति प्रसिद्धमश्वमेधे मेथतेराक्रोशत्वम्। लोकेऽपि च 'शालो मेथनकः' इत्युच्यते, स ह्यभीक्ष्णमाक्रुश्यते, आक्रोशति च सः"। वैदिक प्रयोगों के विवेचन से √मिथ् का अर्थ "सम्मुख निन्दा करना" या "कोसना" प्रतीत होता है; तु० ऋ० १, ४२, १०; ११३, ३; ६, २५, २; ७, ९३, ५; ८, ४५, ३७; श० ब्रा० १३, ५, २, ३-८। जिहीळे=√हीड् "प्रतिकूल होना" (दे०—ऋ० १, २५, २ के

जिह्मीळानस्य पर टि०)+लिट् प्र० पु० एं० ग्रा०। **अक्षस्य एकपरस्य हेतोः**=उद्गीथ० "एकः परः प्रधानो यस्य स एकपरः तस्य एकपरस्य पराजयप्रधानस्येत्यर्थः, अथवा एककृतायप्रधानस्य हेतोः कारणाद् अक्षकृतद्यूतेन निमित्तेनेत्यर्थः", वें० "यः परपुरुषं तत् प्रवणं करोति स तथोक्तः, तस्य हेतोः"; सा० "एकः परः प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतोः कारणात्"। आधुनिक विद्वानों में भी इस समास के व्याख्यान के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। गै०, मै०, आदि विद्वानों का मत है कि इस समासपद से उस काल की द्यूतपद्धति का परिचय मिलता है जिसके अनुसार, फेंके गये पासों को चार से विभाजित किया जाता था—चार पर पूर्णतया विभाजित हो जाने पर **कृत** कहलाता था जिससे पासे फेंकने वाले कितव की विजय होती थी, परन्तु चार से विभाजन के पश्चात् एक शेष रहने पर **कलि** कहलाता था जिससे कितव हार जाता था। इन विद्वानों के अनुसार वर्तमान समास **कलि** का वर्णन करता है। अत एव मै० तथा गै० इन पदों का अनुवाद "For the sake of a die too high by one" करते हैं। रैनू भी इसी मत को स्वीकार करता है। परन्तु ग्रि० इन पदों का अनुवाद "For the die's sake, whose single point is final" करता है और पादस्थ टि० में व्याख्यान करता है—"the speaker has apparently lost all by throwing aces." ग्रि० का यह व्याख्यान काल्पनिक है। मो० ने एकपर के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं—"of singular importance, more important than any other, first of all (said of dice), RV. X, 34, 2." विल्सन ने इन पदों का अनुवाद "for the one or other die" किया है। गै० तथा मै० ने जो व्याख्यान किया है उसके लिये ऋ० में कोई आधार नहीं है और विल्सन का व्याख्यान व्याकरण की दृष्टि से भी अग्राह्य है। गै०, मै० आदि की यह युक्ति ग्राह्य है कि सा०, रोट, ग्रा० प्रभृति के व्याख्यान के अनुसार एकपरस्य में बस० मानना स्वर की दृष्टि से अनुचित है। वास्तव में इसमें कर्मधारय समास है (एकश्चासौ परश्च), जैसाकि ऋ० १०, १०३, १ के **एकवीरः** में। इस समास का पूर्वपद **एक** "अकेला" या "एकमात्र" का वाचक है और उत्तरपद **पर** "प्रधान", "उत्तम", या "सर्वोपरि" का वाचक है; तु०—ऋ० ३, ५४, ५; १०, ५, २; ११४, २। **अनुव्रताम्**=उद्गीथ० "अनुगतकर्माणम् अनुकूलामित्यर्थः", सा० "अनुकूलाम्"। ग्रा० (कोष) ने इसका अर्थ "acting according to his command, obedient, devoted", गै० तथा रैनू ने "faithful" और ग्रि० तथा मै० ने "devoted" किया है। यह बस० है और इसका "अनुकूल कर्म या आचरण करने वाली" अर्थ समीचीन है; तु०—ऋ० १, ३४, ४; ५१, ९; ८, १३ १९; अ० ३, २५, ४; ३०, २। **अप अरोधम्**=√रुध्+विकरणलुग्लुङ् उ० पु० ए०; उद्गीथ० "अपरोधितवान् अस्मि, वित्तनाशेन दुःखितां कृतवानित्यर्थः", वें० "परित्यक्तवान्", सा० "परित्यक्तवानस्मीत्यर्थः"। इसका अर्थ ग्रा० ने "I have repudiated", मै० तथा रैनू ने "I have pushed away", ग्रि० ने "I alienated", मै० ने "I have driven away" और वेलंकर ने "मैं तिरस्कृत करता आया हूँ" किया है। ऋचा ३ के **अप रुणद्धि**, अ० १८, २, २७

के अप अरुधन् तथा अन्य वैदिक प्रयोगों से स्पष्ट है कि अप+√रुध् का "बाहिर निकालना" अर्थ समीचीन है।

३. द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि द्वेष्टि। श्वश्रूः। अप। जाया। रुणद्धि।
न नाथितो विन्दते मर्डितारम्। न। नाथितः। विन्दते। मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य अश्वस्यऽइव। जरतः। वस्न्यस्य।
नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम्॥

अनु०—सास (श्वश्रूः) घृणा करती है (द्वेष्टि)। पत्नी बाहिर निकालती है (अप रुणद्धि)। संकटग्रस्त (नाथितः) (जुआरी) उस पर दया करने वाले किसी मनुष्य को (मर्डितारम्) नहीं पाता है (न विन्दते)। मूल्यवान् (वस्न्यस्य) बूढ़े (जरतः) घोड़े की तरह (अश्वस्यऽइव) जुआरी का (कितवस्य) कोई उपयोग (भोगम्) मैं नहीं पाता हूं (नाहं विन्दामि)।

टि०—इस ऋचा में जुआरी अपने सम्बन्ध में कहता है। अप रुणद्धि= दे०—ऋचा २ में अप अरोधम्। नाथितः=उद्गीथ० "ऋणमोक्षार्थं वृत्त्यर्थं च धनं याचमानः, उपतप्तो वा क्षुधा कितवैर्वा सम्पीडित इत्यर्थः", वें० तथा सा० "याचमानः"। उद्गीथ० के द्वितीय अर्थ "उपतप्तः" का अनुसरण करते हुए ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "the man in distress" करते हैं और यही अर्थ समीचीन है; तु०—ऋ० ७, ३३, ५; अ० ४, २३, ७। वस्न्यस्य=उद्गीथ० "वस्नं मूल्यं तदर्हस्य वाहनभोगं दौर्बल्यभयात् न लभते स्वामी", वें० "विक्रेतव्यस्य वस्नं मूल्यं तदर्हस्य", सा० "वस्नं मूल्यं तदर्हस्य"। वें० के "विक्रेतव्यस्य" व्याख्यान के समान, ग्रा०, गै०, मै० तथा रैनू इसका अर्थ "that is for sale" करते हैं, जबकि वेलंकर "मूल्य कम करने योग्य", ग्रि० "costly" और मो० "precious, valuable" व्याख्यान करता है। वस्न शब्द निःसन्देह "मूल्य" का वाचक है और तद्धित प्रत्यय यत् जोड़ने से वस्न्य रूप बनता है। यहां पर वस्न्य का "मूल्यवान्" (costly) अर्थ प्रसंगानुसार अधिक समीचीन है। कितवस्य भोगम्=उद्गीथ० "द्यूतकरस्य भोगम् कुटुम्बभरणभोगम्"। ग्रा०, गै० तथा मै० भोगम् का अर्थ "use" करते हैं और प्रसंगानुसार यह व्याख्यान समीचीन है।

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये वस्न्यस्य के स्थान पर वस्निअस्य उच्चारण अपेक्षित है।

४. अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य	अन्ये । जायाम् । परि । मृशन्ति । अस्य ।
यस्यागृधद्वेदने वाज्य१क्षः ।	यस्य । अगृधत् । वेदने । वाजी । अक्षः ।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्	पिता । माता । भ्रातरः । एनम् । आहुः ।
न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥	न । जानीमः । नयत । बद्धम् । एतम् ॥

अनु०—जिसकी सम्पत्ति के निमित (**यस्य वेदने**) बलवान् (**वाजी**) पासे ने (**अक्षः**) लोभ किया है (**अगृधत्**), उस (जुआरी) की पत्नी पर दूसरे लोग (**अन्ये**) हाथ डालते हैं (**परि मृशन्ति**)। पिता, माता तथा भाई इसके विषय में कहते हैं (**एनम् आहुः**)—"हम इसे नहीं जानते हैं (**न जानीमः**)। इसे बाँधकर ले जाओ (**बद्धं नयत**)।"

टि०—**परि मृशन्ति**=उद्गीथ० "संस्पृशन्ति, हस्तवस्त्रगलकेशान् गृहीत्वा आकर्षन्तीत्यर्थः, द्रौपदीमिव दुःशासनः" सा० "वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति"। इसका अर्थ ग्रा० तथा मै० "embrace", गै० "lay hands on", ग्रि० "caress" तथा वेलंकर "प्रधर्षण करते हैं" करता है। अन्य वैदिक प्रयोगों के अनुसार प्र+√मृश् का अर्थ "पकड़ना, हाथ डालना, ग्रहण करना" प्रतीत होता है; तु०—ऋ० ८, ९, ३; ४१, ७; ६, २०, ३ । **अगृधत्** = √गृध् "लोभ करना"+अङ्लुङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६८)। **वेदने**=वें० तथा सा० "धने", उद्गीथ० "वेदने विदिर्लभि। विन्दते लभते धनमस्मिन् कितवः इति वेदनम् आस्फारकम्, तस्मिन् धनलम्भने आस्फारे"। ग्रा०, गै० तथा मै० इसका अर्थ "possessions" करते हैं जबकि ग्रि० तथा रैनू "धन" अर्थ को स्वीकार करते हैं। भावार्थ में विशेष अन्तर नहीं है, तथापि व्युत्पत्ति के अनुसार "सम्पत्ति" अर्थ अधिक समीचीन है। यहां पर निमित्त से अधिकरण कारक में सप्तमी है (वै० व्या० ३८४ क)। **वाजी**=उद्गीथ० "वेजनवान् वेगवान् लुण्ठनशील इत्यर्थः", वें० तथा सा० "बलवान्"। इसका अर्थ ग्रा० तथा ग्रि० "वेगवान्", गै०, रैनू तथा मै० "victorious" और वेलंकर "महापराक्रमी" करता है। **वाज** शब्द "वेग" के अतिरिक्त "बल" के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और प्रसंगानुसार यहां पर "बलवान्" अर्थ अधिक समीचीन है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा **मृशन्ति अस्य** तथा **वाजी अक्षः** उच्चारण अपेक्षित है।

५. यदादीध्ये न दविषाण्येभिः — यत् । आऽदीध्यै । न । दविषाणि । एभिः ।
परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः । — परायत्ऽभ्यः । अव । हीये । सखिऽभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ — निऽउप्ताः । च । बभ्रवः । वाचम् । अक्रत ।
एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ — एमि । इत् । एषाम् । निःऽकृतम् । जारिणीऽइव ॥

अनु०—जब (यत्) मैं यह विचार करता हूँ (**आदीध्ये**)—"इन (पासों) के कारण (**एभिः**) मैं (मानसिक संताप से) नहीं जलूँगा (**न दविषाणि**)", मैं दूर जाते हुए (**परायद्भ्यः**) साथियों से (**सखिभ्यः**) अर्थात् अन्य जुआरियों से पीछे रह जाता हूँ (**अव हीये**)। द्यूतकर्म की छोटी खाई में फेंके गये (**न्युप्ताः**) भूरे रंग के पासों ने (**बभ्रवः**) ज्यों ही आवाज़ की है (**वाचम् अक्रत**), काम के वशीभूत स्त्री की तरह (**जारिणीऽइव**) मैं उनके निश्चित स्थान पर (**निष्कृतम्**) चला ही जाता हूं (**एमि इत्**)।

टि०—**आदीध्ये**=√धी "ध्यान करना"+जु० लट् उ० पु० ए० आ० (वै० व्या० २४०.५); यद् के योग से सोदात्त है। **न दविषाणि**=उद्गीथ० "पुनर्नदेविष्यामि", वें० "न दूषये", सा० "न दूषये न परितपामि। यद्वा। न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः"। **दविषाणि** के धातु तथा अर्थ के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं; दे०—तृ० व्या० सप्तम अध्याय की टि० ३०६। ग्रा०, गै०, ग्रि०, रैनू, वेलंकर प्रभृति विद्वान् इसे √दिव् "जूआ खेलना" का लेट् उ० पु० ए० का रूप मानते हैं (ग्रा० ने कोष में देविषाणि संशोधन सुझाया है), जबकि ह्विटने (Roots), मो०, मै० आदि इसे √दु "जाना" का लेट् का रूप मानते हैं। प्रसंगानुसार प्रथम व्याख्यान उचित लगता है, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से √दू "परितापे" से इसकी सिद्धि करना अधिक समीचीन है और √दू के वैदिक प्रयोग भी मिलते हैं (तु०—**दूयते** खि० ७, ७, २; **दाव** अ० ७, ४७, १; १९, २६, १५; २०, १३६, ८; **दून** अ० २, ३१, ३), जबकि √दु "जाना" का वैदिक प्रयोग सन्दिग्ध है। **एभिः**=उद्गीथ०, वें० तथा सा० "अक्षैः"; **दविषाणि** में √दिव् धातु मानने वाले ग्रा० आदि विद्वान् भी **एभिः** के सा० आदि के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं जो समीचीन है। परन्तु √दु "जाना" धातु मानने वाले मै० आदि विद्वान् **एभिः** का अर्थ "इन जुआरियों के साथ" करते हैं। करण कारक होने से **एभिः** में तृतीया विभक्ति आई है। **अव हीये** = √हा "छोड़ना"+कवा० उ० पु० ए० (वै० व्या० ३१२, १); उद्गीथ० "अवगच्छामि अपसर्पामीत्यर्थः", सा०

तथा वें० "अवहितः भवामि, नाहं प्रथममक्षान्विसृजामि इति"। ग्रा०, गै०, ग्रि०, रैनू, वेलंकर प्रभृति विद्वान् इसका अर्थ "मैं पीछे रह जाता हूं या छोड़ दिया जाता हूं" करते हैं जो वैदिक प्रयोग के अनुसार समीचीन है; तु०–का० सं० २६, ६। मै० ने इसका जो अनुवाद "I shall be left behind" (V. R., p. 189) किया है उसमें भविष्यत् के अर्थ के लिये कोई औचित्य नहीं है। न्युप्ताः=नि + √वप्+क्त; अर्थात् "जुआरियों द्वारा द्यूतकर्म के इरिण (खाई) में फेंके गये"; तु० ऋचा ६। बभ्रवः="भूरे रंग के पासे"। अक्रत=√कृ+विकरण-लुग्-लुङ् प्र० पु० ब० आ० (वै० व्या० २६५ ख); अक्रतं की पदान्तीय सन्धि के लिये दे०—वै० व्या० ३६ ख। निष्कृतम् = वें० तथा सा० "स्थानम्"। ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० (M. H. R.) तथा रैनू इसका अर्थ "meeting-place" करते हैं, और मै० (V. R.) "place of assignation" करता है। इसका अर्थ "निश्चित स्थान" उपयुक्त है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा हविषाणि एभिः तथा निउप्ताः उच्चारण अपेक्षित है।

६. सभामेति कितवः पृच्छमानो	सभाम्। एति। कितवः। पृच्छमानः।
जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः।	जेष्यामि। इति। तन्वा। शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं	अक्षासः। अस्य। वि। तिरन्ति। कामम्।
प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि॥	प्रतिऽदीव्ने। दधतः। आ। कृतानि॥

अनु०—"आज मैं अवश्य जीतूँगा"—(इस आशा के कारण) अपने आप (तन्वा) फूलता हुआ (शूशुजानः) जुआरी (कितवः) स्वयं पूछता हुआ (पृच्छमानः) द्यूतसभा में जाता है (सभामेति)। विरोधी जुआरी को (प्रतिदीव्ने) विजयशील दांव (कृतानि) प्रदान करते हुए (आ दधतः) पासे (अक्षसः) इस (जुआरी) की इच्छा को (कामम्) नष्ट करते हैं (वि तिरन्ति)।

टि०—तन्वा शूशुजानः = उद्गीथ० "तन्वा शरीरेण शूशुजानः शुचेरेव चकारस्यायं जकारः छान्दसः। शोशुचानः दीप्यमानश्चेत्यर्थः", वें० "शरीरेण दीप्यमानः", सा० "तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानः दीप्यमानः"। भाष्यकारों के "शोशुचानः" व्याख्यान का अनुसरण करते हुए विल्सन "radiant in person" और ग्रि०

"his body all afire" अनुवाद करता है, जबकि लुड्विग इसके पाठ में **शूशुचानः** संशोधन सुझाता है। परन्तु इसे √**शुज्** का कानजन्त रूप मानते हुए (वै० व्या० ३३२ग० विशेष), रोट, ह्विटने (Roots), ग्रा० (कोष), गै०, मो०, रैनू प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "(जीतने की आशा से) अपने-आप (**तन्वा**) फूलता हुआ (**शूशुजानः**)" करते हैं (तु०—हिन्दी में "सूजता हुआ"), जबकि मै० (V. R.) इन पदों का अनुवाद "trembling with his body" करता है। ऋ० १०, २७, २ में भी **तन्वा शूशुजानान्** प्रयोग मिलता है जिसका व्याख्यान वें० "शरीरेण वा साधून् बाधमानान्। शुजिः हिंसाकर्मा", उद्गीथ० "**तन्वा** स्वशरीरेण **शूशुजानान्** शुचेश्चकारस्य जकारश्छान्दसः। शोशुचानान् आत्मम्भरित्वात् पुष्ट्या दीप्त्या च युक्तान् पुष्टानित्यर्थः", सा० "**तन्वा** स्वशरीरेण **शूशुजानान्** आत्मम्भरित्वात् पुष्टिलक्षणया दीप्त्या युक्तान्। पुष्टानित्यर्थः" करता है। यद्यपि **शूशुजानः** का अर्थ पूर्णतया निश्चित नहीं है, तथापि "फूलता हुआ" व्याख्यान अन्य व्याख्यानों से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **पृच्छमानः जेष्यामि इति**=वें० "पृच्छन् किमत्र अस्ति शक्तः इति जेष्यामि इति", उद्गीथ० "**पृच्छमानः** हे कितव ! अस्ति परिपणितव्यमिति पृच्छन्नित्यर्थः। केन अभिप्रायेण? अवश्यम् अद्याऽहं जेष्यामि इति अनेनाभिप्रायेण", सा० "कोऽत्रास्ति धनिकस्तं **जेष्यामि इति पृच्छमानः** पृच्छन्"। विल्सन, ग्रि० तथा मै० प्रभृति विद्वान् इन पदों का व्याख्यान करते हैं "asking himself 'Shall I win?'", जबकि गै०, रैनू प्रभृति विद्वान् **पृच्छमानः** "अपने आप पूछता हुआ" को **सभामेति** से अन्वित करते हैं और **जेष्यामि इति** "आज मैं अवश्य जीतूंगा" (इस आशा के साथ) को **तन्वा शूशुजानः** के साथ अन्वित करते हुए व्याख्यान करते हैं जो प्रसंगानुसार अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **वि तिरन्ति**= उद्गीथ० "विविधं हिंसन्ति", वें० तथा सा० "वर्धयन्ति"। विल्सन, ग्रा० तथा ग्रि० आदि वें० तथा सा० के व्याख्यान का अनुसरण करते हैं, जबकि गै०, मै०, रैनू तथा वेलंकर प्रभृति विद्वान् उद्गीथ० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं। यद्यपि अनेक वैदिक प्रयोगों में वि+√तॄ का अर्थ "बढ़ाना" है, तथापि ऋ० १०, ५४, ५ के **काममिन्मे मघवन्मा वि तारीः** में इसका प्रयोग "इच्छा को नष्ट करना" अर्थ में हुआ है और प्रसंगानुसार यहां पर भी ऐसा ही अर्थ समीचीन है। **प्रतिदीव्ने** = **प्रतिदीवन्** "विरोधी जुआरी" का च० ए० (वै० व्या० १३२ क)। **आ दधतः**=**दधत्** का प्रथ० ब० (वै० व्या० १२५); **अक्षासः** का वि०। **कृतानि**=उद्गीथ० "पराजयहेतून् कृतद्वापरादीनित्यर्थः" वें० "प्रतिदेवित्रे तज्जयार्थम् आभिमुख्येन **कृतानि दधतः**। कृतेषु ह्यानिहितेषु भवति जयः", सा० "देवनोपयुक्तानि कर्माणि"। गै०, रैनू, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् इसका व्याख्यान "winning throws" करते हैं और प्रसंगानुसार यह व्याख्यान समीचीन है; दे०—Ved. Index, I, p. 3.

छ०—ग्रा० तथा मै० के मतानुसार, छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये **तन्वा** के स्थान पर **तनुआ** उच्चारण अपेक्षित है।

७. अक्षास इदंङ्कुशिनो नितोदिनो अक्षासः। इत्। अङ्कुशिनः। निऽतोदिनः।
निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः । निऽकृत्वानः । तपनाः। तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो कुमारऽदेष्णाः । जयतः। पुनःऽहनः।
मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥ मध्वा । सम्ऽपृक्ताः। कितवस्य। बर्हणा ॥

अनु०—पासे निःसन्देह (अक्षासः इत्) अङ्कुशयुक्त (अङ्कुशिनः), चीरते हुए अन्दर घुसने वाले (नितोदिनः), काटने वाले (निकृत्वानः), संतप्त करने वाले (तपनाः), संतापनशील (तापयिष्णवः), बच्चों की तरह देकर वापिस लेने वाले (कुमारदेष्णाः), और जीतने वालों को पुनः मारने वाले हैं (जयतः पुनर्हणः); तथापि जुआरी की महत्ता (या महती इच्छा) के कारण (कितवस्य बर्हणा) ये पासे मधु से (मध्वा) लिपटे हुए (संपृक्ताः) (प्रतीत होते हैं)।

टि०—नितोदिनः=उद्गीथ० "'तुद व्यथने'। हेतुकर्तृत्वेन नियमेन व्यथितारः, हस्तलगुडादिना ताडयितारश्च इत्यर्थः", वें० "तीक्ष्णाग्रः अङ्कुशः। पिण्डिताग्रो नितोदः। अक्षा एव अङ्कुशिनः नितोदिनः इति", सा० "नितोदिवन्तश्च"। ग्रा० तथा मै० इसका अर्थ "piercing" करते हैं, जबकि गे० "goads" अनुवाद करता है। ऋ० में इस शब्द का कोई अन्य प्रयोग नहीं मिलता है। परन्तु प्रसंग, व्युत्पत्ति तथा ऋ० ७, ६५, ३; १००, ३ के प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए, नितोदिन् शब्द का अर्थ "चीरते हुए अन्दर घुसने वाला" हो सकता है; तु०—ऋ० ६, ५३, ६ में वि तुद। निकृत्वानः=उद्गीथ० "'कृती छेदने'। नियमेन खड्गादिशस्त्रेण छेत्तारश्चेत्यर्थः", वें० "पुरुषस्य आकर्षणात् आह—निकर्तनशीलाः", सा० "पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा"। मो०, ग्रि० तथा मै० इसका अर्थ "deceitful" करते हैं, जबकि ग्रा० "दबाने वाले" और गे० "निराश करने वाले" व्याख्यान करते हैं। वेलंकर ने इसका अनुवाद "मानो दूसरे का अपमान करने वाले" किया है। ग्रा०, मो०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति नि+√कृ "करना" से मानते हैं, जबकि भाष्यकार नि+कृत् "काटना" से इसकी सिद्धि करते हैं। व्याकरण की दृष्टि से इन दोनों धातुओं से निकृत्वन् की सिद्धि सम्भव है, परन्तु प्रसंगानुसार √कृत् से व्युत्पत्ति मानना अधिक समीचीन है और तदनुसार भाष्यकारों का व्याख्यान ग्राह्य है। तपनाः, तापयिष्णवः=उद्गीथ० "तपनाः पराजयेन

सन्तापयितारश्च तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन सर्वस्य कुटुम्बजनस्य सन्तापनशीलाश्चेत्यर्थः" वें० "पराजये आत्मनः तपनाः, विजये परेषां तापयिष्णवः", सा० "तपनाः पराजये कितवस्य संतापकाः, तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य संतापनशीलाश्च भवन्ति"। ग्रा०, गै०, ग्रि०, रैनू, वेलंकर प्रभृति आधुनिक विद्वान् लगभग सा० के व्याख्यान का अनुसरण करते हुए क्रमशः "tormenting" तथा "causing to torment" अर्थ करते हैं, जबकि मै० (V. R.) "burning and causing to burn" शाब्दिक अनुवाद करता है। प्रसंगानुसार सा० का व्याख्यान समीचीन है। **कुमारदेष्णाः**=उद्गीथ० "धनदानद्वारेण कन्यां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारश्च। अथवा कुमार इव देवनीयाः क्रीडनीया इत्यर्थः", वें० "कुमारतिः हर्षकर्मा। हर्षदानाः", सा० "धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति"। आधुनिक विद्वानों में भी इसके व्याख्यान के सम्बन्ध में मतभेद है। रोट, ग्रा०, ग्रि० तथा मो० आदि विद्वान् इसका अर्थ "granting perishable gifts" करते हैं, जबकि गै०, मै०, रैनू तथा वेलंकर प्रभृति "जिनका दान बच्चों के दान की तरह (अल्पकाल में वापिस लिया जा सकता है) ऐसे (पासे)" व्याख्यान करते हैं जो कि अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि वस० का स्वर तथा आगामी पद **पुनर्हणः** इस व्याख्यान का समर्थन करते हैं; तु०—ऋ० १, १६६, ७ का **स्कम्भदेष्णाः**। Annals of B. O. R. I., Diamond Jubilee Volume, pp. 835-39 पर देखिये हमारा निबन्ध "On the Interpretation of *'Kumāra Viśikha-iva'*." **मध्वा**=मधु का तृ० ए० (वै० व्या० १४०)। **कितवस्य बर्हणा**=वें० "प्रतिकितवस्य परिबर्हणायै भवन्ति", उद्गीथ० "किञ्च जयतः धनानां जेतुः **कितवस्य पुनर्हणः** पुनः पश्चात् हन्तारश्च। केन? **बर्हणा** परिबर्हिणा परिवृद्धेन वधेन सर्वस्वहरणलक्षणेन", सा० "प्रतिकितवेन। **बर्हणा** परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य **पुनर्हणः** पुनर्हन्तारो भवन्ति"। ग्रा०, गै०, मै० तथा रैनू प्रभृति आधुनिक विद्वान् **बर्हणा** पद को **बर्हणा** शब्द का तृ० ए० मानते हुए चतुर्थ पाद के अपने-अपने स्वतन्त्र व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं; यथा—गै० "Through the gambler's overzeal (or confidence) they are thoroughly soaked with honey", मै० (V. R.) "sweetened with honey by magic power over the gambler", (M. H. R.) "With honey sweet to gamblers by their magic charm", रैनू० "Honey-coated (they seize) the gambler by force", ग्रि० "thickly anointed with the player's fairest good"। परन्तु वेलंकर **बर्हणा** को प्रथ० ए० का रूप मानते हुए चतुर्थपाद का अनुवाद इस प्रकार करता है—"(तथापि) मधु से भरे हुए ये अक्ष द्यूतकार की मूर्तिमती (स्फूर्तिदात्री) शक्ति ही हैं"। ऋ० में **बर्हणा** के जो अनेक प्रयोग मिलते हैं उनके तुलनात्मक विवेचन के अनुसार वर्तमान प्रयोग में **बर्हणा** को तृ० ए० का रूप मानना उचित है और उन प्रयोगों में **बर्हणा** शब्द अपनी व्युत्पत्ति (√बृह्) के अनुसार प्रायेण "महत्ता या महत्व" का वाचक है, जैसा कि सा० आदि ने भी कहीं-कहीं माना है; तु०—

ऋ० १, ५२, ११; ५४, ३; ५६, ५; ६, ४४, ६; ६, ६६, ५; १०, २२, ६; ७७, ३। ऋ० ६, १०, ४ के बर्हणा गिरा प्रयोग में बर्हणा वि० "महती" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार वर्तमान प्रसंग में या तो बर्हणा "महत्या" वि० के साथ "इच्छया" पद का अध्याहार किया जा सकता है, या व्यंग्यार्थ में बृहणा तृ० ए० का अर्थ "महत्ता के द्वारा" माना जा सकता है। चतुर्थ पाद का भावार्थ इस प्रकार है—"जो पूर्वोक्त पासे सब प्रकार से कष्टप्रद, क्रूर तथा सदोष हैं, वे जुआरी की महता (या महती इच्छा) के कारण उसे मधु से लिपटे हुए से लगते हैं।" पूर्ववर्ती तीन पादों के अर्थ के साथ चतुर्थ पाद के अर्थ का विरोध दिखाया गया है।

८. त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रातं एषां	त्रिऽपञ्चाशः। क्रीळति। व्रातः। एषाम्।
देवईव सविता सत्यधर्मा।	देवःऽईव। सविता। सत्यऽधर्मा।
उग्रस्यं चिन्मन्यवे ना नमन्ते	उग्रस्यं। चित्। मन्यवें। न। नमन्ते।
राजां चिदेभ्यो नम इत्कृणोति॥	राजां। चित्। एभ्यः। नमः। इत्। कृणोति॥

अनु०—इन पासों का (एषाम्) ५३ संख्या वाला (त्रिपञ्चाशः) समूह (व्रातः) खेलता है (क्रीळति)। सविता देव की तरह इनका समूह सत्य नियमों वाला है (सत्यधर्मा)। उग्र पुरुष के क्रोध के सामने भी ये नहीं झुकते हैं (न नमन्ते)। राजा भी इन्हें (एभ्यः) नमस्कार ही करता है (नमः इत् कृणोति)।

टि०—त्रिपञ्चाशः=व्रातः का वि; उद्गीथ० "त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्योपेतः", सा० "त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याकः"। विल्सन, रोट, ग्रा० (कोष), मो०, ग्रि० आदि आधुनिक विद्वान् सा० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं, जबकि ग्रै०, मै०, लिडर्स, रेनू तथा वेलंकर प्रभृति विद्वान् इसका अर्थ "numbering three fifties" अर्थात् १५० करते हैं। लुड्विग, वेबर तथा त्सिमर इसका अर्थ "३×५" (पन्द्रह) करते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भाष्यकारों का मत ही अधिक समीचीन है (तु०—पा० ५, ४, ७३) और प्रसंग के अनुसार भी इस व्याख्यान में कोई विशेष आपत्ति नहीं है। ना=न के छान्दस दीर्घ का यही एक उदाहरण मिलता है; तु० हिन्दी-प्रयोग "ना मानूं"।

९. नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्य्	नीचाः । वर्तन्ते । उपरि । स्फुरन्ति ।
अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।	अहस्तासः । हस्तऽवन्तम् । सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः	दिव्याः । अङ्गाराः । इरिणे । निऽउप्ताः ।
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥	शीताः । सन्तः । हृदयम् । निः । दहन्ति ॥

अनु०—ये पासे (कभी) नीचे लुढ़कते हैं और (कभी) ऊपर उछलते हैं (उपरि स्फुरन्ति)। ये हस्तरहित पासे (अहस्तासः) हाथ वाले जुआरी को (हस्तवन्तम्) अभिभूत करते हैं (सहन्ते)। द्यूतकर्म की छोटी खाई में (इरिणे) फेंके गये (न्युप्ताः) ये दिव्य अङ्गारे ठंडे होते हुए भी (जुआरी के) हृदय को जलाते हैं (निर्दहन्ति)।

टि०—इरिण=दे०—ऋचा १ पर टि०। स्फुरन्ति=ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "उछलते हैं" करते हैं और प्रसङ्गानुसार यही व्याख्यान समीचीन है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा स्फुरन्ति तथा निउप्ताः उच्चारण अपेक्षित है।

१०. जाया तप्यते कितवस्य हीना	जाया । तप्यते । कितवस्य । हीना ।
माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् ।	माता । पुत्रस्य । चरतः । क्व । स्वित् ।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानो-	ऋणऽवा । बिभ्यत् । धनम् । इच्छमानः ।
ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥	अन्येषाम् । अस्तम् । उप । नक्तम् । एति ॥

अनु०—जुआरी की परित्यक्ता (**हीना**) पत्नी और जहां-कहीं (**क्व स्वित्**) भटकते हुए (**चरतः**) पुत्र की माता संतप्त होती है (**तप्यते**)। ऋणग्रस्त (**ऋणावा**), डरता हुआ (**बिभ्यत्**) तथा धन की इच्छा करता हुआ (**धनम् इच्छमानः**) जुआरी रात्रि में (**नक्तम्**) दूसरों के घर (**अन्येषाम् अस्तम्**) पहुंचता है (**उप एति**)।

टि०—हीना=√हा "छोड़ना"+क्त; वें०, सा० "परित्यक्ता"। **बिभ्यत्** =√भी+शतृ+प्रथ० ए० पुं० (वै० व्या० १२५)। **नक्तम् उप एति** = सा० "रात्रौ चौर्यार्थमुपगच्छति", मै० सा० के व्याख्यान को स्वीकार करता है और प्रसंगानुसार यही समीचीन है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये ग्रा० तथा मै० आदि के मतानुसार **क्व** के स्थान पर **कुअ** और चतुर्थ पाद के आदि में सन्धिविच्छेद द्वारा **अन्येषाम्** उच्चारण अपेक्षित है।

११. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं तताप-	स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। तताप।
न्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।	अन्येषाम्। जायाम्। सुऽकृतम्। च। योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्	पूर्वाह्णे। अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्।
सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद॥	सः। अग्नेः। अन्ते। वृषलः। पपाद॥

अनु०—(ऋचा १० में वर्णित पराये घर में चोरी करने के लिये प्रविष्ट जुआरी को अक्ष अर्थात् द्यूतकर्म) स्त्री, दूसरों की पत्नी (**अन्येषां जायाम्**) तथा सुव्यवस्थित घर (**सुकृतं योनिम्**) दिखा कर (**दृष्ट्वाय**) उसे संतप्त करता है (**कितवं तताप**)। क्योंकि (**हि**) दिन के पूर्वार्ध में (**पूर्वाह्णे**) वह भूरे रंग के घोड़ों को जोतता है (**बभ्रून् अश्वान्युन्युजे**) अर्थात् बड़ी-बड़ी आशाओं के साथ भूरे रंग के पासों के द्वारा द्यूतकर्म में लग जाता है, अग्नि की समाप्ति पर (**अग्नेः अन्ते**) अर्थात् जूआ खेलते-खेलते बहुत रात बीत जाने पर, वह (हार कर) दास सा बना हुआ अग्नि के समीप गिर पड़ता है (**वृषलः पपाद**)।

टि०—दृष्ट्वाय कितवम् ततापः=√दृश्+त्वाय से दृष्ट्वाय बनता है (वै० व्या० ३३६ ख) और अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों के मतानुसार इसका कर्ता कितवम् है। परन्तु यहां पर कितवम् द्वितीयान्त है और मै० आदि अनेक आधुनिक विद्वानों के मतानुसार दृष्ट्वाय का कर्ता होने के साथ-साथ यह तताप क्रिया का कर्म भी है। प्रश्न यह उठता है कि तताप क्रिया का कर्ता कौन है? इस सम्बन्ध में मै० का व्याख्यान है—"*tatapa* : used impersonally with the acc." इसके अनुसार मै० ने प्रथम तथा द्वितीय पाद का अनुवाद इस प्रकार किया है—"It pains the gambler when he sees a woman, the wife of others and their well-ordered home." गै० का अनुवाद भी लगभग इसी के समान है। वेलंकर तताप के कर्ता के रूप में दर्शनम् का अध्याहार मानता है। इस समस्या का समाधान करने के लिये उद्गीथ० तथा सा० विभक्तिव्यत्यय के द्वारा प्रथमा विभक्ति (कितवः) के अर्थ में द्वितीया (कितवम्) का प्रयोग मानते हैं, जबकि वें० तताप के कर्ता के रूप में अक्षः का अध्याहार मानते हुए तथा दृष्ट्वाय को कितवम् से अन्वित करते हुए कहता है—"असमानकर्तृकतायाम् आर्षः क्त्वाप्रत्ययः"। सा० प्रभृति का अनुसरण करते हुए विभक्तिव्यत्यय के द्वारा कितवम् में प्रथमा के अर्थ में द्वितीया विभक्ति स्वीकार करना व्याकरण-व्यवस्था का अपलाप करना होगा और उस अवस्था में किसी भी पद का कोई भी मनमाना अर्थ किया जा सकता है। इस प्रकार की व्याख्या-पद्धति को अपनाना वैदिक-व्याकरण तथा वैदिक-प्रयोग के साथ बलात्कार करना होगा। ग्रा० तथा मै० प्रभृति आधुनिक विद्वानों के समान, तताप को भाववाच्य प्रयोग (impersonal) मानने के लिये भी कोई वैदिक आधार नहीं दीख पड़ता है। अत एव वें० के समान, प्रसंगानुसार तताप के कर्ता के रूप में तथा "द्यूत" के अर्थ में अक्षः का अध्याहार करना अधिक समीचीन है; तु०—ऋचा २ तथा ४ में "द्यूत" के अर्थ में अक्ष और ऋचा १ में विभीदक का प्रयोग। जो विद्वान् कितवम् कर्म को दृष्ट्वाय क्रिया का कर्ता मानते हैं उनका मत वैदिक-व्याकरण तथा प्रयोग के प्रतिकूल है (वै० व्या० ३३६)। दृष्ट्वाय का कर्ता वही अध्याहृत अक्षः है जो तताप का कर्ता है, परन्तु इस मत में जो कठिनाई तथा असंगति प्रतीत होती है उसका समाधान यह है कि यहां पर √दृश् धातु "दिखाना" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिस अर्थ में इसका प्रेरणार्थक णिजन्त प्रयोग उत्तरकालीन भाषा में आया है; अत एव दृष्ट्वाय=दर्शयित्वा। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० में √दृश् का कोई णिजन्त रूप नहीं मिलता है; प्रयोग से ही प्रेरणार्थक रूप का निर्णय किया जा सकता है, जैसा कि √जन् के प्रयोगों से स्पष्ट है। ऋचा १० के तृतीय तथा चतुर्थ पाद में जो भाव व्यक्त किया गया है उसी का विस्तार इस ऋचा के प्रथम तथा द्वितीय पाद में है। बभ्रून् अश्वान्=रूपकालंकार द्वारा अक्षों को अश्वान् कहा गया है। अग्नेः अन्ते=उद्गीथ० "अग्नेः अग्निसदृशस्याह्नः अन्ते अवसाने अस्ते आदित्ये, अथवा स वृषलः शीतार्दितः सन् रात्रौ अग्नेः समीपे पतति शयनार्थम्", वें० "सः अग्नेः अन्ते वृषलः रात्रौ गच्छति", सा० "सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते"।

ग्रा० (कोष), गै०, तथा मै० (V. R.) आदि इन पदों का अर्थ "अग्नि के समीप" करते हैं जबकि मुइर, ग्रि० तथा मै० (M. H. R.) इनका व्याख्यान "अग्नि के बुझने पर" करते हैं। गै० ने टि० में वैकल्पिक व्याख्यान सुझाते हुए लिखा है—"जब अग्नि समाप्त हो जाती है अर्थात् रात में बहुत देर होने पर"। यद्यपि "समाप्ति" के अर्थ में अन्त शब्द का वैदिक प्रयोग अधिक प्रचलित है, तथापि यहां पर इसका प्रयोग "समीप" तथा "समाप्ति" दोनों अर्थों में किया गया प्रतीत होता है; तु०—ऋ० १, ३०, २१ में "समीप" अर्थ में अन्त का प्रयोग। वृषलः=उद्गीथ० "वृषलसदृशः शास्त्रातिक्रमात् शूद्रसमः कितवः", सा० "वृषलकर्मा"। इसका अर्थ ग्रा० (कोष) ने "क्षुद्र पुरुष", गै० ने "wretch", ग्रि० तथा Ved. Ind. ने "an outcast", और मै० (V. R.) ने "a beggar" किया है। ऋ० में वृषल का यही एक प्रयोग है और मै० सं० १, ६, ११ में भी केवल एक प्रयोग उपलब्ध होता है जिसमें कहा गया है—"यथा वृषलो निजः पुल्ककश्चिकित्सेदेवं सः"। उत्तरकालीन भाषा में वृषल शब्द प्रायेण "शूद्र" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; तु० निरुक्त ३, १६—१७ ; बृ० उप० ६, ४, १२; बौ० श्रौ० सू० २, १६; ६, ५; १६, २२; जै० गृ० सू० १, १६; मनु० ८, १६। आश्व० गृ० सू० ४; २, १६. २१ में "वृद्ध दास" के सम्बन्ध में वृषल शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां पर वृषल शब्द "दास के सदृश" अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि इसका निश्चित अर्थ सन्दिग्ध है। पपाद = √पद्+लिट् प्र० पु० ए०; उद्गीथ० "पतति", वें० "गच्छति", सा० "शेते"। ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० उद्गीथ० के व्याख्यान का अनुसरण करते हैं और ऋ० में √पद् के प्रयोग से भी इसी मत की पुष्टि होती है।

छ०—छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा प्रथम पाद के अन्त में तताप तथा द्वितीय पाद के आदि में अन्येषां उच्चारण अपेक्षित है।

१२. यो वः सेनानीर्महतो गणस्य	यः । वः । सेनाऽनीः । महतः । गणस्य ।
राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।	राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि	तस्मै । कृणोमि । न । धना । रुणध्मि ।
दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥	दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् । वदामि ॥

अनु०—(हे अक्षो!) जो तुम्हारे महान् गण का सेनापति (सेनानीः) और संघ का (व्रातस्य) मुख्य (प्रथमः) राजा बना है (बभूव),

उसके लिये मैं अपनी दसों उंगलियां आगे की ओर करता हूँ (**दश प्राची: कृणोमि**) अर्थात् उसके सामने मैं अपने दोनों हाथ जोड़ता हूँ, उसके लिये मैं कोई धन छिपा कर नहीं रखूँगा (**न धना रुणध्मि**) अर्थात् भविष्य में जूए के लिये छिपाकर धन नहीं रखूंगा। मैं यह सत्य कहता हूँ (**तदृतं वदामि**)।

टि०—इस ऋचा में जुआरी अक्षों के राजा को नमस्कार करते हुए प्रतिज्ञा लेता है। **तस्मै कृणोमि, अहं दश प्राची:**=उद्गीथ० "**तस्मै** अक्षाय **कृणोमि** करोमि पूजामिति शेषः। ...**दश प्राची**: दशवारान् दशकृत्व इत्यर्थः", वें० "**तस्मै** अहं करोमि अञ्जलिम्। ...**दश अहं प्राची**: अङ्गुली: करोमि", सा० "**तस्मै** अक्षाय **कृणोमि** अहमञ्जलिं करोमि। ...अहं **दश** दशसंख्याका अङ्गुली: **प्राची**: प्राङ्मुखी: करोमि"। ग्रा०, गै० तथा मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् **दश प्राची**: के साथ **क्षिप:** "उंगलियों" का अध्याहार मानते हुए, **तस्मै कृणोमि** को इन पदों से अन्वित करके व्याख्यान करते हैं। तदनुसार गै० तथा मै० इन पदों का अनुवाद करते हैं—"To him I stretch forth my ten fingers", परन्तु ग्रि० ने "To him I show my ten extended fingers" अनुवाद किया है। अ० ५, २८, ११ के **तस्मै नमो दश प्राची: कृणोमि** प्रयोग से स्पष्ट है कि वर्तमान ऋचा के तृतीय पाद के **तस्मै कृणोमि** को **दशाहं प्राची:** से अन्वित करके व्याख्यान करना समीचीन है। **दश** (**क्षिप:**) के वि० **प्राची:** (**प्राची** का द्विती० ब०) "प्राङ्मुखी:" का अभिप्राय "आगे की ओर निकली हुई" है। इस वाक्य का भावार्थ यह है—"उसके लिये मैं अपनी दसों उंगलियां आगे की ओर करता हूं अर्थात् अपने दोनों हाथ उसके सामने जोड़ता हूं"। अ० ५, २८, ११ से इसी व्याख्यान का समर्थन होता है। इस वाक्य का अर्थ अपने खाली हाथ फैला कर दिखाना नहीं है, जैसा कि कतिपय आधुनिक विद्वान् मानते हैं। **न धना रुणध्मि** = उद्गीथ० "नापि धनानि धारयामि, यदि भवन्ति तत्प्रभावात् ततो ददामीत्यर्थ:", वें० "अत ऊर्ध्वं न अहं धनानि अक्षार्थं रुणध्मि", सा० "अत: परं **धना** धनानि अक्षार्थमहं **न रुणध्मि** न संपादयामीत्यर्थ:"। ग्रा०, गै०, ग्रि० तथा मै० आदि आधुनिक विद्वान् इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार करते हैं – "I withhold no wealth." इन विद्वानों के मतानुसार, इस वाक्य का अभिप्राय यह है—"मैं उससे कोई धन नहीं छिपाता हूं"। परन्तु प्रसंगानुसार, वें० तथा सा० का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है, जिसके अनुसार इसका अभिप्राय इस प्रकार है—"जुआरी पासों के राजा को हाथ जोड़कर नमस्कार करने के अनन्तर भविष्य के लिये प्रतिज्ञा करता है—'जूए के लिये मैं धनों को नहीं रोकूंगा अर्थात् छिपाकर नहीं रखूंगा (तु०—ऋ० १०, ४२, ९)। मैं सत्य कहता हूं'।" ऋचा १३ तथा १४ से भी इसी व्याख्यान का समर्थन होता है। यहां पर **रुणध्मि** में लट् भविष्यत्काल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (वै० व्या० ३१९)।

१३. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व — अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व ।
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः । — वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया — तत्र । गावः । कितव । तत्र । जाया ।
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ।। — तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ।।

अनु०—"हे जुआरी (कितव) ! पासों से जूआ मत खेलो (अक्षैः मा दीव्यः), खेती ही करो (कृषिमित्कृष एव) । अपने धन में आनन्द लो (वित्ते रमस्व), उसे ही बहुत मानते हुए (बहु मन्यमानः) । उसी में (तत्र), अर्थात् कृषि से उपार्जित धन में ही, गायें तथा पत्नी (प्राप्त होंगी जिसे तू जूए में खो चुका है) ।" यह श्रेष्ठ (अर्यः) सविता देव मुझे यह बात कहता है (तन्मे वि चष्टे) ।

टि०—मा दीव्यः = √दिव् + लङ् के अङ्ग से विमू० म० पु० ए० । वि चष्टे = √चक्ष् + लट् प्र० पु० ए० । सविता = ऋचा ८ में सविता देव के नियमों के साथ अक्षों के नियमों की उपमा दी गई है । अत एव यहां पर सविता के उपदेश का निर्देश किया गया है ।

१४. मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो — मित्रम् । कृणुध्वम् । खलु । मृळत । नः ।
मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु । — मा । नः । घोरेण । चरत । अभि । धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिर् — नि । वः । नु । मन्युः । विशताम् । अरातिः ।
अन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ।। — अन्यः । बभ्रूणाम् । प्रऽसितौ । नु । अस्तु ।।

अनु०—(हे अक्षो !) तुम हमारे साथ मित्रता करो (मित्रं कृणुध्वम्) और निःसन्देह (खलु) हम पर दया करो (मृळत नः) । धृष्टतापूर्वक (धृष्णु) अपने भयंकर जादू से (घोरेण) तुम हमें अपने जादू के अधीन मत करो (नः मा अभि चरत) । (हमारे प्रति) तुम्हारा (वः) क्रोध (मन्युः) तथा दुर्भावना

(अरातिः) अब **(नु)** शान्त हो जाए **(नि विशताम्)**। अब **(नु)** कोई और **(अन्यः)** इन भूरे रंग के पासों के **(बभ्रूणाम्)** फन्दे में फंसे **(प्रसितौ अस्तु)**।

टि०— इस ऋचा में अक्षों को सम्बोधित करके प्रार्थना की गई है। **मित्रम्** = उद्गीथ० "स्निग्धम्", वें० तथा सा० "मैत्रीम्"। ग्रा०, गै०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् सा० का अनुसरण करते हुए इसका अर्थ "मैत्री" करते हैं, जबकि ग्रि० ने "make me your friend" अनुवाद किया है। ऋ० १०, १०८, ३ के **मित्रमेना दधाम** प्रयोग से **मित्रम्** के "मैत्री" अर्थ का समर्थन होता है। **मृळत** = $\surd$मृड् + लोट् म० पु० ब०; दे०— ऋ० २, ३३, ११ पर टि०। संहिता में अन्तिम **अ** का छान्दस दीर्घ है; वाक्य के आदि में आने के कारण सोदात्त है (वै० व्या० ४८३ ग)। **धृष्णु** = उद्गीथ० "अभि धृष्णु तृतीयार्थे प्रथमैषा। अभिधृष्णुना सर्वार्थिनामभिभवित्रा अपहारिणेत्यर्थः", सा० "धृष्णु धृष्णुना। तृतीयार्थे प्रथमा"। ग्रा० (कोष), गै० तथा मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् **धृष्णु** को क्रिवि० मानते हुए इसका अर्थ "boldly", "forcibly" इत्यादि करते हैं, जबकि विल्सन तथा ग्रि० आदि सा० का अनुसरण करते हुए अनुवाद करते हैं। ऋ० १०, ४९, २ इत्यादि में **धृष्णु** पद के जो प्रयोग मिलते हैं उनसे ग्रा० आदि के मत का समर्थन होता है। अतएव क्रिवि० के रूप में "धृष्टतापूर्वक" व्याख्यान अधिक समीचीन है। **घोरेण** = गै० ने **घोरेण** के साथ **अभिचारेण** के अध्याहार का सुझाव दिया है जो उपयुक्त प्रतीत होता है। **अरातिः** = दे० – ऋ० ४, ५०, ११ इत्यादि पर टि०। **नि विशताम्** = वें० "वि रमतु", सा० "अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु"। वें० का व्याख्यान समीचीन है जिसे ग्रा०, गै०, मै० प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

छ०— छन्दःपरिमाण की पूर्ति के लिये सन्धि-विच्छेद द्वारा चतुर्थ पाद में नु अस्तु उच्चारण अपेक्षित है।

ऋ. १०, १२७ (रात्री)

ऋषि:—कुशिक: सौभर:, रात्रिर्वा भारद्वाजी । **देवता**—रात्रि: । **छन्द:**—गायत्री ।

१. रात्री व्यख्यदायती रात्री । वि । अख्यत् । आऽयती ।
पुरुत्रा देव्य१क्षभिः । पुरुऽत्रा । देवी । अक्षऽभिः ।
विश्वा अधि श्रियोऽधित ।। विश्वाः । अधि । श्रियः । अधित ।।

अनु०—आती हुई (आयती) रात्रि देवी ने (रात्री देवी) नक्षत्ररूपी नेत्रों से (अक्षभि:) बहुत से स्थानों पर (पुरुत्रा) भली भाँति देख लिया है (वि अख्यत्) और उसने सब शोभाओं को (विश्वा: श्रिय:) धारण किया है (अधि अधित) ।

टि०—रात्री=यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० में यह शब्द ईकारान्त है, और उत्तरकालीन भाषा में इसके स्थान पर इकारान्त (रात्रि) का प्रयोग बढ़ता गया है। वि अख्यत्=दे० ऋ० १, ३५, ५. ७ पर टि० । आयती=आ+√इ+शतृ+स्त्री० ई (वै० व्या० १२५) । अक्षभि:=अक्षन् का तृ० ब० (वै० व्या० १३० ग) वें० "नक्षत्रात्मकै:", सा० "अक्षिस्थानैः प्रकाशमानैः नक्षत्रैः । ··· यद्वा । अक्षभिरञ्जकैः तेजोभि:" । मै० आदि विद्वान् वें० के व्याख्यान को स्वीकार करते हैं जो उचित है । अधि अधित=√धा+विकरण—लुग्—लुङ् प्र० पु० ए० आ० (वै० व्या० २६५ ख); तु०–ऋ० १, ८५, २; २, ८, ५; १०, २१, ३ । देवी+अक्षभि:=इस (क्षैप्र) स्वतन्त्र स्वरित के लिये दे०—वै० व्या० ३८६; ३९१ ।

छ०—सन्धि-विच्छेद द्वारा वि अख्यत् तथा देवी अक्षभि: उच्चारण अपेक्षित है ।

२. ओर्वप्रा अमर्त्या आ । उरु । अप्राः । अमर्त्या ।
निवतो देव्यु१द्वतः । निऽवतः । देवी । उत्ऽवतः ।
ज्योतिषा बाधते तमः ।। ज्योतिषा । बाधते । तमः ।।

अनु०—अमर (अमर्त्या) देवी ने विशाल अन्तरिक्ष (उरु) और नीचे (निवत:) तथा ऊंचे स्थानों को (उद्वत:) अपने रूप से भर दिया है

(आ अप्राः) । वह अपने (नक्षत्र आदि के) प्रकाश से (ज्योतिषा) अन्धकार को दूर हटाती है (तमः बाधते) ।

टि०—आ अप्राः=दे०—ऋ० १, ११५, १ पर टि० । उरु=दे०—ऋ० ७, ६१, ३ पर टि० । निवतः, उद्वतः=वें० "निवतः...उद्वतः च देशान्", सा० "निवतः नीचीनान् लतागुल्मादीन् उद्वतः उत्स्थितान्वृक्षादींश्च" । ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् इन पदों का व्याख्यान क्रमशः "the depths and the heights" करते हैं । दोनों व्याख्यानों का भावार्थ समान है ।

छ०—सन्धि-विच्छेद द्वारा आ उरु अप्रा अमर्त्या तथा देवी उद्वतः उच्चारण से छन्दःपरिमाण की पूर्ति हो जाती है । परन्तु ग्रा० तथा मै० प्रथम पाद में आ उर्वप्रा अमर्तिआ उच्चारण सुझाते हैं ।

३. निरु स्वसारमस्कृतो-	निः । ऊँ इति । स्वसारम् । अकृत ।
षसं देव्यायती ।	उषसम् । देवी । आऽयती ।
अपेदु हासते तमः ।।	अप । इत् । ऊँ इति । हासते । तमः ।।

अनु०—आती हुई (आयती) रात्री देवी ने अब (उ) अपनी बहिन उषा को (स्वसारमुषसम्) तैयार कर दिया है अर्थात् उषा का पथ प्रशस्त कर दिया है । (निर् अकृत) । अन्धकार (तमः) चला ही जायेगा (अप इत् हासते) ।

टि०—उषसम्, निर् अस्कृत=पपा० निः । अकृत; √कृ+विकरण-लुग्-लुङ् प्र० पु० ए० आ० (वै० व्या० २६५ ख) । इस रूप में सकार का आगम मौलिक नहीं है, जैसा कि पपा० से स्पष्ट है । मै० (V. R., p. 204) का मत है कि निष्कुरु (अ०) इत्यादि रूपों के सादृश्य से इस रूप में सकार का आगम हुआ है । सम् तथा परि के साथ समस्त होने वाले √कृ से पूर्व सकार का आगम किया जाने लगा (तु०—पा० ६, १, १३७—३९; बृ० दे० २, ११५; ऋ० प्रा० ११, ९) । वें० इन पदों का व्याख्यान "निष्कृणोति" और सा० "निष्करोति । प्रकाशेन संस्करोति निवर्तयति इत्यर्थः" करता है । ग्रा०, गै०, मै० तथा वेलंकर आदि विद्वान् निर् अस्कृत का अर्थ "दूर हटा दिया है" करते हैं, जबकि सा० का अनुसरण करते हुए प्रथम तथा द्वितीय पाद का अनुवाद विल्सन—"The advancing goddess prepared (the way for) her sister Dawn" और ग्रि० "The Goddess as she comes hath set the Dawn, her Sister, in her place" करता है । ग्रा०, गै० तथा मै० आदि के व्याख्यान में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि रात्रि ने उषा को कैसे

हटा दिया है, क्योंकि उषा तो रात्रि के पश्चात् आती है और रात्रि को हटाती है। इस समस्या के समाधानार्थ ये विद्वान् (गै०, मै०) आदि उषस् शब्द को यहां पर "दिन" का वाचक मानते हैं और गै० इस सम्बन्ध में उषसानक्ता समास का निर्देश करता है। परन्तु उषस् शब्द को "दिन" का वाचक मानने के पक्ष में कोई सन्तोषजनक आधार नहीं है। अत एव निरस्कृत के इस व्याख्यान पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। जैसे ऋ० १, १४१, ३ निर्यदीं बुध्नान्महिषस्य वर्पस ईशानासः शवसा क्रन्त सूरयः के निर् क्रन्त में निस्+√कृ का प्रयोग, भाष्यकारों तथा ग्रा०, गै० आदि आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, "उत्पन्न करना, तैयार करना" अर्थ में हुआ है, इसी प्रकार यहां पर भी निस्+√कृ का अर्थ वैसा ही है। "रात्रि ने उषा को तैयार कर दिया है"—इस वाक्य का भावार्थ यह है कि ज्यों-ज्यों रात्रि बीतती जा रही है उषा का आगमन समीप आ रहा है। रात्रि का आगमन उषा के आगमन का पथ प्रशस्त करता है। तृतीय पाद भी इसी व्याख्यान का समर्थन करता है। अप इत् हासते तमः=वें० "अप एव गमयति तमः", सा० "तस्यामुषसि जातायां नैशं तमः अपेत् हासते अपैव गच्छति। 'ओ हाङ् गतौ'। लेटि अडागमः। 'सिब्बहुलमिति सिप्'। अप+√हा "दूर जाना"+अनिट्-सिज्लुङ् से बने लेट् प्र० पु० ए० के रूप अप हासते में लेट् लकार भविष्यत् के अर्थ में आया है। यहां पर निश्चय ही उषा के आगमन का वर्णन है, परन्तु गै०, मै० आदि विद्वान् निरकृत के अपने व्याख्यान के समर्थन में समाधान करते हैं कि "तारों के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार चला जाएगा"। परन्तु गै० इस विषय में अपने संदेह को प्रकट करते हुए प्रश्नात्मक सुझाव देता है—"क्या यहां पर भी ऋचा ७ की तरह उषा ली जा सकती है?" यहां पर निःसन्देह उषा के आगमन का वर्णन है।

छ०—सन्धि-विच्छेद द्वारा अस्कृत उषसं देवी आयती उच्चारण अपेक्षित है।

४. सा नो॑ अ॒द्य यस्या॑ व॒यं	सा। न॒ः। अ॒द्य। यस्या॑ः। व॒यम्।
नि ते॒ याम॒न्नवि॑क्ष्महि।	नि। ते॒। याम॑न्। अवि॑क्ष्महि।
वृ॒क्षे न व॑स॒तिं वय॑ः॥	वृ॒क्षे। न। व॒स॒तिम्। वय॑ः॥

अनु०—वह ऐसी रात्रि (सा) आज हमारी (रक्षा करे), तेरे जिसके आगमन पर (यस्याः ते यामन्) हम ने विश्राम करने के लिये (अपने-अपने घरों में) प्रवेश किया है (वयं नि अविक्ष्महि), जसे पक्षी (वयः) वृक्ष पर अपने घोंसले में (वृक्षे न वसतिं वयः) (विश्राम करने के लिये प्रविष्ट होते हैं)।

टि०—सा नः अद्य=इस वाक्य को पूरा करने के लिये क्रिया का अध्याहार अपेक्षित है। वें० "भद्रं करोतु" और सा० "प्रसीदतु" के अध्याहार का सुझाव देता है। ग्रि० "favour", मै० V. R. में "(thou) hast approached" और

M. H. R. में "come" क्रिया के अध्याहार का सुझाव देता है। हमारा मत है कि यहां पर "पातु" क्रिया का अध्याहार अधिक समीचीन होगा; तु० ऋचा ६ और ऋ० १०, ६३, १६ सा नो ··· नि पातु। यामन्=स० ए०; वें० "आगमने", सा० "यामन् यामनि प्राप्तौ सत्याम्"। ग्रा०, गै० तथा मै० आदि आधुनिक विद्वान् भी वें० के अर्थ को स्वीकार करते हैं और यह समीचीन प्रतीत होता है। **नि अविक्ष्महि**= वें० "नि विशामहे", सा० "नि विशामहे सुखेन गृह आस्महे। विशेर्लङि 'नेर्विशः' (पा० १, ३, १७) इत्यात्मनेपदम्। छान्दसः शपो लुक्"। **अविक्ष्महि**=√विश्+ अनिट्—सिज्लुङ् उ० पु० ब० आ० (वै० व्या० २७४—७५)। यह लङ् का रूप नहीं है, जैसा कि सा० ने व्याख्यान किया है। इन पदों का अनुवाद ग्रि० "we have visited", गै० "we have gone to take rest", और मै० (V. R.) "we have come home" करता है। वास्तव में नि अविक्ष्महि का अर्थ है—"हम ने विश्राम करने के लिये अपने-अपने घरों में प्रवेश किया है", जैसा कि ऋ० १, १९१, ४ के प्रयोग से स्पष्ट है। **वयः**=वि का प्रथ० ब० (दे०—ऋ० १, २५, ४)। **वसतिम्**= दे०—ऋ० १, २५, ४ पर टि०।

५. नि ग्रामासो अविक्षत नि। ग्रामासः। अविक्षत।
नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। नि। पत्ऽवन्तः। नि। पक्षिणः।
नि श्येनासश्चिदर्थिनः॥ नि। श्येनासः। चित्। अर्थिनः॥

अनु०—गाँव अर्थात् गावों के निवासी (**ग्रामासः**), पाँवों से चलने वाले प्राणी (**पद्वन्तः**), उड़ने वाले पक्षी और शीघ्रगति वाले (**अर्थिनः**), बाज भी (**श्येनाः चित्**) विश्राम करने के लिये चले गये हैं (**नि अविक्षत**)।

टि०—**नि अविक्षत** = √विश्+अनिट्—सिज्लुङ् प्र० पु० ब० आ०। **अर्थिनः**=वें० "निद्रार्थिनः", सा० "अर्तेरर्थो गमनम्। शीघ्रगमनयुक्ताः"। ग्रा० तथा गै० इसका अर्थ "active" और मै० "greedy" करता है। वैदिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए सा० तथा ग्रा० आदि का व्याख्यान अधिक समीचीन प्रतीत होता है; तु०—ऋ० ८, २७, १२। इस ऋचा के प्रत्येक नि उपसर्ग के साथ **अविक्षत** क्रियापद अन्वित है।

६. यावया वृक्यं१ वृकं यवय। वृक्यम्। वृकम्।
यवय स्तेनमूर्म्ये। यवय। स्तेनम्। ऊर्म्ये।
अथा नः सुतरा भव॥ अथ। नः। सुऽतरा। भव॥

अनु०—हे रात्रि (ऊर्म्यें) मादा भेड़िये को (वृक्यम्), नर भेड़िये को (वृकम्) तथा चोर को (स्तेनम्) हम से दूर रखो (यवय); और तुम हमारे लिये सुखपूर्वक पार करने योग्य (सुतरा) बनो।

टि०—यावया=पपा० यवय, √यु "पृथक् करना"+णिच्+लोट् म० पु० ए०; पादादि में आने के कारण सोदात्त है। वृक्यम्=वृकी का द्विती० ए० (वै० व्या० १४३ कं ५); स्वतन्त्र स्वरित; तु० ऋचा० १ तथा २ में।

७. उप॑ मा॒ पेपि॑शत्तम॑:	उप॑ । मा॒ । पेपि॑शत् । तम॑: ।
कृ॒ष्णं व्य॑क्तमस्थित ।	कृ॒ष्णम् । विऽअ॑क्तम् । अ॒स्थि॒त॒ ।
उष॑: ऋ॒णेव॑ यातय ॥	उष॑: । ऋ॒णाऽइ॑व । या॒त॒य॒ ॥

अनु०—अपने आप को (तारों से) अलंकृत करता हुआ (पेपिशत्), प्रकट (व्यक्तम्) काला अन्धकार (कृष्णं तमः) मेरे पास आ पहुंचा है (मा उप अस्थित)। हे उषा देवि ! तुम इसे ऋणों की तरह (ऋणाऽइव) दूर हटा दो (यातय)।

टि०—पेपिशत्=वें० "पिशिः आश्लेषकर्मा", सा० "भृशं पिंशत् सर्ववस्तुषु आश्लिष्टम्"। यह शब्द रात्रि के अन्धकार (तमः) का वि० है। रोट इसका व्याख्यान "तारे रूपी आभूषणों को धारण करता हुआ", और ग्रा० (कोष) "अपने आप को अलंकृत करता हुआ", करता है, जबकि गै० इसका अनुवाद "painting" और मै० "thickly painting" करता है। यह शब्द √पिश्+यङ्लुक्+शतृ (वै० व्या० ३०५) से बना है। √पिश् के अन्य वैदिक प्रयोगों को देखते हुए रोट तथा ग्रा० का व्याख्यान अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है; दे०—ऋ० २, ३३, ६ तथा ७, १०३, ६ पर टि०। उप अस्थित=√स्था+विकरण—लुग् लुङ् प्र० पु० ए० आ० (वै० व्या० २६५ ख)।

छ०—ग्रा० तथा मै० व्यक्तम् के लिये विअक्तम् उच्चारण सुझाते हैं।

८. उप॑ ते॒ गा इ॒वाक॑रं	उप॑ । ते॒ । गाःऽइ॑व । आ । अ॒क॒र॒म् ।
वृ॒णी॒ष्व दु॑हितर्दिवः ।	वृ॒णी॒ष्व । दु॒हि॒त॒: । दि॒व॒: ।
रात्रि॒ स्तोमं॒ न जि॒ग्युषे॑ ॥	रात्रि॑ । स्तोम॑म् । न । जि॒ग्युषे॑ ॥

अनु०—हे रात्रि ! विजयी के लिये (जिग्युषे) (समर्पित किये गये) स्तोत्र की तरह (स्तोमं न) मैं तुम्हारे लिये (ते) गायों के सदृश (गाःऽइव)

(यह स्तोत्र) भेंट के रूप में लाया हूं (उपाकरम्); हे द्युलोक की पुत्रि (दिवः दुहितः)! तुम इसका वरण करो (वृणीष्व)।

टि०—ते गाःऽइव उप आ अकरम्=वें० स्तुतीः का अध्याहार करते हुए व्याख्यान करता है—"उप आ करोमि स्तुतीः अहं तुभ्यं पशून् इव"। विल्सन तथा ग्रि० अपने अनुवादों में "these verses" का अध्याहार करते हैं। परन्तु गे०, मै० तथा वेलंकर ऋ० १, ११४, ६ उप ते स्तोमान्पशुपाइवाकरम् का निर्देश करते हुए, उपाकरम् के साथ तृतीय पाद के स्तोमम् का अध्याहार मानते हैं और उस मन्त्र में प्रयुक्त पशुपाःऽइव की उपमा के सादृश्य से इस मन्त्र में उपाकरम् का शाब्दिक अर्थ "हांक कर लाया हूं" और भावार्थ "समर्पित की है" करते हैं। देहलीदीपन्यायेन स्तोमम् पद दोनों क्रियाओं का कर्म है। अत एव यहां पर स्तोमम् का अध्याहार समीचीन है, परन्तु उपा+√कृ का "हांकना" शाब्दिक अर्थ किसी अन्य वैदिक प्रयोग से समर्थित नहीं होता है और इसका शाब्दिक अर्थ "लाना या भेंट करना" सर्वत्र लगता है। अकरम्=√कृ+विकरण—लुग्—लुङ् उ० पु० ए०। वृणीष्व=√वृ "चुनना"+लोट् म० पु० ए० आ०। रात्रि=रात्री का सं०। जिग्युषे =√जि+क्वसु से बने जिगीवस् "विजयी" का च० ए० (वै० व्या० ३३२ क; १२८ ख)। दुहितः दिवः=दुहितः सं० से सम्बद्ध होने के कारण दिवः पूर्वाङ्गवत् होकर सर्वानुदात है (वै० व्या ४१२. ३)।

विशेष—सा० ने ऋ० और तै० ब्रा० २, ४, ६, १० में इस ऋचा के भिन्न-भिन्न व्याख्यान किये हैं। और दोनों ही ग्रन्थों में सा० के व्याख्यान इतने बेतुके तथा अग्राह्य है कि यहां पर उनका उद्धरण देना अनावश्यक समझा गया है।

ऋ. १०, १२९ (नासदीय सूक्त)

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी। देवता—भाववृत्तम्। छन्दः—त्रिष्टुप्।

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं	न। असत्। आसीत्। नो इति। सत्। आसीत्। तदानीम्।
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।	न। आसीत्। रजः। नो इति। विऽओम। परः। यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्	किम्। आ। अवरीवरिति। कुह। कस्य। शर्मन्।
अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥	अम्भः। किम्। आसीत्। गहनम्। गभीरम्॥

अनु०—तब (सृष्टि के पूर्व) न कारणरूपी अव्यक्त (असत्) था (आसीत्) और न ही कार्यरूपी व्यक्त संसार (सत्)। न अन्तरिक्ष (रजः) था और न ही, उससे परे (परः) जो आकाश (व्योम) है, वह था। किस वस्तु ने (किम्) आच्छादित किया था (आवरीवः)? कहां पर (कुह)? किस की शरण अर्थात् छत्रछाया में (कस्य शर्मन्)? क्या तब अगाध गहरा जल (अम्भः) विद्यमान था?

टि०—तदानीम्, असत्, सत्=वें० "भावानां वृत्तं प्रतिपाद्यं महाप्रलयावस्थायाम्। असच्छब्दः कारणवचनः। सच्छब्दः कार्यवचनः। अयं परिदृश्यमानः कार्यवर्गः कारणवर्गश्च न अभूत्। असच्छब्दः प्राणवचनः इति। अत्र वाजसनेयकम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाऽवतेऽग्रेऽसदासीत् तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषयः' (श० ब्रा० ६, १, १, १)। नो सदासीदित्ययं लोकः…"; सा० "'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्' इत्यादिनाग्रे सृष्टिः प्रतिपादयिष्यते। अधुना ततः प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा या प्रलयावस्था सा निरूप्यते। तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवत् निरुपाख्यं न आसीत्। न हि तादृशात् कारणादस्य सतो जगतः उत्पत्तिः संभवति। तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यम् आसीत्। यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि संभवति।

कुतस्तयोः तादात्म्यमिति उभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः"; तै० ब्रा० २, ८, ९, ३ पर सा० "यदा पूर्वसृष्टिः प्रलीनोत्तरसृष्टिश्च नोत्पन्ना तदानीं सदसती द्वे अपि नाभूताम्। नामरूपविशिष्टत्वेन स्पष्टं प्रतीयमानं जगत्सच्छब्देनोच्यते। नरविषाणादि-समानं शून्यमसदित्युच्यते। तदुभयं नासीत्। किंतु काचिदव्यक्तावस्था आसीत्। सा च विस्पष्टत्वाभावान्न सती जगदुत्पादकत्वेन सद्भावान्नाप्यसती"। श० ब्रा० १०, ५, ३, १ में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। महाभारत १२, ३४२, ५ तथा ८ में भी इस अवस्था का वर्णन है। लगभग सभी पाश्चात्य विद्वान् असत् तथा सत् का अनुवाद क्रमशः "non-existent" तथा "existent" करते हैं। ग्रि० ने असत् का व्याख्यान इस प्रकार किया है—"*Non-existent* : *asat* : that does not yet actually exist, but which has in itself the latent potentiality of existence." मै० (V. R., p. 209) असत् का व्याख्यान "the unevolved" और सत् का व्याख्यान "the evolved world" करता है। जैसाकि महाभारत १२, ३४२, ५ "न सति नासति न व्यक्ते न चाप्यव्यक्ते व्यवस्थिते" ने व्याख्यान किया है सत् तथा असत् क्रमशः "व्यक्त" तथा "अव्यक्त" को अभिव्यक्त करते हैं। ऋ० १०, ५, ७ असच्च सच्च के भाष्य में उद्गीथ० तथा सा० भी असत् का अर्थ "अव्याकृतम्" और सत् का अर्थ "व्याकृतम्" करते हैं। ऋ० १०, ७२, २ देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत से स्पष्ट है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। छा० उप० ३, १९, १ तथा तै० उप० २, ७ भी असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं। **रजः**=वें० द्वारा किये गये "अन्तरिक्षम्" व्याख्यान को लगभग सभी आधुनिक विद्वान् स्वीकार करते हैं और यही समीचीन है; दे०—ऋ० १, १९, ३ पर टि०। ऋ० पर सा० का "'लोका रजांसि उच्यन्ते' (निरुक्त ४, १९) इति यास्कः। अत्र च सामान्यापेक्षमेकवचनम्" भाष्य तथा तै० ब्रा० पर "रजःशब्देन सत्वरजस्तमो-गुणत्रयमुपलक्ष्यते तत्त्रयं नासीत्" व्याख्यान यहां पर ठीक नहीं लगता है। **व्योमा**=पपा० विऽओम; व्योमन् का प्रथ० ए० है और छान्दस दीर्घ है (वै० व्या० १३१ ग)। दे०—ऋ० १, १४३, २ पर टि०। **किम् आवरीवः**=वें० "किं तदानीं भूतमिदं सर्वमाच्छादयामास", सा० "किम् आवरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातम् आवरीवः। अत्यन्तमावृणुयात्। आवार्याभावात् तदावरकमपि नासीदित्यर्थः। वृणोतेर्यङ्लुगन्ताच्छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत्। यद्वा। किमिति प्रथमैव। किं तत्त्वमावरकमावृणुयात्। आव्रियमाणवत् तदपि स्व-रूपेण नासीदित्यर्थः"। आवरीवः के मूल धातु के विषय में मतभेद के कारण इस रूप के व्याख्यान के विषय में भी मतभेद हैं। रोट, ओल्डनबर्ग, ग्रा० तथा गै० इसे आ+√वृत् "इधर-उधर घूमना" के यङ्लुक् लङ् प्र० पु० ए० का रूप मान कर व्याख्यान करते हैं। ह्विटने तथा ग्रि० और V. R. में मै० भी इसे सा० की भांति आ+√वृ "आच्छादित करना" ये यङ्लुक् लङ् प्र० पु० ए० का रूप मानते हैं और यही मत समीचीन है (वै० व्या० २९९. ६)। मै० Ved. Gr. Stu में इसकी व्युत्पत्ति आ+√वृत् से मानता है, परन्तु V. R. में उसने अपना मत बदल लिया। **शर्मन्**=शर्मन् का स० ए० (वै० व्या० १३१); दे०—ऋ० १, ८५, १२ पर टि०।

छ०—ग्रा० तथा मै० व्योमा के लिये विओमा उच्चारण सुझाते हैं।

२. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि।	न। मृत्युः। आसीत्। अमृतम्। न। तर्हि।
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।	न। रात्र्याः। अह्नः। आसीत्। प्रऽकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं	आनीत्। अवातम्। स्वधया। तत्। एकम्।
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥	तस्मात्। ह। अन्यत्। न। परः। किम्। चन। आस॥

अनु०—तब (तर्हि) न मृत्यु को प्राप्त होने वाला प्राणिसमूह था और न ही मृत्युरहित देवगण (अमृतम्) था। न रात्रि का (रात्र्याः) और न दिन का (अह्नः) कोई चिह्न (प्रकेतः) था। वह अद्वितीय परब्रह्म (तत् एकम्) अपनी स्वाभाविक शक्ति से (स्वधया) वायु के बिना ही (अवातम्) श्वास ले रहा था (आनीत्) अर्थात् निश्चल होते हुए भी चेष्टा कर रहा था। उससे परे और कोई वस्तु थी ही नहीं।

टि०—मृत्युः=मृत्यु के अभाव का भावार्थ यह है कि मृत्यु को प्राप्त होने वाला प्राणिसमूह नहीं था। अमृतम्="मृत्युरहित देवगण", दे०—ऋ० १०, ९०, २ के अमृतत्व पर टि०। प्रकेतः=वें० "अहोरात्रविभागो नासीत्"; सा० तथा निरुक्त (७, ३) पर दु० "प्रज्ञानम्"; तै० ब्रा (२, ८, ९, ४) पर सा० "रात्रियाः प्रकेतश्चिह्नं चन्द्रनक्षत्रादि, अह्नः प्रकेतः सूर्यस्तदुभयमपि नासीत्"। गै० तथा मै० आदि आधुनिक विद्वान् सा० के तै० ब्रा० भाष्य के अर्थ "चिह्न" का अनुकरण करते हैं, जो अधिक समीचीन है, यद्यपि "प्रज्ञानम्" का भावार्थ भी समान ही है। आनीत् अवातम्=√अन् "श्वास लेना"+लङ् प्र० पु० ए०। यहां पर √अन् "श्वास लेना" का भावार्थ "चेष्टा करना" है, जैसा कि तै० ब्रा० के भाष्य में सा० कहता है—"आनीत् चेष्टितवत्। नात्र चलनं चेष्टा किंतु सद्भावमात्रमित्यभिप्रेत्य अवातमिति विशेष्यते। वायुरहितं निश्चलमित्यर्थः"। आनीत् अवातम् में विरोधाभास दिखाया गया है। स्वधया=स्वधा का तृ० ए०। सा० स्वधा का अर्थ "माया" करता है, परन्तु यहां पर स्वधा का अर्थ "अपना स्वभाव अर्थात् अपनी स्वाभाविक शक्ति" है, जैसा कि ग्रा०, गै०, ग्रि०, मै० आदि आधुनिक विद्वान् मानते हैं; दे०—ऋ० १, १५४, ४ पर टि०; तु०—निरुक्त (७, ३) पर दु० "अन्नेन अस्मिन्नेव परमात्मनि या अन्न शक्तिः, तया निमित्तभूतया"। एकम्="अद्वितीयं परब्रह्म"; तु०—ऋ० १, १६४, ७; अ० ५, ११, ६ इत्यादि। आस=√अस् "होना"+लिट् प्र० पु० ए०।

छ०—ग्रा० तथा मै० रात्र्या के लिये रात्रिश्रा उच्चारण सुझाते हैं ; तु०—तै० ब्रा० का पाठ रात्रिया ।

३. तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑-	तमः॑ । आ॒सी॒त् । तम॑सा । गू॒ळ्हम् । अग्रे॑ ।
ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम् ।	अ॒प्र॒ऽके॒तम् । स॒लि॒लम् । सर्व॑म् । आः॒ । इ॒दम् ।
तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॑त्	तु॒च्छ्येन॑ । आ॒भु । अपि॑ऽहितम् । यत् । आसी॑त् ।
तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म् ॥	तप॑सः । तत् । म॒हि॒ना । अ॒जा॒य॒त॒ । एक॑म् ॥

अनु०—सृष्ट्युत्पत्ति के आदि में (अग्रे) अन्धकार के द्वारा अन्धकार छिपाया हुआ था (गूळहम् आसीत्) अर्थात् घोर अन्धकार था। उस समय यह सारा विश्व चिह्नरहित (अप्रकेतम्) तथा जल ही जल (सलिलम्) था (आः)। सृष्टि के रूप में प्रकट होने वाला जो तत्त्व (आभु) तुच्छ (जल) से (तुच्छ्येन) आच्छादित था (अपिहितम् आसीत्), वह एक तत्त्व तप की महिमा से (तपसः महिना) उत्पन्न हुआ (अजायत)।

टि०—तमः आसीत् तमसा गूळहम् अग्रे=वें० तथा सा० तमः आसीत् को एक वाक्य और तमसा गूळहमग्रे को भिन्न वाक्य मानते हुए उसके साथ "इदं सर्वम्" "सर्वं जगत्" का अध्याहार करते हैं और सा० तमः का व्याख्यान "तमो भावरूपाज्ञानं मूलकारणम्" करता है। ग्रि० अपने अनुवाद में सा० की वाक्य-योजना का अनुसरण करता है। परन्तु निरुक्त (७, ३) पर दु० की तरह विल्सन, गै० तथा मै० प्रथम पाद को एक ही वाक्य मानते हैं और यही व्याख्यान अधिक समीचीन है जिसमें किसी अध्याहार की आवश्यकता नहीं है। अन्धकार के आधिक्य को अभिव्यक्त करने के लिये ऋषि ने इस प्रकार वाक्यरचना की है। गूळहम्=√गुह्+क्त। अप्रकेतम्=सा० "अप्रज्ञायमानम्", त० ब्रा० पर सा० "प्रकर्षेण ज्ञातुमशक्यम्", निरुक्त (७, ३) पर दु० "अप्रज्ञातम्"। इसका अर्थ है—"चिह्न-रहित"; दे०—ऋचा

२ में **प्रकेतः**। इसी प्रकार के विचार के लिये तु०—मनु० १, ५। **सलिलम्**=सा० "सलिलम् कारणेन संगतमविभागापन्नम्। ··· यद्वा सलिलमिति लुप्तोपमम्। सलिलमिव। यथा क्षीरेणाविभागापन्नं नीरं दुर्विज्ञानं तथा तमसाविभागापन्नं जगन्न शक्यविज्ञान-मित्यर्थः", निरुक्त (७, ३) पर दु० "सलिलं सद्भावे लीनं सर्वमिदं जगत्, सन्मात्रस्यैव भावस्योपरि लीनमासीत्"। सा० का अनुसरण करते हुए ग्रि० **अप्रकेतं सलिलम्** का अनुवाद "indiscriminated chaos" करता है। ग्रा०, गै० तथा मै० इसका अर्थ "water" करते हैं। तै० सं० ५, ७, ५, ३; तै० ब्रा० १, १, ३, ५; श० ब्रा० ११, १, ६, १ इत्यादि में **आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्** वचन मिलता है। अनेक वैदिक प्रयोगों से स्पष्ट है कि **सलिल** शब्द मुख्यतया "अन्तरिक्षस्थ जलौघ" (दे०—ऋ० ७, ४६, १ पर टि०) के लिये प्रयुक्त होता है जिसके लिये **सरिर** शब्द भी अनेक वैदिक संहिताओं में आया है। √सृ "गतौ" से सरिर तथा **सलिल** की व्युत्पत्ति मानते हुए अनेक प्राचीन आचार्य इसका अर्थ "गतिशील जल" करते हैं। **आः**=√अस् "होना"+लङ् प्र० पु० ए० (वै० व्या० २३६, ५)। **तुच्छयेन**=वें० "तुचिः क्षुदिना समानकर्मा। क्षोदनीयेन मृत्युना उदकेन", सा० "तुच्छ्येन। छान्दसो यकारोपजनः। तुच्छेन तुच्छकल्पनेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेन", नि० (७, ३) पर दु० "तुच्छेन सूक्ष्मीभूतेन पटमण्डपस्थानीयेन कर्मणा"। तै० ब्रा० में **तुच्छेन** पाठ मिलता है जिस पर सा० कहता है—"तत्त्वज्ञानमात्रेण निवर्त्यत्वात्तत्कारणं मूलाज्ञानं तुच्छम्"। ग्रा०, गै०, मो०, ग्रि० तथा मै० आदि विद्वान् यहां पर **तुच्छ्य** शब्द का अर्थ "void" करते हैं, जबकि वेलंकर ने इसका अनुवाद "तुच्छ (जल) से" किया है। इस शब्द का केवल एक प्रयोग और मिलता है—ऋ० ५, ४२, १० **तुच्छ्यान्कामान्** जहां पर यह वि० है। इस शब्द का अर्थ सन्दिग्ध अवश्य है, तथापि वें० तथा वेलंकर का व्याख्यान "तुच्छ जल से" प्रसंगानुसार अधिक समीचीन प्रतीत होता है। **आभु**=वें० "महो ब्रह्म", सा० "आ समन्ताद्भवतीति **आभु**", तै० ब्रा० पर सा० "आ समन्ताद्भवति उत्पद्यते इत्याभूज्जगत्तदेतत्", दु० "इदमेव जगत्"। इसका अर्थ विल्सन, ग्रा० तथा मो० "empty" करते हैं, जबकि सा० का अनुसरण करते हुए गै० "जीवनशक्तिमत्", और मै० "that coming into being" करता है और प्रसंगानुसार अन्तिम अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। ऋचा ६ तथा ७ के **आबभूव** से भी इसी अर्थ का समर्थन होता है। **महिना**=महिमन् का तृ० ए०।

छ०—**अग्रेऽप्रकेतम्** की पूर्वरूप सन्धि का विच्छेद करने से द्वितीय पाद में बारह अक्षर बनते हैं, परन्तु तृतीय पाद में आभु अपिहितं सन्धि-विच्छेद करने पर भी दस अक्षर बनते हैं।

४. कामस्तदग्रे समवर्तताधि	कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । अधि ।
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।	मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्	सतः । बन्धुम् । असति । निः । अविन्दन् ।
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥	हृदि । प्रतिऽइष्य । कवयः । मनीषा ॥

अनु०—सृष्टि के आदि में (अग्रे) (प्रादुर्भूत होने वाले) उस तत्त्व में (तद्) इच्छा (कामः) उत्पन्न हुई (अधि समवर्तत), जो (यद्) मनन का प्रथम बीज (मनसः रेतः) था। मननयुक्त बुद्धि के द्वारा (मनीषा) अपने हृदय में खोज कर (हृदि प्रतीष्य), क्रान्तदर्शी ऋषियों ने (कवयः) कारणरूपी अव्यक्त में (असति) कार्यरूपी व्यक्त संसार के सम्बन्ध को (सतो बन्धुम्) भली-भांति जान लिया (निरविन्दन्)।

टि०—कामः=सा० इसका व्याख्यान "सृष्टि करने की इच्छा" (सिसृक्षा) करता है और गै० इसका अनुवाद "longing for love" करता है। प्रसंगानुसार सा० का व्याख्यान वैदिक विचारधारा के अनुकूल है। तद्=यह तद् ऋचा ३ के तद् एकम् की ओर संकेत करता है। मनसः=सा० "अन्तःकरणस्य"। ग्रा० (कोष) तथा मै० (V. R.) इसका अर्थ "of mind" करते हैं, जबकि गै० तथा मै० (M. H. R.) इसका अनुवाद "of thought" करते हैं और यही व्याख्यान अधिक समीचीन है। सतः, असति=दे० ऋचा १ पर टि०। बन्धुम्=सा० "बन्धकं हेतुभूतं कल्पान्तरे प्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहम्"। बन्धु शब्द का सामान्य अर्थ "सम्बन्ध" है जैसा कि ग्रा० आदि आधुनिक विद्वान् मानते हैं और वैदिक प्रयोग से स्पष्ट है; दे०— ऋ० १, १५४, ५ पर टि०। प्रतीष्या=पपा० प्रतिऽइष्य; प्रति + √इष्+ल्यप् (वै० व्या० ३३६ ङ); सा० "विचार्य"। ग्रा०, गै० आदि आधुनिक विद्वान् इसका अर्थ "खोज कर के" करते हैं। परन्तु दोनों का भावार्थ समान है। मनीषा=तृ० ए०; वै० "प्रज्ञानेन", सा० "बुद्ध्या"। ग्रा० तथा मै० इसका अर्थ "with wisdom" करते हैं, जबकि गै० "through meditation" अनुवाद करता है। गै० का व्याख्यान अधिक उपयुक्त है, यद्यपि इन सब व्याख्यानों का भावार्थ समान है। मनीषा शब्द यहां

पर "मननयुक्त बुद्धि" का वाचक है; तु०—कठोप० २, ३, ६। कवयः=दे०—ऋ० १०, १४, ४ पर टि०।

५. तिरश्चीनो वितंतो रश्मिरेषाम्	तिरश्चीनः। विऽततः। रश्मिः। एषाम्।
अधः स्विदासी३दुपरिं स्विदासी३त्।	अधः। स्वित्। आसी३त्। उपरि। स्वित्। आसी३त्।
रेतोधा आसन्महिमानं आसन्	रेतःऽधाः। आसन्। महिमानः। आसन्।
त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः पुरस्तात्॥	स्वधा। अवस्तात्। प्रऽयतिः। पुरस्तात्॥

अनु०—उन (कवियों) के (एषाम्) (मननरूपी प्रकाश की) सर्वव्यापी किरण (तिरश्चीनः रश्मिः) सब ओर फैल गई (विततः)। क्या (वह सृष्टि-कारक तत्त्व) नीचे था या वह ऊपर था? (जल-रूपी) बीज को प्रदान करने वाले (रेतोधाः) थे तथा महत्तायुक्त देव (महिमानः) थे। स्वभाव अर्थात् स्वाभाविक शक्ति (स्वधा) नीचे थी और (जलरूपी बीज का) प्रदान (प्रयतिः) ऊपर था।

टि०—इस सम्पूर्ण ऋचा का तथा इसके अनेक पदों का अर्थ सन्दिग्ध है। रश्मिः एषाम्=इन दोनों पदों के व्याख्यान के विषय में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों में अनेक मतभेद हैं—वें० "एषां दिविस्थितानां देवानाम्···रश्मिः", सा० "एषाम् अविद्याकामकर्मणां वियदादिभूतजातानि सृजतां रश्मिः रश्मिसदृशो यथा सूर्यरश्मिः उदयानन्तरं निमेषमात्रेण युगपत्सर्वं जगत् व्याप्नोति तथा शीघ्रं सर्वत्र व्याप्नुवन् यः कार्यवर्गः", तै० ब्रा० २, ८, ६, ५ पर सा० "रश्मिः सूर्यरश्मिसमानः कश्चित्स्वयंप्रकाशः चैतन्यपदार्थः। एषां भूतभौतिकरूपाणां जगद्वस्तूनां मध्ये"। वा० सं० ३३, ७४ पर उ० केवल यज्ञपरक व्याख्यान करता है, जबकि म० यज्ञपरक के अतिरिक्त एक व्याख्यान सा० के समान और दूसरा व्याख्यान रश्मिः को "सूर्यरश्मियों के बीच सुषुम्णा नामक रश्मि" मानकर करता है। ग्रा० (कोष) के मतानुसार, "एषाम् (कवीनाम्)" ऋचा ४ में वर्णित कवियों के लिये आया है; और रूपकालंकार द्वारा आदि कवियों की जगत्सर्जनात्मिका शक्ति की तुलना लगाम से की गई है। इस प्रकार उसे "लगाम" कहा गया है। गै०, मै०, ग्रि० आदि अन्य विद्वान् भी एषाम् का प्रयोग "कवियों" के लिये मानते हैं। परन्तु ऋ० ८, २५ १८ (रश्मिना परि ममे) तथा अ० १०, ८, ३७

(सूत्रं विततम्) का निर्देश करते हुए गै० तथा मै० आदि विद्वान् रश्मिः का अर्थ "नापने की रस्सी" करते हैं। तदनुसार गै० इसका अनुवाद "plumbline" और मै० तथा रैनू "cord" करते हैं। गै० (दे०–जर्मन अनुवाद पर टि०) का अनुसरण करते हुए मै० V. R. में इस प्रकार टि० करता है—"रश्मिः —the meaning of this word here is uncertain, but it may be an explanation of बन्धु in 4c: the cord with which the sages (referred to by एषाम्) in thought measured out the distance between the existent and non-existent, or between what was above and below." ग्रि० इन पदों का अनुवाद "their severing line" करते हुए टि० करता है—"*Line* : a line drawn by the ancient Ṛishis to make a division between the upper world and the lower, and to bring duality out of unity." परन्तु M. H. R. में रश्मिः का अर्थ "किरण" करते हुए मै० ने प्रथम पाद का अनुवाद सर्वथा भिन्न किया है—"Their ray extended light across the darkness." मै० का अन्तिम व्याख्यान अधिक समीचीन है। यहां पर एषां रश्मिः का अभिप्राय है—"इन (कवियों) के (मननरूपी प्रकाश) की किरण"। ऋचा ४ में कवियों की जिस ज्ञानप्राप्ति का उल्लेख है उसी का विस्तार करते हुए, ऋषि रूपक द्वारा उनके मनन के एक अंश अर्थात् विचार को (मननरूपी प्रकाश की) "किरण" कहता है। तिरश्चीनः=इसका शाब्दिक अर्थ "तिरछा" अवश्य है जैसा कि भाष्यकारों ने माना है, परन्तु यहां पर इसका अभिप्राय "आर-पार जाने वाला अर्थात् सर्वव्यापी" है; तु०—ऋ० १, १९, ७. ८ का तिरः। विततः=तु०—ऋ० १, १९, ८ का आ तन्वन्ति। अधः स्विद् आसी३त्=द्वितीय पाद में उस एकम् (सृष्टिकारकतत्त्व) के सम्बन्ध में प्रश्न है, जैसा कि मै० ने M. H. R. में माना है। प्रश्न में प्रयुक्त होने के कारण आसीत् का ई प्लुत है (वै० व्या० ४५ क) और परस्पर विरोध को प्रकट करने के कारण प्रथम आसी३त् सोदात्त है (वै० व्या० ४१३ झ)। कवि अपने मनन की किरण से उस सृष्टितत्त्व की स्थिति का निश्चय करना चाहते थे—"क्या वह नीचे था या ऊपर था?" रेतोधाः, महिमानः= कवियों ने मनन के द्वारा खोज करके उपर्युक्त प्रश्न का जो समाधान पाया वह तृतीय तथा चतुर्थ पाद में वर्णित है; वें० "तथा जलस्य प्रदातारो भवन्ति देवाः महिमवन्तश्च" सा०—"रेतोधाः रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवाः आसन् अन्ये भावाः महिमानः। स्वार्थिक इमनिच्। महान्तो वियदादयो भोग्याः आसन्। एवं मायासहितः परमेश्वरः सर्वं जगत्सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः", तै० ब्रा० पर सा०—"सर्वे एते पदार्था भूतभौतिकरूपाः पूर्वोक्तस्य विततरश्मिरूपस्य स्वप्रकाशचैतन्यस्य रेतोधाः साररूपधारिण आसन्। तत्र चिदेकरसस्य हि वस्तुनः सद्रूपं सारं तच्च सर्वे पदार्था धारयन्ति, अस्तीत्येवं स्वरूपेणैव सर्वेषामवभासमानत्वात्। ते च सद्रूपधारिणः सर्वे महिमानो गिरिनद्यादिरूपेण महान्त आसन्"। ग्रा०, गै० तथा ग्रि० रेतोधाः का अर्थ "begetters" करते हैं और मै० V. R में इसका

अनुवाद "impregnators" और M. H. R. में "creative force" करता है। महिमानः का अर्थ ग्रा० "mighty beings", गै० "expansion-powers", ग्रि० "mighty forces", और मै० V. R. में "powers" तथा M. H. R. में "fertile power" करता है। टि० में "begetters" का व्याख्यान करते हुए ग्रि० कहता है—"*Begetters* : The Fathers may be meant." इन पदों के सम्बन्ध में गै० की भांति मै० इस प्रकार व्याख्यान करता है (V. R. ···, p. 210)—"रेतोधाः and महिमानः are contrasted as male and female cosmogonic principles, to which correspond respectively **प्रयतिः** and **स्वधा**. In TS. iv. 3, 11, 1 mention is made of **त्रयो महिमानः** connected with fertility." वेलंकर भी गै० तथा मै० आदि के मत का अनुसरण करता है। परन्तु वैदिक प्रयोग तथा विचारधारा से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है जिसके आधार पर इन पदों में पुं० तथा स्त्री० का विरोधात्मक अर्थ लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त यह तथ्य उल्लेखनीय है कि **महिमन्** शब्द पुं० है। अत एव इसके स्त्री० अर्थ का कोई आधार नहीं है। ऋ० ७, १०१, ६ में तथा सम्भवतः ३, ५६, ३ में **रेतोधा** शब्द "पर्जन्य" के लिये आया है, जो जलरूपी बीज को औषधियों में स्थापित करता है। ऋ० ५, ६९, २ में **त्रयो वृषभासो रेतोधाः** का उल्लेख है जो वें० तथा सा० के मतानुसार '**अग्निवायुसूर्याः**" हैं। यहां पर भी **रेतोधाः** शब्द का अर्थ "वर्षा-जलरूपी बीज को प्रदान करने वाले" हो सकता है, जैसाकि वें० का मत है। **महिमानः** (दे०—ऋ० १०, ९०, १६ पर टि०) पद उन "महत्तायुक्त" देवों के लिये आया है जिनका उल्लेख ऋ० १, १६४, ५० तथा १०, ९०, १६ में हुआ है। **स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्**=वें० "उदकम् अधस्ताद् गच्छति, यजमानानां प्रदानमुपरि", सा० "स्वधा अन्ननामैतत्। भोग्यप्रपञ्चः अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत्। प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत्", तै० ब्रा० पर सा० "स्वधाशब्दवाच्यमायाविद्यादिशब्देनाभिधीयमाना पारमेश्वरी शक्तिः अवस्तात् अधमं कारणम्। प्रयतिः। सा शक्तिः प्रयतते यस्मिन् परमात्मनि सोऽयं शक्तिप्रयत्नाधारः परमात्मा प्रयति"। **स्वधा** का अर्थ ग्रा० "own homeplace", गै० तथा रैनू "impulse", ग्रि० "free action" और मै० "energy" करता है। ग्रि० **स्वधा** का व्याख्यान "*Free action* : the happiness of the Fathers" करता है। उपर्युक्त विभिन्न व्याख्यानों में से किसी के लिये जब तक कोई वैदिक आधार न हो, तब तक उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। **स्वधा** का मुख्य अर्थ "स्वभाव या स्वाभाविक शक्ति" है, जैसा कि ऋ० १, १५४, ४ तथा ऋचा २ पर टि० से स्पष्ट है। यहां पर भी वही अर्थ उपयुक्त है। **प्रयतिः** का अर्थ ग्रा० "gift of *retas*,", गै० "gift", ग्रि० "energy" और मै० "impulse" करता है। ऋ० १, १०९, २ तथा १२६, ५ में **प्रयति** का जो प्रयोग मिलता है उसके आधार पर प्र+√यम् से इसकी व्युत्पत्ति मान कर "प्रदान" अर्थ करना उचित है और प्रसंगानुसार यहां पर "रेतस् (जल) का प्रदान" मानना समीचीन है।

६. को अ॒द्धा वे॑द॒ क इ॒ह प्र वो॑च॒त्	कः । अ॒द्धा । वे॒द॒ । कः । इ॒ह । प्र । वो॒च॒त् ।
कुत॒ आजा॑ता॒ कुत॑ इ॒यं विसृ॑ष्टिः ।	कुत॑ः । आऽजा॑ता । कुत॑ः । इ॒यम् । विऽसृ॑ष्टिः ।
अ॒र्वाग्दे॒वा अ॒स्य वि॒सर्ज॑ने॒ना-	अ॒र्वाक् । दे॒वाः । अ॒स्य । वि॒ऽसर्ज॑नेन ।
था को वे॑द॒ यत॑ आब॒भूव॑ ॥	अथ॑ । कः । वे॒द॒ । यत॑ः । आ॒ऽब॒भूव॑ ॥

अनु०—कौन सचमुच जानता है (अद्धा वेद) ? कौन यहां पर बता सकता है (प्र वोचत्)—यह कहां से उत्पन्न हुई (आजाता), यह विविध प्रकार की सृष्टि (इयं विसृष्टिः) कहाँ से आई ? इस जगत् के निर्माण के द्वारा (अस्य विसर्जनेन) देवगण पीछे (अर्वाक्) प्रकट हुए। तब (अथ) (उस स्रोत को) कौन जानता है जहां से (यह विविध प्रकार की सृष्टि) उत्पन्न हुई (यतः आबभूव)।

टि०—प्र वोचत्=√वच्+अङ्—लुङ् के अङ्ग से विमू० प्र० पु० ए० (वै० व्या० २६६ क; ७म अध्याय की टि० २६८)।

छ०—द्वितीय पाद में बारह अक्षर हैं। सन्धि-विच्छेद द्वारा विसर्जनेन अथा उच्चारण अपेक्षित है।

७. इ॒यं विसृ॑ष्टि॒र्यत॑ आब॒भूव॒	इ॒यम् । विऽसृ॑ष्टिः । यत॑ः । आ॒ऽब॒भूव॑ ।
यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न ।	यदि॑ । वा॒ । द॒धे । यदि॑ । वा॒ । न ।
यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्	यः । अ॒स्य॒ । अधि॑ऽअक्षः । प॒र॒मे । विऽओ॑मन् ।
त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑ ॥	सः । अ॒ङ्ग । वे॒द॒ । यदि॑ । वा॒ । न । वेद॑ ॥

अनु०—यह विविध प्रकार की सृष्टि जिससे (यतः) उत्पन्न हुई,

(उसने इसे) बनाया (दधे) या नहीं बनया ? उच्चतम आकाश में (परमे व्योमन्) जो इस जगत् का निरीक्षक (अध्यक्षः) है, वही (इस तथ्य को) जानता है, या वह भी नहीं जानता ?

टि०—दधे = √धा+लिट् प्र० पु० ए० आ०, वें० "स स्रष्टा धारयति यदि वा न", सा० "यतः परमात्मनः इयं विसृष्टिः आजाता सोऽपि दधे धारयति यदि वा न धारयति। ·· यद्वा। स···दधे विदधे इदं जगत् ससर्ज यदि वा न ससर्ज", तै० ब्रा० पर सा० "इयं ··सृष्टिर्यत ··· उत्पन्ना तदुपादानकारणं यदि वा किंचित्स्वरूपं धृत्वाऽवतिष्ठते यदि वा तस्य स्वरूपमेव नास्ति···"। ग्रा० इसे कवा० मान कर दधे का अर्थ "बनाई गई" करता है, जबकि गै०, ग्रि० तथा मै० आदि ऋ० पर सा० के द्वितीय व्याख्यान को स्वीकार करते हैं और यही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। द्वितीय पाद का भावार्थ यह है कि जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई उसने इसे बनाया या यह सृष्टि स्वयं ही यदृच्छा से उत्पन्न हो गई; तु०—श्वेता० उप० १, २। वेद=प्रथम तथा द्वितीय पाद का प्रश्न इस क्रिया का कर्म है। अङ्ग=दे० ऋ० १, १, ६ पर टि०।

छ०—द्वितीय पाद में केवल नौ अक्षर हैं। ग्रा०, मै० आदि व्योमन् के लिये विओमन् उच्चारण सुझाते हैं।

———

व्याख्यात-शब्दानुक्रम-कोषः

अभीवृत (अभि + √वृ + क्त) "सुसज्जित" १, ३५, ४.

अभ्व "(शरीररहित) पीडक बल या शक्ति" २, ३३, १०; ४, ५१, ९.

अमीतवर्णा (बस०) "अपरिवर्तित-वर्ण-युक्त" ४, ५१, ९.

अमुया (क्रिवि०) "उस बुरे ढंग से" १, ३२, ८.

अमूर "अज्ञानरहित, ज्ञानी" ७, ६१, ५.

अमृत "अमर देवगण" १०, १२९, २.

अयन "गमन" ३, ३३, ७.

अयोद्धृ (तस०) "युद्ध से अनभिज्ञ पुरुष" १, ३२, ६.

अरपस् (बस०) "शारीरिक पीड़ा-रहित" २, ३३, ६.

अराति "दुर्भावना" ४,५०,११; ८, ४८, ३; १०, ३४, १४.

अरि "निर्दयी स्वामी", "शत्रु" ४, ५०, ११; ८, ४८, ८.

अरुणप्सु (बस०) "रक्तवर्ण वाला" १, ४९, १.

अरुष "रक्तवर्ण वाला घोड़ा (मेघ)" १, ८५, ५; "रक्तवर्ण वाला" (सूर्य) ७, ७१, १.

अरेणु (बस०) "धूलिरहित" १, ३५, ११.

अर्क "स्तुतिगान" १, ८५, २.

सम् + √अर्च् "सर्वत्र स्तुति करना" : समानृचे १, १६०, ४.

अर्चत् "गाता हुआ" १, ८५, २; ८, २९, १०.

अर्जुनी "श्वेत वर्ण वाली (उषा)" १, ४९, ३.

अर्णव "बाढ़" १, ८५, ९.

अर्थिन् "शीघ्रगतियुक्त" १०, १२७, ५.

अर्य "उदार" ७, ८६, ७; "श्रेष्ठ" १०, ३४, १३.

√अव् "सहायता करना, अनुग्रह करना" : आवत् १,८५, ७; अविष्टम् ४, ५०, ११; अवाथ: ७, ६१, २.

अवत (रू०) "(कूप की तरह) जलपूर्ण मेघ" १, ८५, १०. ११; ४, ५०, ३.

अवमा "आसन्न" ७, ७१, ३.

अवस् "सहायता" १, ३५, १; ८५, ११.

अवसित (अव + √सो + क्त) "स्थावर" १, ३२, १५.

अवस्यु "सहायता का इच्छुक" ३, ३३. ५; ४, ५०, ९.

√अश् "प्राप्त करना" : आशत १, ८५, २; अशीय २, ३३, २. ६; अश्नुवते ७, १०३, ९.

अश्व (रू०) (व्यापनशील) "अक्ष" १०, ३४, ११.

अश्व्य "अश्व-सम्बन्धी" (?) १, ३२, १२.

√अस् "होना" : आसु: ४, ५१, ७; आस ७, ८६, ४; आसीत् १०, १२९, २; आ: १०, १२९, ३.

परि– "सब ओर उपस्थित होना" : परिष्ठ ७, १०३, ७.

असत् "कारणरूपी अव्यक्त" १०, १२९, १.

असश्चत् (बस०) "कभी क्षीण न होने वाली" १, १६०, २.

असुर "प्राणवान्" १, ३५, ७.

असुर्यं "प्राणशक्ति" २, ३३, ६.

अस्मे "हमारे लिये" १, १६०, ५; २, ३३, १२.

अहि (रू०) "वृत्ररूपी सांप" १, ३२, १–५.

अहिगोपा (बस०) "अहि (वृत्र) जिनका रक्षक है वे (जल)" १, ३२, ११.

आणि "पहिये को धुरे से निकलने से रोकने वाली कील" १, ३५, ६.

√आप् "प्राप्त करना" : आप ४, ५१, ७.

आभु "प्रादुर्भूत होने वाला तत्त्व" १०, १२६, ३.

आयती "आती हुई" १०, १२७, १. ३.

आयसी "लोहे की बनी हुई" ८, २६, ३.

√इ "जाना" : आयन् ३, ३३, ७; अयन् ७, ६१, ४.
"प्रार्थना करना" : एमि ८, ४८, १०; अव– "पास पहुंचना" : अव+इयाम् ७, ८६, ४.

इळा "यज्ञीय अन्न" ४, ५०, ८.

इदम् "अब" ४, ५१, १.

इन्दु "बिन्दु (सोमरस)" ८, ४८, २.

इन्द्रजूत (तस०) "इन्द्र द्वारा त्वरित किया हुआ" ३, ३३, ११.

इन्द्रशत्रु (बस०) "इन्द्र जिसका शत्रु (घातक) है वह (वृत्र)" १, ३२, ६. १०.

इन्द्रिय "इन्द्रसम्बन्धी" १, ८५, २.

√इन्व् "प्रेरित करना" : सम्– "एक-साथ प्रेरित करना" : समिन्वतम् १, १६०, ५.

इरिण "द्यूतक्रीड़ा के लिये बनाई गई छोटी सी खाई जिसमें पासे फेंके जाते थे" १०, ३४, १. ६.

इर्य "सावधान" ६, ५४, ८.

इषयन्ती "प्रेरित करती हुई" ३, ३३, १२.

इषित "प्रेरित" ३, ३३, ११.

इषिर "प्रेरणायुक्त" ८, ४८, ७.

√ई "जाना" : ईयते १, ३५, ६; १६०, १; "याचना करना" : ईमहे ६, ५४, ८.

ईजान (√यज्+कानच्) "यज्ञ करता हुआ" ४, ५१, ७.

ईम् (इदम् आदि सर्वनामों के द्वितीया के रूपों के अर्थ में) १, ८५, ११; "एवं" ७, १०३, ३.

√ईश् "स्वामित्व करना"; "शासन करना"; ईशत ८, ४८, १४.

उक्षित (√उक्ष्=√वक्ष् "बढ़ना"+क्त) "प्रवृद्ध" १, ८५, २.

उच्छन्ती (√वस् "चमकना"+शतृ का स्त्री०) "चमकती हुई" ४, ५१, २.

√उद् (धापा० √उन्द्) "गीला करना" : वि– "विशेषतया गीला करना" : व्युन्दन्ति १, ८५, ५.

उद्वत् "ऊर्ध्वगामी मार्ग" १, ३५, ३; "ऊंचा स्थान" १०, १२७, २.

उपपृच् "संपृक्त" १, ३२, ५.

उपम "उच्चतम" ८, २६, ९.

उपस्थ "गोद" १, ३५, ५–६.

उपार "अपराध" ७, ८६, ६.

√उब्ज् "बलपूर्वक निकालना" : निर्–

"बलपूर्वक बाहिर निकालना" : निर्+औब्जत् १, ८५, ९.

उरु "विशाल अन्तरिक्ष" ७, ६१, ३; १०, १२७, २.

उरुव्यचस् (बस०) "विशाल विस्तार वाली" १, १६०, २.

उरुष्यु "रक्षक" ८, ४८, ५.

उर्वी "विशाल" ३, ३३, ६.

उशत् (√वश्+शतृ) "इच्छा करता हुआ" ७, १०३, ३ (स्त्री०) उशती ३, ३३, १.

उस्रयामन् (बस०) "देदीप्यमान मार्ग वाला" ७, ७१, ४.

उस्रिया (रू०) "मेघ-जलरूपी गाय" ४, ५०, ५.

ऊति (√अव्+क्तिन्) "सहायता" १, ३५, १.

ऊर्व "विशाल मेघ" ४, ५०, २.

√ऋ "जाना" : अभि– "व्याप्त होना" : अभि+ऋणोति १, ३५, ९.

आ– "प्राप्त होना" : आरताम् ३, ३३, १३.

प्र– "प्रेरित करना" : प्रारन् १, ४९, ३. प्र+इर्यति ७, ६१, २.

णिजन्त– अर्पय २,३३,४; यङ्लुगन्त-अलर्ति ८, ४८, ८.

ऋक्वत् "स्तुतिगानयुक्त" (गण) ४, ५०, ५.

ऋचसे (√ऋच्+तुमर्थक असे) "स्तुति करने के लिए" ७, ६१, ६.

ऋजीष "सहसा सीधा आगे बढ़ने वाला" १, ३२, ६.

ऋतजातसत्या (बस०) "शाश्वत नियम के अनुसार उत्पन्न सत्य (सत्ता) वाली" (उषा) ४, ५१, ७.

ऋतयुज् "शाश्वत नियम के अनुसार जोता जाने वाला" (अश्व) ७, ७१, ३; ४, ५१, ५.

ऋतस्पृश् "शाश्वत नियम का निरन्तर पालन करने वाला" ४, ५०, ३.

ऋतावन् "शाश्वत नियम का पालन करने वाला" ७, ६१, २.

ऋतावरी "शाश्वत नियम का पालन करने वाली" ३, ३३, ५.

ऋतु "नियत समय" १, ४९, ३.

ऋदूदर "दयालु" २, ३३, ५; ८, ४८, १०.

√ऋध् "समृद्ध करना" : अनु– "समृद्धि के निमित्त अनुकूल होना" : अनु+ऋध्या : ८, ४८, २.

ऋधक् (क्रिवि०) "पृथक्-पृथक्" ७, ६१, ३.

√ऋष् 'वेगपूर्वक बहना" : अर्षात् ३, ३३, ११.

ऋष्टि "आयुध-विशेष" १, ८५, ४.

ऋष्व "उच्च" ७, ६१, ३; ८६, १.

एक "अद्वितीय" १, ३२, १२; १०, १२९, २.

एकपर (तस०) "एकमात्र-प्रधान" १०, ३४, २.

एव "गमन, प्रवाह" ३, ३३, ५.

एव (अव्यय) "ऐसे" २, ३३, १५ "एवम्" ४, ५०, ६.

ककुभ् "दिशा" १, ३५, ८.

कनिक्रदत् (√क्रन्द्+यलु०+शतृ) "गर्जता हुआ" ४, ५०, ५.

कनिष्कन्—दे० √स्कन्द् के नीचे

कर्तवे (√कृ+तवे) "करने के लिये" १, ८५, ९.

कल्मलीकिन् "जाज्वल्यमान" २, ३३, ८.

काम "इच्छा" १०, १२६, ४.

कारु "स्तोता, कवि" ३, ३३, ८.

काष्ठा "जलधारा" १, ३२, १०.

किंयु "किस वस्तु का इच्छुक" ३, ३३, ४.

√कित् "जानना" : दे०—√चित्.

कुमारदेष्ण (बस०) "जिस का दान बच्चों के दान के सदृश है वह" १०, ३४, ७.

कृ "करना" कृणवत् ८, ४८, ३; कृणवन् ४, ५१, १; कृणुष्वम् १०, ३४, १४; कृणुहि ८, ४८, ६; चकृम ४, ५४, ३; ७, ८६, ५; चकार १, ३२, १; चक्राते ८, २९, ९; चक्रिरे १, ८५, १; अक्रत १०, ३४, ५; अक्रत ७, १०३, ८; अकारि ७, ६१, ७.

अरम्—"सेवा करना": अरम्+कराणि ७, ८६, ७.

उप+आ—"लाना, उपहार देना" : उप+आ+अकरम् १०, १२७, ८.

नि—"नीचा करना" : नि कर् ३, ३३, ८.

निर्—"निर्माण करना, तैयार करना": निर्+अस्कृत (पपा. अकृत) १०, १२७, ३.

कृत "द्यूत में विजयी कराने वाला दांव" १०, ३४, ६.

कृशन (रू०) "तारारूपी मोती" १, ३५, ४.

कृष्टि "लोग" १, १६०, ५.

कृष्णी "काली" (रात्रि) ७, ७१, १.

√कॄ "बखेरना" : अकिरत् १, ३२, १३.

केवट "गढा, खड्ड" ६, ५४, ७.

कोश "रथ पर स्थापित आसन" ६, ५४, ३.

क्रतु "प्रज्ञा" ७, ६१, २.

√क्रुध् "क्रोध करना" : ण्यर्थक प्रयोग: चुक्रुधाम २, ३३, ४.

क्षत्र "बल, शासन-बल" १, १६०, ५.

√क्षम् "क्षमा करना" : अभि—"पूर्णतया क्षमा करना" : अभि चक्षमीथा : २, ३३, ७

१.√क्षि "निवास करना, रहना" : क्षेति ४, ५०, ८.

२.√क्षि "स्वामित्व करना, शासन करना" : क्षयति १, ३२, १५.

क्षेम (√क्षि+म) "सुखपूर्वक निवास, विश्राम" ७, ८६, ८.

खनित्रिम "खोद कर निकाला हुआ" (जल) ७, ४९, २.

खात (√खन्+क्त) "खोदा गया" ४, ५०, ३.

√ख्या "देखना" अभि- "ध्यान के द्वारा दर्शन करना" : अभि ख्यम् ७, ८६, २.

वि—"विशेषतया देखना" वि+अख्यत् १, ३५, ७; १०, १२७, १; वि+अख्यन् १, ३५, ५.

गण "मरुद्गण" ४, ५०, ५.

गुभीरवेपस् (बस०) "गहरी अन्तःप्रेरणा वाला" १, ३५, ७.

√गम् "जाना" : अग्मन् ७, ७१, ६; अगन्म ३, ३३, ३; अगन्म ८, ४८, ३.

अव—"नीचे की ओर जाना" : अव जग्मुः १, ३२, २.

आ—"आना" : आ गहि १, ४६, १; ६, ५४, ७.

सम्—"संगति करना" : सम्+गमेमहि ६, ५४, २.

गर्तसद् (तस०) "उच्चासन पर आसीन" २, ३३, ११.

गव्यत् (गो+य+शतृ) "गायों की इच्छा करता हुआ" ३, ३३, ११.

गव्यु "गायों का इच्छुक" ३, ३३, १२.

√गा "जाना" : अभि—"पास पहुंचना" : अभि+जिगाति ७, ७१, ४.

आ—"आना" : आगात् १, ३५, ८.

परि—"सर्वतः दूर जाना" : परि+गात् २, ३३, १४.

प्र "आगे बढ़ना, जाना" : प्रागा : ८, ४८, २; प्र जिगात १, ८५, ६.

√गुप् "रक्षा करना" : जुगुपु : ७, १०३, ६.

गूळ्ह (√गुह्+क्त) "छिपाया हुआ" १०, १२६, ३.

१.√गृ "स्तुति करना" : गृणीषे २, ३३, १२; गृणीमसि २, ३३, ८.

२.√गृ "जागना" : ण्यर्थक प्रयोगः जिगृतम् ४, ५०, ११.

गृणान (√गृ+शानच् कवा०) "संस्तुत किया जाता हुआ" १, ३५, १०; १६०, ५.

गृत्स "बुद्धिमान्" ७, ८६, ७.

√गृध् "लोभ करना" : अगृधत् १०, ३४, ४.

गो "वर्षाजल" १, ३२, १२; "गोचर्म-निर्मित रस्सी" ८, ४८, ५.

गोमातृ (बस०) "जिनकी माता गाय है वे" (मरुद्गण) १, ८५, ३.

√ग्रभ् "ग्रहण करना" :

अनु- "अनुकूल होते हुए पकड़ना" अनुगृभ्णाति ७, १०३, ४.

ग्राम "संघ, समूह" ३, ३३, ११; १०, १२७, ५.

घर्मिन् (श्लिष्ट) "धर्मपात्र से युक्त" (ऋत्विज्) तथा "सूर्यातप से संतप्त" (मेण्डक) ७, १०३, ८.

√घुष् "घोषणा करना" :

आ- "सब ओर उद्घोषित करना" : आ घोषान् ३, ३३, ८.

घृणि "धूप" २, ३३, ६.

घृष्वि (√घृष्=√हृष्+वि) "हृष्ट" १, ८५, १.

घोर "भयंकर" (जादू) १०, ३४, १४.

चक्र "रथ का पहिया", ६, ५४, ३.

√चक्ष् चष्टे, ७, ६१, १; प्र चक्षय ८, ४८, ६; वि चष्टे १०, ३४, १३.

√चत् चातयस्व २, ३३, २.

चतुष्पद् (बस०) "चार पांवों वाला प्राणिजात", १, ४६, ३.

चन (निपात) "अपि" ७, ८६, ६.

√चर् वि चरन्ति १,३२,१०; प्र चर ८, ४८, ६.

चरन्ती (स्त्री०) "अग्रसर होती हुई", ३, ३३, ४.

चरित्र "पाँव", ८, ४८, ५.

चर्षणि "मनुष्य" १, ३२, १५.

चिकित्वस् (√चित्+क्वसु) "जानता हुआ", ७, ८६, ३.

√चित् √कित् "जानना" दे०, अचेतयत् ७, ८६, ७; आ– आ+चिकेत ७, ६१, १.

√चित् (धापा० √कित्), चिकेतत् १, ३५, ६; चितयन्त ४, ५१, ३.

चित्र (ना०) "दीप्ति", ७, ६१, ५.

चित्रभानु (बस०) "देदीप्यमान प्रकाश वाला", १, ३५, ४; ८५, ११.

चिद् (निपात) "इव", १, ४६, ३; २, ३३, १२.

चेकितान "जानता हुआ, सर्वज्ञ", २, ३३, १५.

√छन्द् "आह्लादित करना", अच्छान्, १०, ३४, १.

जग्मि "गमनशील", १, ८५, ८.

√जन् जजान, १, १६०, ४.

जनि "पत्नी, स्त्री", १, ८५, १.

जनुस् "प्राणी", ७, ८६, १.

√जर् "समीप आना, चलना", जरन्ते ४, ५१, ८.

जरितृ "स्तोतृ", ३, ३३, ८.

जलाष "शारीरिक पीड़ाओं को शान्त करने वाला", २, ३३, ७.

जलाषभेषज (बस०) "शारीरिक पीड़ाओं को शान्त करने वाली औषधों से युक्त"; ८, २९, ५.

जल्पि "व्यर्थ बात-चीत", ८, ४८, १४.

√जस् "क्षीण करना", जजस्तम्, ४, ५०, ११.

जागृवि "जगाने वाला", १०, ३४, १.

जिगीवस् "विजयी", १०, १२७, ८.

√जिन्व् "सक्रिय करना" (पर्जन्य-जिन्विताम्) ७, १०३, १.

जीव "जीवलोक", ४, ५१, ५.

जीवसे (√जीव्+असे) "जीने के लिए", ८, ४८, ४.

√जुष् "प्रीतिपूर्वक सेवन करना", प्रति जुषस्व, ३, ३३, ८; प्र जुजुषन्, ७, ६१, ६.

√जू "शीघ्र गति से जाना", जवेते, ३, ३३, १; जुनाति, ७, ८६, ७.

जूत (इन्द्रजूत में) 'त्वरित किया हुआ", ३, ३३, ११.

जोहवीति (√ह्वे+यङ्लुक्) "बार-बार पुकारता है", ३, ३३, ४.

ज्मा "पृथिवी", ४, ५०, १.

ज्योतिष् "प्रकाश", ४, ५०, ४.

√तंस् "हिलाना", ततस्रे ४, ५०, २.

√तक्ष् "घड़ना", ततक्ष १, ३२, २.

ततन्वस् (√तन्+क्वसु) "फैलाता हुआ", ७, ६१, १.

√तन् ततान, १, ३५, ७; ततनाम, १, १६०, ५; तनुष्व २, ३३, १४; आ ततन्थ, ८, ४८, १३.

तनू "स्वयम्", ७, ८६, २. ५.

तपन "संतप्त करने वाला", १०, ३४, ७.

तमिषीची (वि०) "थकाने वाली, सांस फुलाने वाली" ८, ४८, ११.

तापयिष्णु "सन्तापनशील", १०, ३४, ७.

तिरश्चीन "सर्वव्यापी" १०, १२९, ५.

तुच्छ्य "तुच्छ (जल)", १०, १२९, ३.

तुर "शीघ्र", ७, ८६, ४.

तुविजात (बस०) "महान् जन्म वाला", ४, ५०, ४.

तुविबाध "बहुतों को दबाने वाला", १, ३२, ६.

√तृद् "चुभोना", ततर्द, १, ३२, १.

√तृप्, तर्पयन्त १, ८५, ११.

√तॄ "पार करना"; अतारीत् १, ३२, ६; अतरः १, ३२, १४; सम् अतारिषुः ३, ३३, १२; प्र तिराते ७, ६१, ४; प्र तिरन्ते ७, १०३, १०; प्र तारी : ८, ४८, ४. ७. वि तिरन्ति "नष्ट करते हैं", १०, ३४, ६.

√त्रस् "डर से कांपना", निरत्रसन्, ८, ४८, ११.

त्रिकद्रुक "तीन विशेष प्याले" (रू०) "तीनों लोक", १, ३२, ३.

त्रिपञ्चाश (बस०) "५३ संख्या वाला" १०, ३४, ८.

त्रिधातु "तिगुना", १, ८५, १२.

त्रिवन्धुर (बस०) "तीन आसनों वाला" ७, ७१, ४.

त्रिषधस्थ "तीन निवास-स्थानों वाला" ४, ५०, १.

√त्रै "रक्षा करना" त्रासीथाम् ७, ७१, २; त्राध्वम्, ८, ३०, ३.

त्वक्षीयस् "अत्यधिक शक्तिशाली", २, ३३, ६.

त्वादत्त (त० स०) "तेरे द्वारा दिया गया", २, ३३, २.

त्वेष "दीप्त", २, ३३, ८. १४.

त्वेष-संदृश् (बस०) "दीप्त दर्शन वाला" १, ८५, ८.

दक्ष "बुद्धि", ८, ४८, ८; 'विवेक", ७, ८६, ६.

ददत् "(दा+शतृ)" "देता हुआ", ७, १०३, १०.

दधत् (√धा+शतृ) "देता हुआ", १, ३५, ८.

दधान (√धा+शानच्) "धारण करता हुआ" १, ३५, ४.

√दय् "समाप्त करना" दयसे २, ३३, १०.

दादृहाण (√दृह्+कानच्) "अतिदृढ़" १, ८५, १०.

दाश्वस् "उपासक" १, ३५, ८; ८५, १२, ७, ७१, २.

दास (अन्तोदात्त संज्ञापद) "भृत्य", ७, ८६, ७.

√दा "देना", अदात् ७, १०३, १०; दा : ८, ४८, ८. दाताम् १०, १४, १२.

दानु "वृत्र की माता", १, ३२, ९.

दामन् (√दा "बान्धना" + मन)- "रस्सी", ७, ८६, ५.

√दिव् "जूआ खेलना", दीव्यः १०, ३४, १३.

दिव् "द्युलोक", १, ४९, १; ३, ६१, ६.

दिव्य "अन्तरिक्ष-सम्बन्धी", ७, ४६, २.

√दीप्– "देदीप्यमान करना", सं विदीप: ८, ४८, ६.

दीध्यान (√धी+शानच्) "ध्यान करता हुआ", ४, ५०, १.

दुरित "संकट, दुर्गति", १, ३५, ३.

दुष्टुति "बुरी स्तुति", २, ३३, ४.

√दुह् दुक्षत, १, १६०, ३.

√दृश् ददृशे ७, ६१, ५.

दैव्य "दिव्य", १, ३५, ५.

√दो दिषीय २, ३३, ५.

द्यावापृथिवी "द्युलोक तथा पृथिवी", १, ३५, ६.

द्यो "द्युलोक", १, ३५, ६. ७; "दिन" १, ३२, ४.

द्रुह् "बुरा करने वाली शक्ति", ७, ६१, ५.

द्विपद् (बस०) "दो पांवों वाला प्राणि-जात", १, ४६, ३.

दविषाणि (√दू+लेट्) "मानसिक संताप से जलूंगा", १०, ३४, ५.

दासपत्नी (बस०) "दास (निकृष्ट विरोधी), जिसका पति (नियन्ता) है वह", १, ३२, ११.

दिदृक्षु "प्रकट होने वाला", ७, ८६, ३.

दीर्घश्रुत् "सुप्रसिद्ध", ७, ६१, २.

√दू "जलना", दविषाणि, १०, ३४, ५.

दूळभ "किसी के द्वारा न ठगा जाने वाला", ७, ८६, ४.

दृष्ट्वाय (√दृश्+त्वाय) "दिखा कर" १०, ३४, ११.

देवहिति (तस०) "दिव्य विधान" ७, १०३, ६.

द्वादश (अन्तोदात्त) "बारह मास वाला" (वर्ष) ७, १०३, ६.

द्विता (अव्यय) "दो प्रकार से" ७, ८६, १.

दुर्मद "बुरी तरह नशे में चूर", १, ३२, ६.

दृति (रूप०) "चर्ममय रसद्रव्याधार पात्र" (मेघ), ७, १०३, २.

धन्वन् "मरुभूमि, मैदान", १, ३५, ८,

√धम् (ध्मा) "फूंक मारना", अधमत् ४, ५०, ४.

√धा धत्ते १, ८५, ६; धत्त, १, ८५, १२; धासथ: १, १६०, ५; दधिरे ४, ५०, १; दधु: ४, ५१, ६; धत्ताम् ४, ५१, ११.

धामन् "तेज", १, ८५, ११; ७, ६१, ४.

धारयत्कवि "कवि को धारण करता हुआ", १, १६०, १.

धिषणा "धारण करने वाली", १, १६०, १.

१. √धी "ध्यान करना", आ दीध्ये, १०, ३४, ५.

२. धी "प्रज्ञा" ४, ५०, ११.

धीर "प्रज्ञावान्" ७, ८६, १.

धुनेति (बस०) "सब कुछ हिलाते हुए गमन करने वाला", ४, ५०, २.

प्रतिदोषम् "प्रत्येक रात्रि में" १, ३५, १०.

प्रवत् "निम्नगामी मार्ग, ढलान का मार्ग" १, ३५, ३.

प्रसव "प्रेरणा" ३, ३३, २; "प्रवाह", ३, ३३, ४.

√प्रा आ अप्राः १०, १२७, २.

प्राची "प्राङ्मुखी, सामने", १०, ३४, १२.

प्रावृषीण (वि०) "वर्षा-सम्बन्धी", ७, १०३, ७.

प्रावेप "हिला देने वाला", १०, ३४, १.

फलिग "मेघ", ४, ५०, ५.

बद्बधे—दे० √बध् ।

√बध् "बांधना", बद्बधे ७, ६१, ४.

बन्धु "बन्धुत्व, सम्बन्ध", १०, १२६, ४.

बभ्रु "भूरा", ८, २६, १; "भूरे रंग का पासा", १०, ३४, ५.

बर्हणा "महत्ता या महती" १०, ३४, ७.

ब्राह्मण "वेद मन्त्रों का अध्ययन करने वाला विद्वान्", ७, १०३, १. ७.

बिभ्यत् (√भी+शतृ) "डरता हुआ", १०, ३४, १०.

बुधाना "जागती हुई", ४, ५१, ८.

बृहत् "बड़ा मन", १०, ३४, १.

ब्रह्मन् (आद्युदात्त नपुं०) "प्रार्थना" ७, ६१, २. ६; ७१, ६; १०३, ८.

ब्रह्मन् (अन्तोदात्त पुं०) "प्रार्थना करने वाला" "वेदमन्त्र-ज्ञाता", ४, ५०, ८.

√ब्रू ब्रवीतु १, ३५, ६; ब्रूहि १, ३५, ११; ब्रवत ६, ५४, १. २.

√भज् "भागी होना", अभक्त, ३, ३३, १२; अभक्षि ८, ४८, १; भक्षीमहि, ८, ४८, ७.

भद्र "कल्याणमय", १, ४९, १.

√भिद् बिभिद्रु : १, ८५, १०; अभिनत्, १; ३२, १.

√भी, भयन्ते १, ८५, ८; अभैषुः, ८, ४८, ११.

भुवन "प्राणी", १, ३५, २; "विश्व" ४, ५१, ५.

भूमन् (नपुं०, आद्युदात्त) "भूमि", ७, ८६, १.

भूरि "विशाल", २, ३३, ६.

√भू बोधि, २, ३३, १५; भूतु, ४, ५०, ११; अभूम ८, ४८, ३; बभूयात् ४, ५१, ४; अभूवन् ७, ६१, ५; भुवानि, ७, ८६, २. भवासि, ८, ४८, २.

√भृ जभार, १, ३२, ९.

भूर्णि "गतिशील, शीघ्रगामी", ७, ८६, ७.

भोग "उपयोग", १०, ३४, ३.

√मद् मादयध्वम्, १, ८५, ६.

मदच्युत् "मदोत्पादक, हर्षोत्पादक", १, ८५, ७.

मधु "मधुर" १, ८५, ६; "माधुर्य" ४, ५०, ३.

√मन् "मनन करना", मन्वत ८, २६, १०.

मनः (रुहाणाः) "स्वच्छन्दतापूर्वक ऊपर उठते हुए जल", १, ३२, ८.

मनस् "मनन, विचार", १०, १२६, ४.

√रुज्, रुरोज, ४, ५०, ५.

रुद्र (तद्धितार्थ में) १, ८५, २.

रुजाना "रुकावट को तोड़ने वाली", १, ३२, ६.

√रुध्, अप अरोधम् १०, ३४, २; अप रुणद्धि, (अप + √रुध्) "बाहिर निकालना" १०, ३४, ३; रुणध्मि, १०, ३४, १२.

रुशत् "चमकता हुआ, श्वेत", ४, ५१, ६.

√रुह् "चढ़ना", आ अरुहत् ८, ४८, ११.

रूप "सुन्दरता", १, १६०, २.

रेतोधा "(जलरूपी) बीज को प्रदान करने वाला", १०, १२६, ५.

रेवत वि० "वैभव-सम्पन्न", ८, ४८, ६; (क्रिवि०) "वैभवपूर्वक", ४, ५१, ४.

रोचन "प्रकाशमान प्रदेश", १, ४९, १. ४.

वक्षणा "आन्तरिक भाग", १, ३१, १; ३, ३३, १२.

वग्नु "ध्वनि", ७, १०३, २.

√वच् : अधि— अधि वोचत, ८, ३०, ३; ४८, १४.

प्र— प्र वोचः, ७, ८६, ४; प्र वोचत् १०, १२६, ६.

वज्रबाहु (बस०) "जिसकी बाहु में वज्र है वह", ३, ३३, ६.

√वद् "बोलना", वदथन, ७, १०३, ५.

प्र—प्र प्रवादिषु: ७, १०३, १.

वध (पुं० अन्तोदात्त) "मारक अस्त्र" १, ३२, ५. ६.

वधर् (नपुं० आद्युदात्त) "मारक अस्त्र", १, ३२, ९,

√वन् "जीतना", विवासेयम् २, ३३, ६.

वनुस् "प्रतिस्पर्धा करने वाला", ४, ५०, ११.

वन्दमान "स्तुति करता हुआ", २, ३३, १२.

वपुष्या "सुन्दरी", १, १६०, २.

वयस् "अन्न", २, ३३, ६; ८, ४८, १.

वयोधा "अन्नदाता", ८, ४८, १५.

वयुनावत् "स्वरूप को प्रकट करने वाले विशेष चिह्नों से युक्त", ४, ५१, १.

वरिवस् "वरणीय वस्तु", ४, ५०, ९.

वरिवोवित्तर "वरणीय वस्तु को बहुत अधिक प्राप्त कराने वाला", ८, ४८, १.

वर्तवे (√वृ+तवे) "रोकना", ३, ३३, ४.

वर्वृतान (√वृत् + यङ्लुक् + शानच्) "विद्यमान", १०, ३४, १.

वल "रुकावट", ४, ५०, ५.

√वल्गूय (नाधा०) "आदर या अर्चना करना" वल्गूयति, ४, ५०, ७.

√वश् "इच्छा करना", वश्मि, २, ३३, १३.

१. √वस् "चमकना", ऊष, ४, ५१, ४.

२. √वस् "पहनना", अवासयत् १, १६०, २.

वसति "निवास-स्थान", १०, १२७, ४.

वसूयु (वसु+य+उ) "धन का इच्छुक" १, ४६, ४.

वस्न्य "मूल्यवान्", १०, ३४, ३.

वस्यस् (वि०) अधिक धनवान्" ८, ४८, ६; (क्रिवि०) "अधिक वैभवपूर्वक", ८, ४८, ९.

√वह् "ले जाना", नि ऊह्युः ७, ७१, ५.

वह्नि "वहन करने वाला", १, १६०, ३.

वाम "प्रिय वस्तु", ७, ७१, २.

वार "बाल" (?), १, ३२, १२.

वावशती (√वाश् + यङ्लुक् + शतृ) "ध्वनि करती हुई", ४, ५०, ५.

वाशी "बसूला", ८, २९, ३.

वाश्रा (√वाश्+र) "रम्भाती हुई" १, ३२, २.

वासर "प्रकाशमान", ८, ४८, ७.

वि "पक्षी", १, ८५, ७; १०, १२७, ४; (रू०) "अश्विनों का वाहन", ८, २९, ८.

विचर्षणि "विशेषतया देखने वाला", १, ३५, ९.

वितर (वि+तर) "दूरतर", २, ३२, २.

१. √विद् "जानना" :
वेद, ८, २९, ६; विद्धि, ८, ४८, ८.

२. √विद् "पाना" : विवित्से १, ३२, ४.

विदथ "यज्ञ", १, ८५, १; "धार्मिक उत्सव की सभा", २, ३३, १५.

विधान "पूर्वापर क्रम, विभाजन", ४; ५१, ६.

विपृच्छम् "पूछने के लिये", ७, ८६, ३.

विप्र "अन्तःप्रेरणायुक्त", ३, ३३, ४. १२ ; ७, ६१, २.

विभीदक "बहेड़े के फल से बना पासा" ७, ८६, ६; १०, ३४, १.

विरप्श "अत्यधिक बाहुल्य", ४, ५०, ३.

विराषाह् "मनुष्यों को अभिभूत करने वाली", १, ३५, ६.

विरुक्मत् "चमकता हुआ" (अस्त्र) १, ८५, ३.

विवृक्ण (वि+√व्रश्च्+क्त) "काटा गया", १, ३२, ५.

√विश् नि—नि अविक्ष्महि १०, १२७, ४; नि अविक्षत १०, १२७, ५; नि विशताम् १०, ३४, १४.

विश् "प्रजा", १, ३५, ५; ७, ६१, ३,

विश्वदेव (बस०) "सर्वदेवतारूप", ४, ५०, ६.

विश्वप्स्न्य (बस०) "विश्वरूप", ७, ७१, ४.

विश्वा "दोनों" ७, ६१, ५.

विषित (वि+√सि+क्त) "खोला गया", ३, ३३, १.

विषूची (विष्वञ्च् का स्त्री०) "सब ओर जाती हुई, सर्वव्यापक", २, ३३, २.

विषुण "व्यापनशील, फैलता हुआ", ८, २९, १.

विस्रस् "पतन", ८, ४८, ५.

वी "प्रेरित करना", वेति, १, ३५, ६.

वीर (रुद्र), २, ३३, १.

वीर्य "वीरतापूर्ण कार्य", १, ३२, १; ३, ३३, ७.

१. √वृ "चुनना" : अवृणीत, २, ३३, १३ ; वृणीष्व, १०, १२७, ८.

आ—आ वृणे, ३, ३३, ११.

२. √वृ "आच्छादित करना" : अव्रन् ४, ५१, २.

अप— अप ववार, १, ३२, ११.

आ — आ वरीवः १०, १२९, १.

√वृज् "दूर रहना" : परि– परिवृज्याः २, ३३, १४.

वृजन "परिवार", ७, ६१, ४.

वृत्र (नपुं०) "शत्रु", ८, २९, ४.

वृत्रतर "अतिशय अवरोधक", १, ३२, ५.

वृधे (√वृध्+ए) "बढ़ने के लिए", १, ८५, १.

वृषण्वसु (बस०) "वर्षाकारक किरणों से युक्त', ४, ५०, १०.

वृषन् "वर्षा करने वाला", १, ८५, ७; २, ३३, १३; ७, ६१, ५.

वृषभ (रू०) "द्युलोक", १, १६०, ३; "वर्षा करने वाला", २, ३३, ४; ७, ४९, १.

वृषल "दास" (?), १०, ३४, ११.

वृषव्रात (बस०) "वृष्टिकर्ताओं के समूह वाला", १, ८५, ४.

वृषायमाण "वृषा के समान आचरण करता हुआ", १, ३२, ३.

वेदन "सम्पत्ति", १०, ३४, ४.

वोढृ (√वह्+तृ) "वहन करने वाला", ७, ७१, ४.

√व्यथ् "अपने स्थान से विचलित होना", व्यथते, ६, ५४, ३.

व्यंसम् (क्रिवि०) "जिस प्रकार स्कन्धहीन हो वैसे", १, ३२, ५.

व्युच्छन्ती (वि+उच्छन्ती) "विशेषतया चमकती हुई", १, ४९, ४.

√व्रश्च् "काटना" वि— विवृश्चत्, ३, ३३, ७.

√शंस् "स्तुति करना", शंस ७, ६१, ४.

शंसत् "इच्छा करता हुआ", ४, ५१, ७.

शग्म "शक्ति-सम्पन्न", ७, ५४, ३.

शम् "सुख", २, ३३, १३ ; ७, ८६, ८.

शम "शांत", १, ३२, १५.

शम्या (युगकीलक) "जुए की कील", ३, ३३, १३.

शरु "अस्त्र, वज्र", ७, ७१, १.

शर्मन् "शरण", १, ८५, १२ ; १०, १२९, १.

शशमान (√शम्+कानच्) "देव-पूजा में प्रयत्नशील" (उपासक), १, ८५, १२; ४, ५१, ७.

शशयान (√शी+कानच्) "सोता हुआ", ७, १०३, १.

सर्ग "सहसा मुक्त किया गया समूह", ४, ५१, ८.

सर्गतक्त 'सहसा मुक्त की गई जलधारा द्वारा वेगपूर्वक प्रेषित", ३, ३३, ४.

सर्पिरासुतिः (बस०) "पिघला हुआ घृत जिनका पान है वे" (मित्रावरुणा), ८, २६, ६.

सलिल "अन्तरिक्षस्थ जलौघ", ७, ४६, १; १०, १२९, ३.

सहस्रभृष्टि (बस०) "सहस्र धार वाला", १, ८५, ६.

सहस्रसाव (तस०) "सहस्रों को उत्पन्न करने वाला" (वर्षर्तु), ७, १०३, १०.

सहूति "साथ आह्वान", २, ३३, ४.

सामन् "साम-गान", ८, २६, १०.

सायक "मारक", १, ३२, ३.

✓सिध् "सफल होना"; सिषेध, १, ३२, १३.

सिन्धु "नदी", १, ३२, १२; १, ३५, ८; सतलुज नदी, ३, ३३, ३. ५.

सीम् १, १६०, २.

सुक्रतु (बस०) "शोभन प्रज्ञा वाला", ७, ६१, २.

सुक्रतूया "शोभन प्रज्ञा वाले के समान आचरण", १, १६०, ४.

सुख (बस०) "चक्रनाभि के अच्छे छिद्र से युक्त" (रथ) १, ४६, २.

सुदंसस् (बस०) "शोभन कर्म वाला", १, ८५, १.

सुदानु (बस०) "अच्छा दानी", ७, ६१, ३.

(अच्छी वृष्टि प्रदान करने वाला) १, ८५, १०.

सुधित (✓धा + क्त) "सुप्रतिष्ठित", ४, ५०, ८.

सुधृष्टमा "अतिशय उत्साह वाली", १, १६०, २.

सुनीथ (बस०) "अच्छा पथप्रदर्शन करने वाला", १, ३५, ७.

सुपर्ण (बस०) "सुन्दर किरणों वाला', १, ३५, ७.

सुपाणि (बस०) "सुन्दर हाथ वाला", ३, ३३, ६.

सुपेशस् (बस०) "सुन्दर रूप वाला', १, ४६, २.

सुप्रकेतम् (क्रिवि०) "भली-भांति स्पष्ट रूप से", ४, ५०, २.

सुप्रतीक (बस०) "सुन्दर रूप वाला", ७, ६१, १.

सुभृत "सुपुष्ट", ४, ५०, ७.

सुमख (बस०) "सुपराक्रमी", १, ८५, ४.

सुमृळीक (बस०) "अच्छा दयालु", १, ३५, १०.

सुम्न "अनुग्रह', २, ३३, १. ६.

सुम्नायु (पपा० सम्नयु) "अनुग्रहयुक्त", ७, ७१, ३.

सुराधस् (बस०) "शोभनदानयुक्त", ३, ३३, १२.

सुवाच् (बस०) "शोभन वाणी वाली", ७, १०३, ५.

सुवीर (बस०) "अच्छे वीर पुत्रों वाला", १, ८५, १२.

सुवृक्ति "शोभन स्तुति", ७, ७१, ६.

सुशिप्र (बस०) "सुन्दर ओष्ठों वाला", २, ३३, ५.

सुशेव (बस०) "अच्छा सुख देने वाला", ८, ४८, ४.

सुश्रवस् (बस०) "सुकीर्तियुक्त", १, ४६, २.

सूनर (वि०) "सुन्दर", ८, २६, १.

सृक् "तीक्ष्ण आयुध", १, ३२, १२.

सृप्र "फैलता हुआ", ४, ५०, २.

सेना, २, ३३, ११.

√सो स्यन्ति १, ८५, ५.

सोम्य "सोम-सदृश" ३, ३३, ५.

√स्कन्द् "कूदना", कनिष्कन् ७, १०३, ४.

स्कन्धस् "वृक्ष का तना", १, ३२, ५.

√स्तम्भ् वि– वि तस्तम्भ ४, ५०, १; ७, ८६, १.

स्तवान (√स्तु+शानच्) "संस्तुत किया जाता हुआ", २, ३३, ११.

√स्था, अस्थात् १, ३५, ४.१०; ४, ५१, १; तस्थुः १, ३५, ५; ८५, ७; तस्थौ ४, ५०, ७.

अप– अप अस्थुः, ८, ४८, ११.

उप– उप प्रस्थित, १०, १२७, ७.

स्थिर "तना हुआ" (धनुष) २, ३३, १४.

स्पश् "गुप्तचर", ७, ६१, ३.

√स्पृ निः स्पर्तम् ७, ७१, ५.

√स्फुर् "उच्छलना", स्फुरन्ति, १०, ३४, ६.

स्यूमगभस्ति (बस०) "स्यूतरश्मि", ७, ७१, ३.

स्योन "सुखप्रद आसन", ४, ५१, १०.

स्राम "व्याधि', ८, ४८, ५.

स्वतवस् (बस०) "जिसका स्वरूप ही बल है वह", १, ८५, ७.

स्वधा "स्वाभाविक शक्ति", १०, १२६, २.

स्वधावत् "अपनी स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न", ७, ८६, ४. ८.

स्वपस् (बस०) "शोभन कर्म वाला", १, ८५, ६.

स्वयंजा "स्वयं निकलने वाला", (जल) ७, ४६, २.

स्वर्य "गर्जना करने वाला", १, ३२, २.

स्वर्विद् "स्वर्ग प्राप्त कराने वाला", ८, ४८, १५.

स्ववान् "धनवान्", १, ३५, १०.

स्वाधी (बस०) "शोभन-विचार-युक्त", ८, ४८, १.

स्वाभू "प्रभावशाली", ४, ५०, १०.

√हन् "मारना" अहन् १, ८५, ६; ३, ३३, ६; हंसि २, ३३, १५; उद् हन्तु, ३, ३३, १३; जिघांससि ७, ८६, ४.

हर्यश्व (बस०) "पीतवर्ण के अश्वों वाला इन्द्र", ८, ४८, १०.

हवीमन् "आह्वान", २, ३३, ५.

१. √हा "दूर जाना", अप जिहीते ७, ७१, १.

अप हासते, १०, १२७, ३.

२. √हा "छोड़ना", अव हीये, १०, ३४, ५.

हासमाना "स्पर्धा से दौड़ती हुई", ३, ३३, १.

√हिंस् हिंसीत् १०, १२१, ६.

हिरण्यपाणि "सुवर्णमय हाथों (किरणों) वाला", १, ३५, ६.

हिरण्यप्रउग (बस०) "सुवर्णमय अग्रभाग वाला" (रथ), १, ३५, ५.

हिरण्यशमी (बस०) "सुवर्णमय कील वाला", १, ३५, ४.

हिरण्यहस्त (बस०) "सुवर्णमय हाथों (किरणों) वाला", १, ३५, १०.

हिरण्याक्ष (बस०) "सुवर्णमय आँखों वाला", १, ३५, ८.

√हीड् "प्रतिकूल होना", जिहीळ, १०, ३४, २.

हीना "परित्यक्ता", १०, ३४, १०.

√हृ "क्रोध करना", हृणीषे २, ३३, १५.

ह्रादुनि "उपल-वृष्टि", १, ३२, १३.

√ह्वे अहूषत १, ४६, ४; अह्वे ३, ३३, ५; ह्वयामि १, ३५, १; हवते २, ३३, ५; जुहूवे १, ३२, ६; हुवे ७, ६१, ६; हुवेम ७, ७१, १.
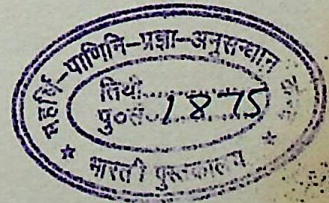
डॉ० रामगोपाल के चार प्रसिद्ध ग्रन्थों पर सम्मतियां

वैदिक-व्याकरण

डॉ० विश्वबन्धु शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, डी० लिट्०—

"इस ग्रन्थ में एक ओर जहाँ पाणिनीय व्याकरण के साथ अन्य शिक्षा तथा व्याकरण-सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों की तुलना की गई है, वहाँ साथ ही आधुनिक पश्चिमी भाषा-शास्त्रियों की अभिमत धारणाओं को भी तुलनात्मक रीति से अंकित कर दिया गया है"।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री, एम०ए०, एम०ओ०एल०, डी०फिल्० (आक्सफोर्ड)—

"प्रकृत ग्रन्थ निःसन्देह डॉ० रामगोपाल की तुलनात्मक व्यापक दृष्टि, सूक्ष्मेक्षिका, अनथक परिश्रम और सावधानता का एक नवीन स्पृहणीय उदाहरण उपस्थित करता है। प्राचीन भारतीय प्रातिशाख्यादि तथा पाणिनीय व्याकरण के पाण्डित्य के साथ-साथ वैदिक व्याकरण के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के अनुसन्धानात्मक प्रतिपादनों के गम्भीर अध्ययन के आधार पर लिखे गए इस द्वादशाध्यायात्मक ग्रन्थ का स्पष्टतः अद्वितीय महत्त्व है। अनेक दृष्टियों से यह ग्रन्थ अपने विषय की अनुपम कृति है"।

Dr. Suniti Kumar Chatterji, M. A., D. Litt.—

"This work will certainly remain an authoritative source-book for our earlier grammatical literature. This will be more than a book to teach Vedic Sanskrit—it is actually a work of reference. Your profound knowledge of Vedic Sanskrit and your method of basing your observation in every instance on the original texts have brought in an added value for your work. The views of the ancient Āchāryas have been placed side by side with those of modern Western scholars, and this makes your work a veritable *Maṇi-Kāñchana-Saṃyoga*".

Prof. Louis Renou, Paris—

"It is the first time, I think, that in India such a work is produced, and it is a good achievement indeed."

Prof. T. Burrow, Oxford—

"I found it to be a clear and helpful exposition of Pāṇini on the subject".

Prof. G. V. Devasthali, Poona—

"You have brought together with high critical acumen the Western and the Eastern views on important items in Vedic Grammar."

INDIA OF VEDIC KALPASŪTRAS

Journal Asiatique, Paris (reviewed by Prof. Louis Renou, University of Sorbonne, Paris : English translation of the original Review in French)—

"Dr. Ram Gopal's work is precious on account of abundance of facts, well classified and very well interpreted. While he is brief over the religious practices, the discussion of which would have led him to repeat what is found in Kane or elsewhere, he covers all the other spheres; and it should be borne in mind that Śrautasūtras in particular had never before been utilized outside the strict liturgy. Each text quoted is accompanied by a precise reference; many translations have been improved; and concordances with the Arthaśastra and the Smṛitis have been furnished. In brief, it is a work of reference which completes the Vedic Index of Macdonell and Keith which, as we know, rarely went up to Kalpa".

Vishveshvaranand Indological Journal, Hoshiarpur (reviewed by Dr. Vishva Bandhu)—

"Even though the author has treated of hundreds of directly or indirectiy related matters under the 129 sub-heads into which the 22 chapters of the book have been divided, yet he has been able to lend to his descriptions, discussions, criticisms and expositions the welcome charm of freshness at every step, making the reading of this otherwise quite heavy volume fairly interesting. This is an enviable achievement in the face of the fact that the subject of this treatise had already been treated of, threadbare, in the writings of savants of the calibre of Max Müller, Oldenberg, Hillebrandt, Winternitz, Caland, Kane, and others during the past century and half of kindred researches. Indeed, as evidenced by the quite respectable Bibliography at the end and the innumerable references coupled with the frequent and extensive quotations found in the body of the work, our author has waded through and raised his edifice, partly, on the basis of the said previous writings. But instead of passively toeing the line of his predecessors in his work, he has also studied anew the original texts in question and very often dared to differ and call into question the findings of the said predecessors, e. g pp. 57 f. where Kane is taken to task for having misunderstood Āpastamba Dharmasūtra 2, 4, 8, 11".
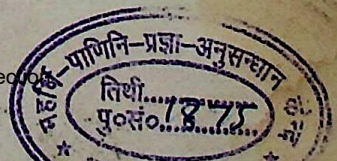
Indica, Bombay (reviewed by Dr. A. Esteller)—

"The author has done a very thorough and erudite job in delving into such a mine of dispersed documentation in order to piece together in a synthetic view the manifold data strewn in so many sources both ancient and modern. Its merit is that he has gathered together and sifted with critical acumen all the information which without him one would have to pick up painstakingly and painfully from an enormous variety of treatises and articles of all kinds and times. His chapters on the chronology and geographical distribution of the Sūtras deserve special mention, for it is here that one sees this relatively young scholar sensibly and sensitively examining the views of even giants in this field, like Oldenberg and Kane, and not hesitating to strike a divergent path led by weighty reasons. On the whole he comes off well from such a clash of intellectual arms".

THE HISTORY AND PRINCIPLES OF VEDIC INTERPRETATION

Veda Savitā, Ajmer (reviewed by Dr. Fateh Singh, M.A., D.Litt)—

"It is, indeed, a very informative and instructive book highlighting the problem of correctly interpreting the Vedas. With a brief introduction, the author at once grapples with the problem of Vedic Interpretation. After an illuminating discussion on the topic, he passes on to evaluate the work done by the ancient schools of Vedic interpreters. Devoting about half the book to the aforesaid topics, he makes an ambitious attempt to discuss the salient features of the huge work done by ancient and mediaeval commentators of the Vedas on the one hand, and of the modern interpreters on the other. After admirably, though briefly evaluating the old and the new trends in the Vedic exegesis, he makes a comparative assessment of the bhāṣyakāras, old and new, before he creditably adds a chapter on what he calls the principles of Vedic interpretation".

Kālidāsa : His Art and Culture

The Statesman, New Delhi—

"The controversial point regarding the date of Kālidāsa vis-a-vis Aśvaghoṣa is treated in detail to emphasise the author's firm conviction that it was Aśvaghoṣa who came after Kālidāsa. He has quoted passages to show that Aśvaghoṣa has 'borrowed not only ideas and themes but also verbatim passages and phrases from Kālidāsa's works'. The book gives a gist of the epics, dramas and lyrics of Kālidāsa and provides a perceptive assessment of Kālidāsa's place in the galaxy of Sanskrit poets".

त्रिभुवन प्रसाद जहा

सारविदेट
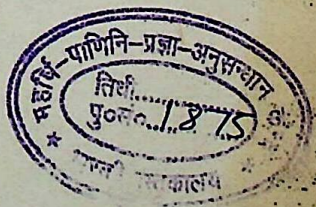
विनय

H. S. Gupta
23397/810 wright
Town Beh
Petrol Pump

9-3-90
[illegible]